KASHI PAR KENDRIT HINDI UPANYASON MEIN SAMAJ AUR SANSKRITI

A Thesis submitted during 2014 to the University of Hyderabad in partial fulfillment of the award of a **Ph.D. degree** in Department of Hindi, School of Humanities.

By

DHANANJAY KUMAR CHAUBEY
09HHPH03

2014

Department of Hindi
School of Humanities

University of Hyderabad
Central University P.O.
Prof. C. R. Rao Road
Gachibowli
Hyderabad – 500 046
Telangana
INDIA

C E R T I F I C A T E

This is to certify that the thesis entitled "**KASHI PAR KENDRIT HINDI UPANYASON MEIN SAMAJ AUR SANSKRITI" (**"काशी पर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में समाज और संस्कृति"**)** submitted by **Dhananjay Kumar Chaubey** bearing Reg. No. 09HHPH03 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in Hindi is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance which is a plagiarism free thesis.

As far as I know the thesis has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor

Head of the Department

Dean of the School

D E C L A R A T I O N

I, **DHANANJAY KUMAR CHAUBEY**, hereby declare that this thesis entitled "**KASHI PAR KENDRIT HINDI UPANYASON MEIN SAMAJ AUR SANSKRITI" (**"काशी पर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में समाज और संस्कृति"**)** submitted by me under the guidance and supervision of **Prof. Alok Pandey** is a bonafide research work which is also free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in part or full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in Shodhganga/INFLIBNET.

Name : **DHANANJAY KUMAR CHAUBEY**

(Signature of the Student)
Regd. No. 09HHPH03

Date :

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना **i-vi**

प्रथम अध्याय : काशी : ऐतिहासिक परिदृश्य **1-32**

द्वितीय अध्याय : काशी पर केंद्रित हिंदी उपन्यास : परिचयात्मक विवरण **33-52**

1. काशी पर पूर्णतः केंद्रित हिंदी उपन्यास
2. काशी पर अंशतः केंद्रित हिंदी उपन्यास

तृतीय अध्याय : बीसवीं सदी का गतिशील भारत और काशी का समाज **53-146**

चतुर्थ अध्याय : काशी का मिथकीय स्वरुप, संस्कृति एवं आध्यात्मिकता **147-212**

पंचम् अध्याय : काशी की विशिष्ट भाषाई संस्कृति और हिंदी उपन्यासों में इसकी अभिव्यक्ति **213-241**

उपसंहार **242-251**

संदर्भ ग्रंथ-सूची **252-258**

प्रस्तावना

किसी भी देश या स्थान की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति को जानने का सबसे सशक्त माध्यम तत्कालीन समय में रचा गया साहित्य है। काशी शहर को केन्द्र में रखकर लिखे गये उपन्यासों में समाज और संस्कृति के साथ-साथ विभिन्न पहलुओं की पड़ताल आवश्यक है। अतः समाज और संस्कृति को व्यापक रूप से समझना होगा। चूँकि उपन्यासकार सामाजिक प्राणी है और वह समाज के सारे सम्बन्धों को अपने उपन्यास में वर्णित करता है, इसलिए उपन्यास का समाज से तथा समाज का उपन्यास से अभिन्न संबंध है। लेखक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से एक निश्चित जीवन और उसके विभिन्न पहलुओं को चित्रित करने का प्रयास करता है। डॉ. विश्वम्भरदयाल गुप्त ने उपन्यास और समाज के संबंध के बारे में बताया है कि 'उपन्यास में वर्णित समाज भी मानव समाज की तरह होता है। मानव समाज की तरह उनके पात्र भी उस समाज में अंतर्क्रियाएँ करते हैं, संबंधों की स्थापना करते हैं तथा विभिन्न परिस्थितियों का सामना एवं उनसे संघर्ष करते हैं। विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं के साथ हम अपना रागात्मक तादात्म्य कर अनुभव करते हैं कि उपन्यास में वर्णित समाज हमारा अपना समाज है, उसके पात्र कोई दूसरे नहीं हम ही हैं और उसमें वर्णित परिस्थितियाँ वहीं है जिनसे हम घिरे हुए हैं या जिसमें हम रह रहे हैं।'

संस्कृति हमारे साहित्य का मुख्य अंग रही है। संस्कृति भाषा, विचारों, विश्वासों, प्रथाओं, निषेधों, आचार संहिताओं, कलाकृतियों, रीति-रिवाजों, अनुष्ठानों और प्रतीकों से निर्मित होती है। प्रत्येक मानव समाज अपनी एक विशेष संस्कृति या सामाजिक-सांस्कृतिक प्रणाली को साथ रखता है। जिसके जरिए उस समाज के विविध पहलुओं के सूक्ष्म तहों को समझा जा सकता है। काशी के सन्दर्भ में इन्हीं सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों के बनते-बिगड़ते संबंधों को मेरे शोध विषय 'काशी पर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में समाज और संस्कृति' के अंतर्गत समझने का प्रयास किया गया है।

हिन्दी उपन्यास में काशी नगर का अपना विशिष्ट स्थान है। इस नगर को आधार बनाकर अनेक उपन्यासों की रचना हुई है। शोध को सुगठित और सुचिंतित रूप देने के लिए मैंने अपने शोध विषय के अंतर्गत नौ उपन्यासों का चयन किया है। अध्ययन की दृष्टि से इस शोध प्रबंध को प्रस्तावना और उपसंहार के अतिरिक्त पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय 'काशी : ऐतिहासिक परिदृश्य' के अंतर्गत ऐतिहासिक और साहित्यिक साक्ष्यों को आधार बनाकर 'काशी' की उत्पत्ति और उसकी विकास यात्रा को दिखाने का प्रयास किया गया है। काशी को भारतीय संस्कृति के एक प्रमुख नगर के रूप में देखा जाता रहा है। इसे काशी, बनारस, वाराणसी, आनंदकानन, अविमुक्त, महाश्मशान इत्यादि नामों से भी जाना जाता है। इसके अलावा इस शहर का एक पहलू यह भी है कि इसे अध्यात्म की नगरी, हिन्दू धर्म का लघु ब्रह्माण्ड, धार्मिक नगर, मोक्ष को देने वाली नगरी के रूप में भी मानते हैं। काशी के इतिहास को जानने के लिए वैदिक साहित्य, इतिहास, मिथकों के पास से गुजरना होगा। इस अध्याय में काशी की भौगोलिक तथा व्यापारिक स्थिति पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही वैदिक साहित्य में काशी, जैन साहित्य में काशी, बौद्ध कालीन समय में काशी, कुषाण काल, गुप्त काल, गाहड़वाल युग में काशी के साथ ही मुस्लिम शासकों और अंग्रेजों के समय की काशी की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति को भी देखने का प्रयास किया गया है। भारतीय संस्कृति के प्रतीक के रूप में काशी का अपना विशिष्ट स्थान है। इस स्थान को निर्मित करने वाले कारकों की पहचान करना बेहद जरूरी है। इस अध्याय के अंतर्गत काशी के बारे में प्रचलित विभिन्न संबोधनों के पीछे कौन से कारण रहे हैं, उसकी पड़ताल भी की गयी है।

द्वितीय अध्याय 'काशी पर केंद्रित हिंदी उपन्यास : परिचयात्मक विवरण' को दो बिन्दुओं में विभाजित किया गया है। पहला 'काशी पर पूर्णतः केंद्रित हिन्दी उपन्यास' और

दूसरा 'काशी पर अंशतः केंद्रित हिन्दी उपन्यास' है। 'काशी पर पूर्णतः हिन्दी उपन्यास' के अंतर्गत काशी शहर को केन्द्र में रखकर उपन्यासों की रचना हुई है जिसमें पूरा का पूरा शहर जीवंत रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। उसकी संस्कृति, रहन-सहन, बोली-बानी, पूजा-पाठ इत्यादि का चित्रण उपन्यासों में मिलता है। या यों कहें कि पूरा काशी शहर ही उपन्यास के नायक के रूप में दिखाई देता है। चाहे वह नायक स्थल विशेष के रूप में 'अस्सी मुहल्ला' हो, 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' हो या वेश्याओं की रहगुजर 'दालमण्डी' हो। इन उपन्यासों के माध्यम से काशी के सम्पूर्ण चरित्र को समझा जा सकता है। काशी पर पूर्णतः केंद्रित उपन्यासों में जैनेन्द्र किशोर का 'गुलेनार', शिवप्रसाद मिश्र 'रूद्र' काशिकेय कृत 'बहती गंगा', शिवप्रसाद सिंह के तीन उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है', 'नीला चाँद' तथा 'वैश्वानर', अब्दुल बिस्मिल्लाह कृत 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया', काशीनाथ सिंह के दो उपन्यास 'अपना मोर्चा' और 'काशी का अस्सी', अजय मिश्र का 'पक्का महाल' प्रमुख हैं। 'काशी पर अंशतः केंद्रित हिंदी उपन्यास' के अंतर्गत उन उपन्यासों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया गया है जिसमें काशी का चित्रण सम्पूर्णता में नहीं है बल्कि वह उपन्यास की कथा संरचना में कहीं न कहीं अवश्य मौजूद है। इन उपन्यासों में जयशंकर प्रसाद का उपन्यास 'कंकाल', प्रेमचंद का उपन्यास 'रंगभूमि', अमृतलाल नागर का उपन्यास 'मानस का हंस', रांगेय राघव का उपन्यास 'लोई का ताना', 'रत्ना की बात' और 'भारती का सपूत', काशीनाथ सिंह का उपन्यास 'रेहन पर रग्घू', युवा कथाकार सैयद जैगम इमाम का उपन्यास 'मैं मुहब्बत' और 'दोज़ख़' प्रमुख हैं। इस अध्याय के अंतर्गत इन उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय 'बींसवी सदी का गतिशील भारत और काशी का समाज' के अंतर्गत काशी केंद्रित उपन्यासों में दर्शाये गये काशी के समाज की पड़ताल करते हुए उसे बीसवीं सदी के गतिशील भारत से जोड़कर देखने का प्रयास किया गया है। इसके तहत कुछ प्रमुख बिंदु उभरकर सामने आते हैं। मसलन काशी के रेशमी वस्त्र व्यापार की स्थिति, युवा

आक्रोश और भाषा आंदोलन की समस्या, कानून व्यवस्था की बदहाल स्थिति, शिक्षा व्यवस्था में आई गिरावट के साथ ही शिक्षकों की आपसी खींचतान और उनके बीच चलने वाली जोड़-तोड़ की राजनीति, भारतीय लोकतंत्र में भ्रष्ट मूल्यों की बढ़ती अधिकता, काशी में वेश्याओं की स्थिति, विदेशियों के आगमन से काशी और वहाँ के जीवन में हो रहे बदलाव का चित्रण, विधवा आश्रमों और वृद्धा आश्रमों में रहने वाले लोगों के जीवन का यथार्थ वर्णन तथा अश्पृश्य जातियों की समस्याएं एवं उनके विद्रोह को काशी केंद्रित उपन्यासों में प्रमुखता से अभिव्यक्त किया गया है। कमोबेश ये समस्याएं बीसवीं सदी के काशी के साथ-साथ सम्पूर्ण भारत में लगभग उसी रूप में आज भी दिखाई देती हैं, जिनका अध्ययन एवं विश्लेषण इस अध्याय के अंतर्गत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय 'काशी का मिथकीय स्वरुप, संस्कृति एवं आध्यात्मिकता' के अंतर्गत काशी के बारे में प्रचलित मिथकों की चर्चा की गयी है। काशी के सन्दर्भ में अनेक मिथक प्रचलित हैं जिसका वर्णन 'गली आगे मुड़ती है', 'नीला' चाँद', 'वैश्वानर' उपन्यासों में किया गया है। इसके अलावा काशी की संस्कृतियों के समन्वयात्मक रूप का चित्र वहाँ के मेले की संस्कृति में देखा जा सकता है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' और 'पक्का महाल' उपन्यास में काशी में लगने वाले मेलों और वहाँ के पर्व-त्योहारों का विस्तृत वर्णन देखा जा सकता है। काशी में धर्म का अपना विशेष महत्व है। अतः काशी में धर्म की महत्ता के अनेक चित्र उपन्यासों में खींचे गये हैं। इतना ही नहीं धर्म के नाम पर हो रहे अनैतिक कार्यों, दो समुदायों के बीच आपसी वैमनस्य, समाज में प्रचलित अंधविश्वास के साथ ही धर्म के क्षय की कथा भी इन उपन्यासों के केंद्र में है। इस अध्याय के तहत इन्हीं प्रमुख बिन्दुओं पर विचार किया गया है।

पंचम् अध्याय 'काशी की विशिष्ट भाषाई संस्कृति और हिंदी उपन्यासों में इसकी अभिव्यक्ति' में काशी केंद्रित उपन्यासों की भाषा के माध्यम से काशी की विशिष्ट भाषाई समाज का मूल्यांकन किया गया है। प्रत्येक स्थान की भाषा का अपना एक विशिष्ट

स्वभाव होता है। काशी की भाषा का भी अपना विशिष्ट स्वभाव और लय है जिससे वह अन्य भाषाओं से अलग है। इन उपन्यासों में वर्णित समाज और पात्रों की भाषा भोजपुरी है। यहाँ भोजपुरी के साथ ही अवधी के शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है, इसीलिए शिवप्रसाद सिंह काशी की ऐसी भाषा को 'काशिका' कहते हैं। उपन्यासों में वर्णित भाषा में भोजपुरी के शब्दों का प्रयोग अधिक दिखाई देता है। भाषा की व्यंग्यात्मकता काशी के लोगों के जीवन का हिस्सा है। बात को कम शब्दों और चुटीली भाषा में कहने के लिए मुहावरों का महत्व विशिष्ट हो जाता है। इसे 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया', 'काशी का अस्सी', 'अपना मोर्चा', पक्का महाल', 'गली आगे मुड़ती है' इत्यादि उपन्यासों में देखा जा सकता है। इसके साथ ही उपन्यासों में भोजपुरी लोकगीत, बिरहा, लावनी इत्यादि का प्रयोग बहुतायत मात्रा में हुआ है। इस अध्याय के अंतर्गत उपन्यासों की भाषा के विविध पक्षों को विश्लेषित किया गया है।

इसके अतिरिक्त मेरे शोध कार्य से संबंधित समस्त अध्यायों के सार रूप को उपसंहार के अंतर्गत देखा जा सकता है। शोध विषय के अध्ययन हेतु मैंने समाजशास्त्रीय शोध प्रविधि का प्रयोग किया है।

मेरा शोध कार्य मेरे शोध-निर्देशक प्रो. आलोक पाण्डेय के उचित परामर्श और मार्गदर्शन के बिना पूरा नहीं हो पाता, इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। इसके साथ ही विभागाध्यक्ष, विभाग के सभी गुरुजनों एवं समस्त कर्मचारियों के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने शोध कार्य के दौरान पग-पग पर अपना सहयोग प्रदान किया।

मैं अपने माता-पिता के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ, जिनके निरंतर सहयोग और आशीर्वाद के कारण ही यह कार्य सम्पन्न हो सका। मैं अपने भाई-भाभी के प्रति भी आभारी हूँ जिनका निरंतर प्रोत्साहन मुझे मिलता रहा।

अनेक सहयात्री मित्रों के समय-समय पर विशिष्ट एवं अमूल्य सहयोग के कारण की यह कार्य सम्पन्न हो सका। विनय, कल्पना, धर्मेन्द्र, राजबहादुर, प्रमोद, कमलेश के सक्रिय सहयोग और उत्साहवर्धन के लिए मैं इन सभी लोगों के प्रति आभारी हूँ।

धनन्जय कुमार चौबे

प्रथम अध्याय

काशी : ऐतिहासिक परिदृश्य

काशी नगर की अपनी एक विशेष पहचान है। प्राचीन काल से ही काशी को सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक नगरी के रूप में जाना जाता रहा है। इसके साथ ही काशी को अनेक नामों से भी जाना जाता है। भौगोलिक और व्यापारिक दृष्टि से भी काशी का अपना विशिष्ट स्थान है। काशी के संबंध में प्रचलित इन संबोधनों के साथ ही उसे विशिष्ट नगर के रूप में निर्मित करने के कारकों की पड़ताल भी आवश्यक है। आज हमें यह जानने की जरुरत है कि काशी के संबंध में प्रचलित इन बातों का आधार क्या है ? काशी के इतिहास को जानने के लिए वैदिक साहित्य, इतिहास और मिथकों से गुजरना होगा, तभी हम उसका सही मूल्यांकन कर सकते हैं।

"काशी (वाराणसी) एक सम्मिश्र भारतीय संस्कृति का एक प्रतिनिधि ऐतिहासिक नगर माना जा सकता है। आज के भारतीय जनमानस की दृष्टि में वाराणसी देश की सर्वाधिक पुनीत नगरी है। पर वास्तविकता यह है कि ऐतिहासिक काल में काशी जनपद और उसकी राजधानी वाराणसी का विशेष महत्व उसकी व्यापारिक और भौगोलिक स्थिति के कारण रहा है।"[1] काशी की इस स्थिति पर विस्तार से 'काशी का इतिहास' नामक पुस्तक में विचार किया गया है। डॉ. मोतीचंद्र ने 'काशी का इतिहास' में लिखा है कि "जब सरस्वती के किनारे से आर्यों का काफिला विदेघ माधव के नेतृत्व में आधुनिक उत्तरप्रदेश के घने जंगलों को चीरता हुआ सदानीरा अथवा गंडकी के किनारे जा पहुँचा और कोसल जनपद की नींव पड़ी, उसी समय संभवतः काश्यों ने बनारस में अपना अड्डा जमाया। अगर ध्यान से देखा जाय तो उनके यहाँ भूस्थापन का कारण वाराणसी की भौगोलिक स्थिति है। बनारस शहर अर्ध-चंद्राकार में गंगा के बाये किनारे पर अवस्थित है (अ. 25° 18 उत्तर और देशांतर 83° 1° पू.)। नगर की रचना एक ऊँचे कंकरीले करारे पर, जो गंगा के उत्तरी

किनारे पर तीन मील फैला है, होने से नगर को बाढ़ से कोई खतरा नहीं रहता। आधुनिक राजघाट का चौरस मैदान जहाँ नदी-नालों के कटाव नहीं मिलते, शहर बसाने के लिए उपयुक्त था। एक तरफ बरना और दूसरी तरफ गंगा नगर की प्राकृतिक खाई का काम देती हैं। उत्तर-पश्चिम की ओर काशी के मार्ग में ऐसा कोई नैसर्गिक साधन जैसे पहाड़ियाँ, झील, दुर्लघ्य नदी इत्यादि नहीं है जिनसे नगर के बचाव में सहायता हो पर यह तो निश्चित है कि काशी के आस-पास के घनघोर वन, जिनका उल्लेख जातकों में आया है, काशी के बचाव में काफी सहायक रहे होंगे। आधुनिक मिर्जापुर जिले की विंध्याचल की पहाड़ियाँ भी बनारस के बचाव में महत्वपूर्ण थीं। इतिहास में ऐसे अनेक प्रकरण हैं जिनसे पता चलता है कि शत्रुओं के धावों से त्रस्त होकर बनारस के शासक विंध्याचल की पहाड़ियों में जा छिपते थे और मौका मिलते ही पुनः शत्रुओं को मार भगाते थे।"[2]

काशी की इस प्रकार की भौगोलिक स्थिति को देखते हुए इतना तो स्पष्ट है कि यह सुरक्षित और व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण शहर था। व्यापार के लिए गंगा और यमुना का सहारा लिया जाता था। "पश्चिम की ओर गंगा और यमुना के रास्ते काशी के व्यापारी मथुरा पहुँचते थे तथा पूर्व की ओर चम्पा पहुँचते हुए ताम्रलिपि के बंदरगाह तक। वाराणसी उस महाजनपथ पर अवस्थित थी जो तक्षशिला से राजगृह और बाद में पाटलिपुत्र को जाता था। यहाँ से अन्य सड़कें देश के भिन्न-भिन्न भागों को जाती थीं, जिनमें होकर काशिक चन्दन और वस्त्र के द्वारा काशी की व्यापारिक महत्ता देश के चारों ओर फैलती थी।"[3] बौद्ध ग्रंथों से हमें ज्ञात होता है कि वाराणसी के पश्चिमोत्तर भू-भाग में घने जंगल थे। यह पश्चिमोत्तर भाग आज के समय का सारनाथ क्षेत्र ही है। इस प्रकार वाराणसी चारों ओर से सुरक्षित थी। इस कारण से भी वाराणसी का विशेष महत्व था और वह व्यापार की दृष्टि से भी सुरक्षित थी।

काशी के धार्मिक पहलू पर भी विचार करना आवश्यक है। आज भी काशी की प्रसिद्धि का एक बड़ा कारण उसका धार्मिक पक्ष ही है। काशी को हिन्दू जनमानस के लिए मोक्ष देने वाली नगरी कहा गया है। काशी में स्थित सैकड़ों धार्मिक स्थल और गंगा के किनारे बने अनेक घाटों को देखने से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि इसका धार्मिक स्वरूप क्या रहा होगा। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि आज भी काशी के धार्मिक स्वरूप की महत्ता वैसी ही है जैसी प्राचीन समय में रही होगी। "वाराणसी हिंदुओं की प्राचीनतम तीर्थस्थली रही है जो कि भारत की सांस्कृतिक राजधानी कही जाती है। गंगा के बाएं तट पर बसी यह नगरी नगरीय सभ्यता में पश्चिम के नगरों की अपेक्षा अति प्राचीन है। यह सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भारत की एकता बनाये रखने में विशेष महत्व रखती है और आज भी इसकी प्रसिद्धि का एकमात्र कारण यही है। साथ ही इसकी उन्नति तथा विकास का मुख्य आधार भी धार्मिक तथा आध्यात्मिक चिंतन रहा है।"[4] इस धार्मिक तथा आध्यात्मिक चिंतन के बीच वाराणसी के नामकरण पर पर्याप्त चर्चा की गयी है। उस पर विचार किया जाना आवश्यक है।

वाराणसी या काशी के नामकरण को लेकर विभिन्न मत हैं। वेदों, पुराणों और संस्कृत साहित्य में काशी के अनेकों नाम मिलते हैं। यद्यपि काशी का महत्व आदिकाल से जनसाधारण के बीच महत्वपूर्ण रहा है, किन्तु ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद में काशी या वाराणसी का उल्लेख नहीं मिलता है। इससे ऐसा लगता है कि उन संहिताओं के रचे जाने के समय तक वाराणसी या काशी का धार्मिक महत्व नहीं था। यह "सबसे पहले अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में आया है, और इसके बाद शतपथ में। लेकिन यह संभव है कि नगर का नाम जनपद में पुराना हो। अथर्ववेद (4/7/1) में वरणावती नदी का नाम आया है और शायद इससे आधुनिक वरुणा का ही तात्पर्य हो।"[5] अथर्ववेद में एक सूत्र और मिलता है जिससे हमें आसपास के प्रदेशों के बारे में जानकारी मिलती है।

"गान्धारिभ्यो, मुजवद्भ्य: काशीभ्यो मग्धेभ्य:।

प्रेव्यंजनमिवशेवधिं तकमानं परिद्दमसि।। (अथर्ववेद, 5/21/14)

इसमें यह कहा गया है कि गांधार वासियों को, मूजवान् प्रदेश के वासियों को, काशी के लोगों को तथा मगध के रहने वालो को हम तकमा सेवक के रूप में देते हैं।"[6] इन मंत्रों से स्पष्ट होता है कि काशी के उत्तर में मूजवान, उत्तर पश्चिम में बाह्लीक प्रदेश, पश्चिम में गांधार और पूर्व में मगध राज्य था।"[7] अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में 'काशि' शब्द का उल्लेख मिलता है। ऐसा माना जाता है कि इसी 'काशि' से ही 'काशी' का निर्माण हुआ होगा। "गोपथ ब्राह्मण में 'काशि-कोशला:' समास आया है। उपनिषदों में काशी के अजातशत्रु राजा का उल्लेख मिलता है। श्रोतसूत्रों के अनुसार, काशी के लोग विदेह तथा कोशल के सहवर्ती थे और इन तीनों के पुरोहित एक ही थे।...पाणिनि के गणपाठ में वाराणसी को काशी जनपद की राजधानी बताया गया है और काशि देश की वस्तुओं को 'काशीय' कहा है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जानकारी है कि काशी के एक राजा को उसकी पत्नी ने विष देकर मार डाला था। पतंजलि ने महाभाष्य में बताया है कि व्यापारी लोग वाराणसी को 'जित्वरी' (विजय दिलानेवाली, यानी मनोकामना पूर्ण करनेवाली) कहते थे। महाभारत में काशी के कई राजाओं (काशिराज) के उल्लेख हैं। महाभारत (वनपर्व) में ही पहली बार वाराणसी का एक तीर्थ के रूप में नामोल्लेख हुआ है। रामायण में काशी का उल्लेख अपेक्षाकृत कम है। उत्तरकाण्ड में आया है कि प्रतिष्ठान के राजा पुरुरवा और पुरु 'काशिराज' के नाम से भी जाने जाते हैं।"[8]

पुराण साहित्य में काशी का धार्मिक महत्व और अधिक बढ़ता गया। स्कन्दपुराण में काशी के सबसे विस्तृत क्षेत्र का वर्णन मिलता है। स्कन्दपुराण के 'काशी खण्ड' में वरुणा और अस्सी नदियों का नामोल्लेख आया है। "वाराणसीति विख्यातां तन्मानं निगदामि व:, दक्षिणोत्तरयोर्नद्योर्वरणासिश्च पूर्वत:। जान्हवी पश्चिमेअत्रापि पाशपाणिर्गणेश्वर:।। (प. प.

वि. मि. 17.5) लिखा है अर्थात दक्षिण-उत्तर में वरुणा और अस्सी नदी हैं, पूर्व में जान्ह्वी (गंगा) और पश्चिम में पाशपाणिगणेश।"[9] प्राय: यह देखा गया है कि पुराणों में असि नदी का नाम वाराणसी के नामकरण के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। "मत्स्य पुराण में शिव वाराणसी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि..

वाराणस्यां नदी पुण्या सिद्ध गंधर्व सेविता।

प्रविष्टा त्रिपथा गंगा तस्मिन् क्षेत्रे मम प्रिये।।

अर्थात्- हे प्रिये, सिद्ध गंधर्वों से सेवित वाराणसी में जहाँ पुण्य नदी त्रिपथगा गंगा आती है, वह क्षेत्र मुझे प्रिय है।"[10]

वस्तुतः ऐसा माना जा सकता है कि वाराणसी नगर का नामकरण वरुणा और अस्सी नदियों के संगम पर बसने के कारण पड़ा। पुराणों में काशी के नामकरण के संदर्भ में अनेक कल्पनाएं की गयी हैं। वहाँ इसे 'काशी', 'वाराणसी', 'अविमुक्त', 'आनन्दकानन' 'महाश्मशान' जैसे अनेक नाम दिये गये हैं और इन नामों की व्याख्याएं भी प्रस्तुत की गयी है। पुराणों के अनुसार "काशी- 'काश' अर्थात चमक, यह मोक्ष मार्ग को प्रकाशित करती है और इसके देवता संहार के देवता शिव हैं।

वाराणसी- 'वरुणा' और 'असि' दो नदियों के बीच स्थित होने के कारण यह 'वाराणसी' कहलायी। इन्द्रियजन्य पापों को नष्ट करने के कारण भी इसका यह नाम प्रचलित है।

अविमुक्त- शिव और शक्ति ने इसे कभी नहीं छोड़ा अर्थात व्यक्त किया अर्थात अविमुक्त। दूसरे यह पापों से मुक्ति दिलाने वाली भी है।

आनन्दकानन- कहते हैं भगवन शिव को यह नगरी आनन्द देती है।

महाश्मशान- 'काश्यां मरणाम् मुक्ति:'। काशी मोक्ष दायिनी है। आज भी जाने कितने शव मणिकर्णिका घाट पर जलाए जाते हैं। आमतौर पर श्मशान अपवित्र होता है लेकिन शुरू से ही काशी परमपवित्र नगरी मानी जाती है। ग्रंथों में वर्णित है कि शिव स्वयं कहते हैं-

'अविमुक्त एक विख्यात श्मशान है। मैं काल बनकर और यहाँ रहकर विश्व का नाश करूँगा।"[11]

इस प्रकार विभिन्न पुराण ग्रन्थों जैसे पद्मपुराण, लिंगपुराण, मत्स्यपुराण और विशेष रूप से स्कंदपुराण के 'काशी खण्ड' में वाराणसी के धार्मिक महत्व और महिमा का वर्णन किया गया है।

जैन साहित्य में काशी के सन्दर्भ में अनेक विवरण प्राप्त होते हैं। प्रारम्भ से ही काशी जैन सम्प्रदाय का एक प्रमुख तीर्थ स्थल रहा है। वर्तमान समय में भी काशी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में जाना जाता है। काशी में ही जैन सम्प्रदाय के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। इनका समय महावीर स्वामी के लगभग 250 वर्ष पूर्व अर्थात 777 ई. पू. में माना जाता है। पार्श्वनाथ के साथ ही तीन अन्य तीर्थंकरों का जन्म भी काशी में ही माना जाता है। "प्राकृत ग्रन्थ 'तिलोय पण्णति' प्रथम ग्रन्थ है, जो मुख्य रूप से चार (सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, श्रेयांसनाथ और पार्श्व) के जन्मभूमि के रूप में काशी देश और वाराणसी नगरी का वर्णन करता है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ईसा की चतुर्थ शती माना गया है। आचार्य जिनसेन (सातवीं शती) के आदिपुराण को पूर्ण करने का श्रेय उनके प्रमुख शिष्य गुणभद्राचार्य को प्राप्त है। इसमें जहाँ ऋषभदेव के पुत्र और प्रथम चक्रवर्ती भरत के सेनापति जयकुमार के विवाह प्रसंग से काशीराज अकम्पज की पुत्री सुलोचना के स्वयंवर का वर्णन है, वहीं उक्त चारों तीर्थंकरों की जन्मभूमि आदि का बड़ा रोचक और सांगोपांग वर्णन है। आदिपुराण के जयकुमार-सुलोचना कथा पर आधृत नाटक 'विक्रांतकौरवम्' की रचना बारहवीं शती के नाटककार हस्तिमल्ल ने की है। इसमें गाहड़वाल और कलचुरियों की वाराणसी नगरी का विस्तार से वर्णन है। पार्श्वपुराण, उत्तरकालीन कथा साहित्य आदि में वाराणसी का जो वर्णन है उसका समावेश यहाँ करना संभव नहीं है। इसके बाद भाषा (हिन्दी) साहित्य के आदियुग में बनारसीदास

(17 वी. शती) ने अपनी जन्मभूमि काशी अर्हता का उद्घोष किया था। यही स्थिति प्रसिद्ध पूजाकार वृन्दावनदास (18 वी. शती) की है।"[12]

वाराणसी स्थित राजघाट की खुदाई से मिले पुरावशेष इस नगर को धर्म और संस्कृति का एक महत्वपूर्ण केंद्र सिद्ध करते हैं। सारनाथ को 'इसिपत्तन' नाम देकर जैन धर्मावलंबियों ने इसे एक तीर्थस्थल के रूप में स्वीकार किया। काशी में यक्षपूजा के प्रचलन की जानकारी भी हमें जैन साहित्य से ही ज्ञात होती है।

बौद्धकालीन समाज और साहित्य में काशी की राजनैतिक और सामाजिक स्थितियाँ बखूबी दिखाई देती हैं। जातकों और त्रिपिटिक में काशी के स्वरूप और महत्व पर अधिक प्रकाश डाला गया है। बुद्धपूर्व काल में 16 महाजनपदों में से काशी भी एक महाजनपद था। "पारंपरिक साहित्य के अनुसार छठी शती ई.पू. में सोलह बड़े राज्य (महाजनपद) थे। इनमें से प्रत्येक में कई कृषक बस्तियाँ शामिल थीं। ये राज्य थे गांधार, कंबोज, अस्सक, वत्स, अवंति, शुरसेन, चेदि, मल्ल, कुरु, पांचाल, मत्स्य, वज्जि, अंग, काशी, कोसल और मगध। आरम्भ में काशी उनमें से सबसे शक्तिशाली था और विदेह के राजतंत्र को भंग करने में उसने शायद महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। कई स्रोतों में उसकी राजधानी वाराणसी को महत्वपूर्ण नगर बताया गया है। दशरथ जातक के अनुसार राम, जिसे सीता का भाई और पति दोनों बताया गया है, अयोध्या नहीं बल्कि काशी का राजा था।"[13] महाजनपद काल में बनारस की ख्याति शिक्षा के एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में थी। तक्षशिला के पश्चात् शिक्षा के बनारस शिक्षा का दूसरा सबसे बड़ा केन्द्र था। "लगता है बनारस को शिक्षा के केन्द्र बनाने का श्रेय तक्षशिला के उन स्नातकों को था जिन्होंने बनारस लौटकर शिक्षण का कार्य प्रारम्भ किया (जातक 1/463; 2/100)। खुद्दकपाठ अट्ठकथा (पृ. 198) में तो यहाँ तक कहा गया है कि बनारस की कुछ शिक्षा संस्थाएं तो तक्षशिला की शिक्षण संस्थाओं से भी पुरानी थी।"[14]

उस समय काशी में शिक्षा का स्वरूप कुछ इस प्रकार था कि शिक्षा काल में विद्यार्थी आचार्यों के परामर्श के अनुरूप ही जीवन व्यतीत करते थे। शिक्षा केन्द्रों के अतिरिक्त ऋषि-मुनियों के आश्रम जाकर भी शिक्षा प्राप्त की जाती थी।

महाजनपद काल में बनारस की राज्य व्यवस्था सुदृढ़ थी। "जातकों से पता चलता है कि बनारस की शासन व्यवस्था में सबके साथ न्याय का बड़ा ध्यान रखा जाता था। राजा के मंत्री ईमानदार होते थे। अदालतों में झूठे मुकदमे नहीं आते थे और सच्चे मुकदमे भी इतने कम होते थे कि कभी-कभी न्याय मंत्री को यूँ ही बेकार बैठे रहना पड़ता था। बनारस के राजा का अपने दोषों को जानने की ओर बराबर ध्यान बना रहता था।"[15] "लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि बनारस के सभी लोग देवतुल्य थे। वहाँ भी चारित्रिक कमजोरियाँ थी और नगर के आस-पास चोर डाकुओं के अड्डे तक थे, जो यात्रियों को बराबर सताया करते थे। (जातक. 2/87-88)।"[16]

प्राचीन समय से ही बनारस में अनेक त्यौहार बड़ी धूम-धाम से मनाये जाते थे। उस समय की दिवाली, क्षत्रमंगल दिवस, हस्तिमंगल, मदिरोत्सव, जलोत्सव जैसे अनेक उत्सव जनसमुदाय के बीच प्रचलित थे।

बौद्धकालीन समाज में काशी की व्यापारिक स्थिति काफी समृद्ध थी। "जातकों और बौद्ध साहित्य में बनारस की ख्याति अधिकतर उसके व्यापार के कारण थी। काशिक वस्त्र के उल्लेखों से तो सारा बौद्ध साहित्य भरा पड़ा है। काशी के बने वस्त्रों को काशीकुत्तम (जा. 6/47;6/151; 1/335) और कहीं-कहीं काशीय भी कहते थे (जा. 6/500)। बनारस का कपड़ा इतना प्रसिद्ध था कि महापरिनिब्बाण सुत्त (5/26) का टीकाकार विहित, कप्पास (कुंदी किया हुआ कपड़ा) पर टीका करते हुए कहता है कि बुद्ध का मृत शरीर बनारस के बने कपड़े में लपेटा गया था और वह इतना महीन और गफ़ बुना गया था कि तेल तक नहीं सोख सकता था।"[17] काशी में बने रेशमी और सूती वस्त्रों की भी अपनी विशेष पहचान थी। "काशी के आर्थिक महत्व का आधार यह था कि बुद्ध के काल में वह वस्त्र-निर्माण के

प्रमुख केंद्र के रूप में उभरा था। कहते हैं, बौद्ध भिक्षुओं के काषाय वस्त्रों का निर्माण यहीं होता था।"[18]

बनारस में वस्त्र व्यवसाय के अतिरिक्त चंदन का भी व्यापार होता था। जातकों में काशिक चंदन और काशी विलेपन का उल्लेख मिलता है। साथ ही व्यवसाय के रूप में बढ़ईगिरी का कार्य, हाथी दाँत का व्यापार, घोड़ों का व्यापार, शिकार का कार्य भी किया जाता था। "बनारस के व्यापारी समुद्री व्यापार भी करते थे। एक जातक में इस बात का उल्लेख है कि दिसाकाक लेकर बनारस के व्यापारी समुद्र यात्रा को गये (जा. 3/384)।"[19]

धार्मिक दृष्टि से बौद्धकालीन समय में काशी का अपना विशेष स्थान रहा है। चार प्रमुख तीर्थों काशी, लुंबिनी, बोधगया तथा कुशीनारा में काशी की गणना की जाती थी। "उरुवेला (बोधगया) में ज्ञान प्राप्ति के बाद बुद्ध ने पंचवर्गीय भिक्षुओं को अपना प्रथम उपदेश वाराणसी के समीप के इसिपतन मिगदाय (ऋषिपत्तन, मृगदाव, सारनाथ) में दिया था। इसिपतन मिगदाय में प्रथम वर्षावास करके वाराणसी लौटने पर बुद्ध ने वहाँ के श्रेष्ठिपुत्र यश और उनके विमल, सुबाहु, गवांपति आदि 54 मित्रों को प्रव्रजित किया था। इस प्रकार, पंचवर्गीय भिक्षुओं सहित बुद्ध के साठ साथियों का पहला संघ वाराणसी में ही बना था। सारनाथ-वाराणसी में ही बौद्ध धर्म और संघ की स्थापना हुई। आगे के बौद्ध धर्म-प्रचार के कार्य की रुपरेखा भी वाराणसी में ही बनी थी।"[20]

बौद्धकाल में काशी की ख्याति शिक्षा, व्यापार एवं सुदृढ़ शासन व्यवस्था वाले एक महत्वपूर्ण तीर्थस्थल के रूप में थी। बुद्ध के समय के साथ ही साथ काशी धीरे-धीरे कोसल और मगध का हिस्सा बनती चली गई। बिंबिसार, प्रसेनजित, विड्डभ, अजातशत्रु, उदयभद्र या उदायिन (454-443 ई. पू.), मुंड (443-435 ई. पू.) और उसके बाद नागदासक (435-410 ई. पू.) मगध की गद्दी पर बैठे। इसके पश्चात् शिशुनाग मगध के साथ काशी, कोसल और अवंती के भी राजा बने। "पुराण हमें सूचित करते हैं कि शिशुनाग ने प्रद्योतवंश को नीचा दिखाया, अपने पुत्र को वाराणसी का राजा बनाया तथा गिरिवज्र अपनी राजधानी

बनायी। शिशुनाग ने वाराणसी में जो अपने पुत्र को बैठाया इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि उस समय तक अर्थात्, नागदासक के समय तक वाराणसी में किसी राजा की सत्ता थी जिसको शिशुनाग ने उखाड़ फेंका अथवा वाराणसी की ऐसी सामरिक और राजनीतिक महत्ता थी कि वहाँ अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए शिशुनाग ने स्वयं अपने पुत्र को भेजना आवश्यक समझा।"[21] इस बात से इतना तो स्पष्ट है कि काशी भले ही मगध और कोसल के अधीन हो गई हो लेकिन उसकी अपनी एक विशेष पहचान बनी हुई थी। शिशुनाग के 18 वर्षों के शासन के बाद कालाशोक गद्दी पर बैठा। उसने अपने दस पुत्रों के साथ मिलकर 22 वर्ष तक मगध की गद्दी पर राज किया। इसके पश्चात् नंद वंश ने शिशुनाग वंश को शासन की गद्दी से अपदस्थ करके मगध पर साम्राज्य स्थापित किया। नंद वंश के 22 वर्षों के शासन के बाद शासन की बागडोर मौर्य वंश के हाथों में आ गयी। चंद्रगुप्त मौर्य (321-297 ई. पू.) ने पूरे उत्तर भारत में अपना साम्राज्य स्थापित किया। मौर्य वंश के सबसे बड़े राजा के रूप में सम्राट अशोक का नाम उभरकर सामने आता है। सम्राट अशोक का समय करीब 272-232 ई. पू. है। सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया और उसका प्रचार-प्रसार भारत के साथ ही विदेशों में भी किया। "अशोक के समय बनारस की क्या अवस्था थी, इसका पता हमें थोड़ा-बहुत सारनाथ से मिले अवशेषों से मिलता है। बनारस के कुछ दूर बैरांट से भी कुछ मौर्यकालीन सिक्के, ठीकरे इत्यादि मिले हैं। राजघाट की खुदाई में भी मौर्य प्रस्तर मिला है, पर बनारस में पुरातत्व-सम्बन्धी खोज इतनी कम हुई है कि मौर्यकालीन बनारस की संस्कृति पर अभी तक बहुत कम प्रकाश पड़ सका है। जातकों में (जा. 4/15) एक जगह कहा गया है कि अशोक के काल में काशी की राजधानी मोलिनी थी। इसका अर्थ यह हुआ कि बनारस का एक नाम मोलिनी भी था। यह नाम कैसे पड़ा और अशोक कालीन बनारस कहाँ बसा था इन सब बातों का पता पुरातत्व की वैज्ञानिक खुदाइयों के बिना नहीं चल सकता।"[22]

सारनाथ से मिले अवशेषों से पता चलता है कि अशोक के समय इसिपत्तन मिगदाव अर्थात सारनाथ की बहुत उन्नति हुई। अशोक ने सारनाथ में स्मारक बनवाए जिनके नाम हैं- धर्मराजिका स्तूप, अशोक स्तंभ और धमेख स्तूप। "सारनाथ का अशोक निर्मित धर्मराजिका स्तूप नष्ट हो गया है, अब उसकी केवल बुनियाद ही बाकी बची है। सन् 1794 में काशिराज चेतसिंह के दीवान बाबू जगतसिंह ने धर्मराजिका स्तूप को उखाड़ डाला और उसके माल-मसाले से बनारस में जगतगंज नामक मोहल्ला बसाया। उस समय स्तूप के भीतर से पत्थर की गोल पेटी में रखी हुई हरे पत्थर की एक मंजूषा मिली थी, जिसमें बुद्ध की धातुएं थीं। धातुओं को गंगा में प्रवाहित कर दिया गया। धर्मराजिका स्तूप उस स्थान पर बना था जहाँ भगवान् बुद्ध व्यायाम के लिए कुछ देर टहलते थे। पाली साहित्य में इस स्थान को 'चंकम' (संस्कृत के 'चंक्रम') कहा गया है।...पुरातात्विक अन्वेषण से पता चलता है कि धर्मराजिका स्तूप का छह बार विस्तार और संस्कार हुआ था। अशोक निर्मित मूल स्तूप का व्यास 13.49 मीटर था और उसकी ईंटें मौर्यकाल की थीं। आगे कुषाण, हर्ष और पाल शासनकाल में भी इस स्तूप का संस्कार हुआ।"[23] इसके अलावा कुछ अवशेष और प्राप्त हुए हैं जिसमें बनारस की समृद्ध विरासत का पता चलता है। "धर्मराजिका स्तूप के समीप दो महत्वपूर्ण प्रस्तर मूर्तियाँ मिली हैं। एक है- लाल पत्थर से निर्मित बोधिसत्व की विशाल मूर्ति, जिसकी स्थापना मथुरा के त्रिपिटकाचार्य भिक्षुबल ने की थी।...दूसरी मूर्ति धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में भगवान् बुद्ध की है। यह बुद्ध मूर्ति सारनाथ से प्राप्त गुप्त काल की एक सर्वश्रेष्ठ कलाकृति है। सारनाथ में एक भग्न अशोक स्तंभ भी मिला है। अपने मूल रूप में यह लगभग 17.75 मीटर ऊँचा था।"[24]

इन प्राप्त अवशेषों और तथ्यों से इतना तो स्पष्ट है कि बनारस मौर्य काल में समृद्ध परम्परा से युक्त था। अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ को मारकर पुष्यमित्र शुंग ने मगध का राज्य अपने अधीन किया और शुंग वंश की नींव डाली। "सारनाथ से शुंगकाल का कोई उल्लेख नहीं मिलता है परंतु शुंग काल में यहाँ के स्तूप के चारों ओर पत्थर की जो सुन्दर

वेदिका या चारदिवारी बनाई गयी थी, उसके स्तंभ सारनाथ के संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।"[25] इसी समय यवनों ने भारत पर चढ़ाई की थी। मथुरा और साकेत को अपने अधीन करने के पश्चात् यवनों ने पाटलीपुत्र पर चढ़ाई की। इसके कुछ संकेत राजघाट की खुदाई से मिले अवशेषों से पता चलता है। यहाँ कुछ ऐसी मुद्राएं प्राप्त हुईं जिन पर यूनानी देवी (अथेना, अपोलो और हेराकल) की आकृतियाँ एवं कुछ मुद्राओं पर यवन शासकों के सिर अंकित हैं। वास्तव में ये मुद्राएं यवन शासकों के वाराणसी पर पड़ाव डालने के ही प्रमाण हैं।

ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों में काशी पर कौशांबी के शासकों के आधिपत्य के पश्चात् कुषाण और फिर पुनः कौशांबी के मघ राजाओं का शासन रहा। इस काल में काशी धर्म, व्यापार और कला की दृष्टि से समृद्ध होती गयी। इस दौरान काशी बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। राजघाट से उत्खनन में मिली मुद्राएं भी इस बात की पुष्टि करती हैं। एक लंबे समय तक बौद्ध धर्म के प्रभाव के पश्चात् आगे चलकर काशी में भारशिवों का उदय हुआ जो अपने कंधों पर शिवलिंग लेकर चलते थे। इन भारशिवों के उदय के फलस्वरूप काशी में शैव धर्म की उत्पत्ति के चिह्न दिखाई देने लगे। चूँकि काशी में बौद्ध धर्म का विशेष बोलबाला था किन्तु "बौद्ध धर्म की काशी में इस उन्नति को देखकर यह न समझ लेना चाहिए कि जन साधारण के धर्म, यज्ञ, पूजा इत्यादि काशी से लुप्त हो गए थे। भारत कला भवन में कुषाण काल अथवा उसके पहले की बलराम अथवा किसी नाग की मूर्ति है जो राजघाट से मिली है। राजघाट से मिले एक स्तम्भ शीर्षक पर- जो कुषाण युग का है, यक्ष बने हुए हैं। कुषाण युग के साहित्य से पता चलता है कि कम से कम द्वितीय शताब्दी में वाराणसी के क्षेत्रपाल महाकाल यक्ष थे। मत्स्यपुराण (अ. 180-183) से ज्ञात होता है कि बनारस में शैव धर्म के साथ-साथ यहाँ यक्ष पूजा का बोलबाला था और महायक्ष कुबेर ने सब कुछ शिवार्पण करके गणेशत्व प्राप्त किया और अन्य यक्ष भी अपने सर्व कर्म शिव को अर्पित करके शिव के पार्षद बन गये।"[26] यद्यपि बौद्ध धर्म के समकक्ष शैव धर्म

का प्रचार यहाँ कम था और इसके प्राचीनतम अवशेष भी बहुत कम मिलते हैं किन्तु यह मान्यता मिथकों में दृढ़ रही है कि काशी ही शिव की प्राचीनतम नगरी है।

कुषाण युग में व्यापार की दृष्टि से वस्त्र उद्योग का काफी महत्व था। यहाँ बने वस्त्रों के लिए काशी, काशिक वस्त्र तथा काशिकांशु जैसे शब्दों का प्रचलन था। इन वस्त्रों की ख्याति दूर-दूर तक थी। ऐसा ज्ञात होता है कि "उस समय के व्यवसाय श्रेणियों में बंटे थे। उस समय बनारस में कितनी श्रेणियाँ थीं इसका तो पता नहीं है पर राजघाट से मिली एक मुद्रा पर कुषाण काल के अक्षरों में 'गव्याक सेनिए' अर्थात गव्याक श्रेणी लेख है। इससे पता चलता है कि बनारस में उस समय ग्वालों की एक श्रेणी थी। लगता है रूढ़िगत अट्ठारह श्रेणियों में, जिसका बौद्ध साहित्य में बार-बार उल्लेख आया है, इसकी भी गिनती थी। इन अट्ठारह श्रेणियों का नाम जातकों में तो नहीं गिनाया गया है पर जैनों की जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की टीका में इनके नाम आये हैं और इनमें गुआर अर्थात् ग्वाले भी हैं।"[27] इसके साथ ही राजघाट की खुदाई से तत्कालीन संभ्रांत पुरुषों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली मुद्राएं भी प्राप्त होती हैं। इन मुद्राओं से ऐसा ज्ञात होता है कि इन संभ्रांत पुरुषों में से अधिकांश व्यापारी रहे होंगे और समाज में उन्हें विशेष दर्जा प्राप्त रहा होगा। वास्तव में "कुषाण युग में बनारस के व्यापार की क्या अवस्था थी इसका विशेष विवरण तो हमें तत्कालीन साहित्य में नहीं मिलता, पर जो कुछ भी विवरण हमें दिव्यावदान तथा ललित विस्त्र इत्यादि और राजघाट से मिली कुषाण मुद्राओं से मिलता है उससे पता चलता है कि इस युग में भी बनारस अच्छा-खासा व्यापारिक केन्द्र था।"[28]

ऐसा ज्ञात होता है कि कुषाण युग में मथुरा की कला का प्रभाव बनारस की कला पर पड़ा और इस काल में बनारस की कला को विशेष प्रोत्साहन दिया गया। इस युग में भी बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण और प्रचार-प्रसार होता रहा। इस बात के संकेत कुषाण युग की उन मूर्तियों से लगाये जा सकते हैं जो सारनाथ से प्राप्त हुई हैं। बुद्ध के अतिरिक्त कुषाण

युग में नागों और यक्षों की मूर्तियों के निर्माण का प्रचलन भी जान पड़ता है। निश्चित रूप से कुषाण काल में बनारस की कला उतरोत्तर विकसित होती गई।

गुप्तकाल के दौरान वाराणसी अपनी उन्नति के शिखर पर था। वाराणसी गुप्त साम्राज्य के अधीन कब आया, इसका कुछ निश्चित पता नहीं चलता है। लेकिन यह अनुमान लगाया जाता है कि समुद्रगुप्त (330-370 ई.) के समय बनारस गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित था। वायु पुराण के श्लोक से इस बात की पुष्टि होती है। "चंद्रगुप्त द्वितीय (लगभग 380-412 ई.) परम भागवत वैष्णव था, पर उसके समय में वाराणसी में बौद्ध और शैव धर्म उन्नति कर रहे थे। उसी के शासन काल में चीनी पर्यटक फाहियान भारत यात्रा (401-410 ई.) पर आया था। वह पाटलिपुत्र से गंगा के किनारे-किनारे चलकर वाराणसी पहुँचा था। वह ऋषिपत्तन मिगदाव (सारनाथ) भी गया था और वहाँ उसने स्तूप और विहार देखे थे। फाहियान ने अपने विवरण में चंद्रगुप्त का उल्लेख नहीं किया है, न ही वह उससे मिला था, परन्तु उसने गंगा की घाटी के मैदान जिसे उसने 'मध्यदेश' कहा है, की खुशहाली का उल्लेख किया है।"[29] इस बात से इतना तो कहा जा सकता है कि वाराणसी का गुप्त युग में एक विशेष स्थान रहा होगा। गुप्त काल में वाराणसी (सारनाथ) का भरपूर विकास हुआ। पूरा का पूरा सारनाथ कला के एक केन्द्र के रूप में स्थापित हो गया था। ईसा की पाँचवी सदी में बुद्ध की धर्मचक्र प्रवर्तन में एक अतिसुन्दर मूर्ति मिली है। साथ ही लगभग इसी समय भगवान् कार्तिकेय की बहुत सुन्दर मूर्ति मिली है, जो इस समय वाराणसी के भारत कला भवन में सुरक्षित है।

काशी के गुप्तकालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक पहलू को समझने के लिए उत्खनन से प्राप्त मुद्राओं के पास जाना पड़ेगा। राजघाट से कई प्रकार की मुद्राएं मिली हैं, जो काशी की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों को स्पष्ट करती हैं। "राजघाट से मिली अधिकतर मुद्राएं चार प्रकार की हैं- (1) पासपोर्ट (2) राज्यकर्मचारियों की मुद्राएं (3) व्यापारियों अथवा नागरिकों की मुद्राएं (4) देव मंदिरों की मुद्राएं।"[30] इन मुद्राओं

से गुप्तकाल की शासन व्यवस्था के साथ ही व्यापार व्यवस्था को भी समझा जा सकता है। "इनमें से कई मुद्राओं पर 'वाराणस्याधिष्ठानाधिकरण' (यानी नगर का मुख्य कार्यालय) लेख अंकित है। यहाँ से 'निगम' (व्यापार व्यवसाय करने वाला समूह) नाम वाली मुद्राएं भी मिली हैं। गुप्त शासन में उत्तर भारत के लोगों को पूरी धार्मिक स्वतंत्रता थी। गुप्त शासक परम भागवत थे, परन्तु वे बौद्ध और जैन धर्म का भी सम्मान करते थे। उनके समय में वाराणसी में शैव धर्म का उत्कर्ष हुआ और यहाँ बड़ी तादाद में शिवलिंगों की स्थापना हुई। गुप्तकाल में ही वाराणसी का नाम अविमुक्त क्षेत्र पड़ा। राजघाट से 'श्रीअविमुक्तेश्वर' नामवाली मृण्मुद्रा भी मिली है। जैसा कि पीछे बताया गया है, कालान्तर में अविमुक्तेश्वर ही विश्वेश्वर हो गए।"[31] इसके साथ ही कुछ मुद्राओं से हमें यह भी पता चलता है कि वाराणसी में कुछ शिव मंदिर भी रहे होंगे। इनमें से कुछ के प्रमाण हमें मिलते हैं जिनमें प्रमुख हैं- (1) श्री सारस्वत (2) योगेश्वर (3) भृंगेश्वर (4) प्रीतिकेश्वर स्वामिन् (5) भोगकेश्वर (6) प्राज्ञेश्वर (7) हस्तीश्वर (8) गंगेश्वर (9) गभस्तीश्वर। स्पष्ट है कि गुप्त काल में वाराणसी शिव के केंद्र के रूप में धीरे-धीरे स्थापित होने लगा था। शैव धर्म के मानने वालों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई या यह कह सकते हैं कि शैव धर्म की प्रतिष्ठा हुई। सारनाथ में बौद्ध धर्म केंद्र में था परन्तु वाराणसी शहर में गुप्तकाल में प्रधान धर्म शैव था तथा उसके बाद वैष्णव। वाराणसी में गुप्त काल के दौरान जैन धर्म का भी प्रसार हुआ। राजघाट से मिली ऋषभदेव नामक व्यक्ति की मुद्रा से पता चलता है कि उस समय भी बनारस में जैन थे।

"गुप्त युग में काशी शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र था। पर यहाँ मौर्य युग से गुप्त युग के पहले तक शिक्षा की क्या व्यवस्था थी इसका हमें बहुत कम पता है। भाग्यवश राजघाट से कुछ मुद्राएं मिली हैं जिनके आधार पर हम गुप्त युग में बनारस की शिक्षा व्यवस्था पर प्रकाश डाल सकते हैं। चातुर्विद्यवाली गुप्त कालीन मुद्रा से यह पता चलता है कि उस काल में बनारस में चारों वेद पढ़ाने के लिए कोई पाठशाला थी। यह भी संभव है कि इस

पाठशाला में चार विद्याएं आन्वीक्षिकी, त्रयी वार्ता, दंडनीति, और शाश्वती पढ़ाई जाती रही हों। बहवृच्चरण के लेखवाली दो मुद्राएं मिली हैं जिनसे पता चलता है कि गुप्तयुग में बनारस में ऋग्वेद के अध्यापन के लिए एक पाठशाला थी। इन मुद्राओं पर पाठशाला का सुन्दर चित्र भी दिया हुआ है।...कला-भवन, बनारस की छान्दोग्यवाली तीन मुद्राओं के पट और योगेश्वर स्वामी का लेख है और अर्धचन्द्र, अक्षसूत्र, अमृतघट तथा दंड बने हैं। इन मुद्राओं के आधार पर हम निम्नलिखित नतीजे पर पहुँच सकते हैं- (1) बनारस में योगेश्वर के मंदिर के साथ सामवेद की एक पाठशाला थी (2) कुछ वैष्णव लक्षणों के आने से यह कहा जा सकता है कि शायद इस पाठशाला के कुछ अध्यापक वैष्णव भी होते हों।"[32] वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि गुप्तयुग में बनारस धर्म, व्यापार, कला और शिक्षा के क्षेत्र में अग्रणी था। इसकी ख्याति दूर-दूर तक रही होगी।

हर्षवर्धन (606-648 ई.) ने अपने शासन काल में बनारस को अपने अधिकार में ले लिया था। सातवीं सदी के हर्ष के शासन काल का विस्तृत विवरण हमें प्रसिद्ध चीनी बौद्ध पर्यटक युवान च्वांङ् (ह्यून त्सांग) की भारत यात्रा के विवरण से ज्ञात होता है। युवान च्वांङ् ने काशी की सामाजिक, धार्मिक और भौगोलिक स्थिति का भी विवरण प्रस्तुत किया है। युवान च्वांङ् के अनुसार "बनारस जिला 4000 ली. (800 मील) के गिर्द में था। इसकी राजधानी का पश्चिम किनारा गंगा तक पहुँचता था। शहर 11 ली. ($3\frac{3}{5}$ मील) लंबा और 6 ली. ($1\frac{1}{4}$ मील) चौड़ा था। शहर के मुहल्ले सटे हुए थे। बनारस की आबादी घनी थी, लोग बहुत धनवान थे और उनके घर बहुमूल्य वस्तुओं से भरे रहते थे। बनारस के नागरिक बहुत शिष्ट थे और शिक्षा के प्रति उनका अनुराग था। उनमें से अधिकतर दूसरे मतों को मानने वाले थे और बहुत थोड़े से बौद्ध धर्मानुयायी थे। बनारस की जलवायु सुखकर थी और फसल बहुत अच्छी होती थी। फलों के और दूसरे वृक्ष बहुत घने होते थे और जमीन पर हरियाली छायी रहती थी। बनारस जिले में करीब तीस बौद्ध विहार थे जिनमें सम्मितिय

निकाय के तीन हजार से अधिक भिक्षु रहते थे। शहर में देवमंदिर सौ के ऊपर थे और उनके अनुयायियों की संख्या दस हजार के ऊपर थी। इनमें अधिकतर शैव थे। इनमें से कुछ अपने बाल कटवा डालते थे, कुछ जटा-जूट बाँधते थे, कुछ नंगे फिरते थे, कुछ भस्म रमाते थे। घोर तपश्चर्या में निरत होकर वे भव बाधा से मुक्ति पाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। खास बनारस में बीस देव मंदिर थे और इन मंदिरों के खण्ड और छज्जे नक्कासीदार पत्थर और लकड़ी के बने होते थे। मंदिरों में पेड़ों के झुरमुट चारों ओर छाया करते थे और वहाँ साफ पानी के सोते होते थे। एक मंदिर में देव की काँसे की बनी सौ फुट ऊँची मूर्ति थी जो अपनी सजीवता और भयोत्पादक कांति से लोगों को प्रभावित करती थी। यात्रा विवरण के मूल को इकट्ठा करने वाले फांड्-चि का कहना है कि इस देवमंदिर में 100 फुट ऊँचे शिवलिंग की पूजा होती थी।"[33] युवान च्वांड् ने काशी का विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् सारनाथ का भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार "राजधानी के उत्तर पूर्व में और बरना नदी के पश्चिम में अशोक निर्मित 100 फुट ऊँचा स्तूप था। इसके सामने हरे पत्थर का एक पालिशदार स्तंभ था। बरना नदी के 10 ली. (2 मील) उत्तर पूर्व में मृगदाव विहार था। इसमें 8 भाग थे और वह एक ऊँची दिवार से घिरा हुआ था। इस विहार में सम्मितिय निकाय के 1500 भिक्षु रहते थे। दीवार के अंदर 200 फुट ऊँचा, स्वर्णमंडित आमलक से अलंकृत एक मंदिर था जिसकी कुरसी और सीढ़ियाँ पत्थर की थीं और जिसके ईंटों के बने भाग में निषीदिकाओं की पंक्तियाँ थी और हर निषीदिका में स्वर्णमंडित प्रतिमा थी। मंदिर के अंदर कांसे की बनी धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में बुद्ध की एक कद्देआदम मूर्ति थी।"[34] युवान च्वांड् ने सातवीं सदी के काशी और सारनाथ का लगभग पूरा विवरण प्रस्तुत कर दिया था जिससे वहाँ की तत्कालीन परिस्थितियों का स्पष्ट बोध होता है।

आगे चलकर कन्नौज नरेश यशोवर्मा को पराजित कर कश्मीर के शासक ललितादित्य ने काशी पर अधिकार स्थापित किया। किन्तु 1015 ई. के लगभग कलचुरियों ने काशी को

अपने कब्जे में ले लिया। कलचुरी नरेश गांगेय देव के समय ही मुस्लिम सेना ने काशी पर हमला कर उथल-पुथल मचा दिया था। कलचुरी शासन के समय काशी में जहाँ एक ओर धार्मिक दृष्टि से वज्रयान और महायान का जोर बढ़ रहा था। वहीं दूसरी तरफ शैव धर्म की प्रमुखता बनी रही।

कलचुरियों को हराकर गाहड़वालों ने काशी पर अपना शासन स्थापित किया था। अलवरुनी के विवरण से ज्ञात होता है कि "बनारस उस समय सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारत का सबसे बड़ा नगर था। महमूद गजनवी के आक्रमणों के बाद तो बनारस की महत्ता इसलिए और बढ़ गयी कि सारे उत्तर भारत से प्राचीन भारतीय संस्कृति के रक्षक और परिवर्धक पंडित भाग-भागकर बनारस में बस गये। बनारस के बारे में अलवरुनी का कहना है कि स्मार्त धर्म के लिए नगर प्रसिद्ध था। सारे भारत से साधु-संन्यासी घूमते हुए इस शहर में पहुँच कर मोक्ष के लिए उसी तरह सदा के लिए बस जाते थे जैसे काबा के रहने वाले मक्का में। उस समय यह कहावत थी कि हत्यारे को भी बनारस पहुँचने पर मृत्युदंड नहीं लगता था।"[35]

बनारस की तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के संदर्भ में कुछ ग्रंथ भी प्रकाश डालते हैं। 16 वी. शती में गणपति कृत 'माधवानल कामकंदला' ग्रंथ में भी काशी के तत्कालीन राजा की न्यायनिष्ठा की प्रशंसा करने के साथ ही इस बात का भी वर्णन किया गया है कि "काशी में चारों वर्ण अहर्निश अपना धर्म पालन करते थे। कोई झूठ नहीं बोलता था। लोग खेल-कूद में मग्न रहते थे। मित्र अपनी मित्रता भरपूर निबाहते थे। कोई कभी कान से भी कलह की बात नहीं सुनता था और लोग बड़ों को आदर की दृष्टि से देखते थे। स्त्रियाँ पतिव्रता होती थीं और कुटुम्बियों में स्नेह भाव होता था।...राजा प्रजा का पालन करते थे। प्रदेश में खूब अन्न होता था कि एक बार बोने से 11 बार काटा जा सकता था।"[36] यद्यपि काशी के संदर्भ में यह वर्णन निःसंदेह अतिरंजित है। फिर भी इस वर्णन से काशी की तत्कालीन सामाजिक और प्रशासनिक समृद्धता का सहज ही अनुमान

लगाया जा सकता है। अलवरुनी और गणपति के अतिरिक्त गाहड़वाल युग में काशी की ठीक-ठीक स्थिति का ज्ञान हमें आनंदधर कृत 'माधवानलाख्यान', दामोदर कृत 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' और हेमचन्द्र कृत 'कुमारपाल चरित' से होता है। 'कुमारपाल चरित' में हेमचन्द्र ने काशी के ठगों का वर्णन किया है और उस काल की एक प्रसिद्ध कहावत 'वाराणसी ठकानां स्थानम्' का भी उल्लेख किया है।

गाहड़वाल युग के लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय काशी की प्रजा पर 'भाग', 'भोग', 'तुरुष्कदंड', 'प्रपथिकर', 'हिरण्य', 'जलकर', 'गोकर', 'निधिनिक्षेप' जैसे अनेक कर लगाए जाते थे। निश्चित ही इस दृष्टि से प्रजा की स्थिति बहुत बेहतर नहीं कही जा सकती है। उस समय बनारस की व्यापारिक स्थिति के संदर्भ में यह विदित होता है कि "भारतीय इतिहास और दूसरे कालों की तरह बारहवीं सदी में भी बनारस शहर में बनियों का बोलबाला था। पैसों की तो इनके पास कभी कमी होती ही नहीं थी- 'वणिए कर धणु धर' (14/20)। बनिया व्यापार में भी गहरी रकम पैदा करता था- 'वणिजें धन अर्ज्जे' (46/16)"।[37] मुस्लिम इतिहासकारों ने काशी के बजाजा, जौहरी, गंधा बाजार के उन्नतशील रूप का भी वर्णन किया है। दामोदर ने अपने 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' ग्रंथ में बनारस में तेली, माली, अहेरी और केवट द्वारा किये जाने वाले व्यवसायों की जानकारी दी है।

काशी में शिक्षा की स्थिति के विषय में यह ज्ञात होता है कि गाहड़वाल शासकों ने यहाँ शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। "गाहड़वाल-युग में बनारस की शिक्षा का उद्देश्य था 'वेद पढव, स्मृति अभ्यसवि, पुराण देखव, धर्म करव' (उ.व्य.,12/16-18) अर्थात हमें वेद पढ़ना चाहिए, स्मृतियों का अभ्यास करना चाहिए, पुराणों को देखना चाहिए और धर्म करना चाहिए। उपर्युक्त उदाहरण से पता चलता है कि बनारस में उस समय वेदों, स्मृतियों और पुराणों के पठन-पाठन पर विशेष ध्यान दिया जाता था।"[38] 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' ग्रंथ में ही अनेक प्रश्नोत्तरियों के माध्यम से काशी में अध्ययनरत विद्यार्थियों की स्थिति और गुरु-शिष्य संबंध पर भी प्रकाश पड़ता है।

गाहड़वाल युग में काशी की धार्मिक स्थिति काफी उन्नत थी या यूँ कहें की हिन्दू धर्म अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर चुका था और इसकी ख्याति एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थल के रूप में बन गई थी। "गाहड़वाल युग में विश्वनाथ की स्थापना हुई। विश्वनाथ का सर्वप्रथम उल्लेख एक गाहड़वाल लेख में आता है पर काशी के प्रधान देव अविमुक्तेश्वर ही रहे। काशी में एक दो नहीं सैकड़ों की संख्या में शैव मंदिर गाहड़वाल युग में थे। बनारस में शैवों की प्रधानता होते हुए भी यहाँ वैष्णव धर्म का आदर था। सच बात तो यह है कि इस युग के हिन्दू धर्म में शैव और वैष्णव धर्म में कोई विशेष मतभेद नहीं देख पड़ता।"[39] 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' ग्रन्थ में काशी के संदर्भ में ऐसी अनेक कहावतें और मुहावरे आए हैं जिनसे वहाँ की जनता की धार्मिक आस्था, धार्मिक अंधविश्वास के साथ ही धर्म के मूल स्वरूप के प्रति लोगों का सच्चा आकर्षण ज्ञात होता है।

चूँकि एक लंबे समय से काशी पर बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव रहा था, इसलिए गाहड़वाल युग में भी बौद्ध धर्म की उपस्थिति किसी न किसी रूप में बनी हुई थी। यद्यपि इस समय वज्रयान लगभग अपनी अंतिम अवस्था को प्राप्त कर चुका था फिर भी गाहड़वाल शासकों ने उसे प्रश्रय दिया। गाहड़वाल शासक गोविन्दचन्द्र की पत्नी कुमार देवी बौद्ध धर्म की इसी वज्रयान शाखा की अनुयायिनी थी और उन्होंने सारनाथ में एक विहार का निर्माण भी करवाया था।

मुस्लिम शासकों के दौर में बनारस को काफी नुकसान पहुँचाया गया। कुतुबुद्दीन ऐबक और शहाबुद्दीन गोरी ने 1114 ई. में बनारस पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। ऐबक और गोरी की सेनाओं ने बनारस को छिन्न-भिन्न कर दिया। बनारस में स्थापित प्राय: सभी मंदिरों को नस्तोनाबूत कर दिया गया और उसके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण किया गया। गुलाम वंश के सुल्तानों के समय हिन्दू मंदिरों के अमलों पर बनारस में कई मस्जिदें बनाने के संकेत मिलते हैं। गुलाम वंश के पश्चात् खिलजियों ने 1290 ई. में दिल्ली पर अपना शासन कायम किया। अलाउद्दीन खिलजी के समय बनारस की कोई

विशेष स्थिति का पता नहीं चलता है परंतु कुछ लेखों से ज्ञात होता है कि अलाउद्दीन के समय बनारस में कुछ मंदिर बनते रहे। इनमें से 'पद्मेश्वर का मंदिर' और वीरेश्वर नामक व्यक्ति द्वारा बनवाया गया 'मणिकर्णिकेश्वर का मंदिर' प्रमुख है। खिलजी वंश के पश्चात् दिल्ली पर 1320 ई. में तुगलक वंश की स्थापना हुई। "इस वंश का सबसे प्रतापी राजा मुहम्मद तुगलक (1325-1351 ई.) हुआ। भाग्यवश इसके राज्यकाल में बनारस की अवस्था पर जिनप्रभ सूरि कृत 'विविधतीर्थ-कल्प' से काफी प्रकाश पड़ता है। जिनप्रभ सूरि एक प्रसिद्ध श्वेताम्बर जैन आचार्य थे और अनुश्रुति यह है कि उनका मुहम्मद तुगलक पर प्रभाव था। जो भी हो, जिनप्रभ सूरि ने तमाम जैन तीर्थों की, जिनमें काशी भी थी, यात्रा की और इन सब तीर्थों का विवरण उन्होंने अपनी पुस्तक 'विविधतीर्थ-कल्प' में एकत्र किया। 'विविधतीर्थ-कल्प' से पता चलता है कि जिनप्रभ का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था और वे तीर्थों का वर्णन करते हुए हिन्दू पुराणों की तरह केवल ग्रंथो का ही सहारा नहीं लेते थे। उनके बनारस के वर्णन से बनारस की भौगोलिक स्थिति, बनारस संबंधी किंवदंतियाँ, बनारस की धार्मिक स्थिति, विद्या इत्यादि सभी अंगों पर प्रकाश पड़ता है।...वाराणसी के बारे में 'विविधतीर्थ-कल्प' का कहना है कि सुवर्ण रत्नों से समृद्ध उत्तर वाहिनी गंगा से घिरी हुई उस नगरी में बड़े अद्भुत लोग रहते थे तथा वरुणा और असी नाम की दो नदियों के इस नगरी में प्रवेश करने से ही नैरुक्तों द्वारा इसका नामकरण हुआ।"[40] जिनप्रभ सूरि के ग्रंथ से हमें यह भी ज्ञात होता है कि मुस्लिम शासकों के आक्रमण और बनारस को तहस-नहस करने के पश्चात् भी "काशी ने अडिग भाव से धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में अपना नाम जीवित रखा। इस युग में बनारस शिव का प्रधान केन्द्र बना रहा और यहाँ वेद-वेदांगों तथा व्याकरण की शिक्षा के अतिरिक्त धातुवाद, रसवाद और खन्यवाद जैसे वैज्ञानिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। मंत्रशास्त्र, ज्योतिष और निमित्तशास्त्र के भी निष्णात इस नगरी में रहते थे। साथ ही साथ नाटक, अलंकार और साहित्य का भी पठन-पाठन चलता रहता था।"[41]

जिनप्रभ सूरि के ग्रंथ 'विविधतीर्थ-कल्प' से यह भी ज्ञात होता है कि वाराणसी चार भागों में विभक्त थी। इनके नाम हैं- (1) देव वाराणसी (2) राजधानी वाराणसी (3) मदन वाराणसी (4) विजय वाराणसी। तुगलक वंश के शासक फिरोज तुगलक (1351-1388 ई.) के समय के कुछ संकेत मिले हैं जिनसे पता चलता है कि यह एक कट्टर मुसलमान था। उसने ब्राह्मणों के ऊपर जजिया कर लगाया, जिसे बाद में चलकर ब्राह्मणों के विरोध करने के कारण हटाना पड़ा। कुछ हिन्दू मंदिरों के अमलों पर मस्जिद बनाने के संकेत भी हमें उसके शासन काल के दौरान प्राप्त होते हैं।

इसके पश्चात् बनारस जौनपुर के शर्की शासकों के हाथों में चला गया। महमूद शाह शर्की (1436-1458 ई.) के समय बनारस के मंदिरों की काफी तोड़-फोड़ की गई। इसी समय दिल्ली पर लोदी वंश का आधिपत्य स्थापित हो गया था। सिकंदर लोदी (1489-1517 ई.) के शासन के दौरान कुछ संकेत मिलते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि सिकंदर कट्टर शासक था। मंदिरों की तोड़-फोड़, ब्राह्मणों की हत्या करने में वह सबसे आगे था। बनारस उसके शासन काल में बुरे दौर से गुजरी होगी।

मुगलों के लंबे शासन काल में काशी अनेक उतार-चढ़ाओं से गुजरी। अफगानों के साथ युद्ध के दौरान मुगल वंश के संस्थापक प्रतापी बादशाह बाबर ने बनारस को एक प्रमुख केन्द्र के रूप में प्रयोग किया। उसने 5 मार्च 1529 को काशी पर पुनः एक बार फतह हासिल की। हुमाऊँ के शासन काल में शेरखां ने बनारस को अपने अधिकार में ले लिया। इसके एक लंबे समय के बाद अकबर के समय की काशी का कुछ हाल हमें अबुल फजल कृत 'आईने अकबरी' में मिलता है। 'आईने अकबरी' के अनुसार "बनारस के परगने आज जैसे ही थे सिवा इसके कि बरह का नाम टांडा था; लेकिन इनकी सीमाओं में अंतर है। इस जिले में उपजाऊ जमीन का रकबा कुल 46,448 बीघा (27,870 एकड़) और इसका लगान 25,19,037 दाम थे, इसके अलावा 50,432 दाम सुयूरग़ल के लगते थे। कुल मिलाकर

लगान 64,237 रूपये होती थी जो रूपये की उस समय की कीमत देखते हुए काफी ऊँची थी। प्राय: पूरा सरकार बनारस आजकल के बनारस जिले में आ जाता था।"[42]

16वी. सदी के अंत में काशी की वास्तविक स्थिति का जीवंत वर्णन जानने के लिए अकबर के शासन काल में काशी की यात्रा करने वाले अंग्रेज यात्री राल्फ फिच (1583-91 ई.) द्वारा प्रस्तुत काशी का विवरण बेहद महत्वपूर्ण है। राल्फ फिच ने बनारस की धार्मिक और व्यापारिक स्थितियों का वर्णन करने के साथ ही वहाँ के मंदिरों, घाटों और मूर्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात् जहाँगीर कालीन काशी के संदर्भ में बनारसीदास कृत 'अर्धकथानक' से कुछ अल्प जानकारी ही प्राप्त होती है।

धार्मिक दृष्टि से मुगलकालीन इतिहास की सबसे प्रमुख घटना सिकंदर लोदी के समय तोड़ दिए गये विश्वनाथ मंदिर का पुनर्निर्माण था। टोडरमल की सहायता से नारायण भट्ट ने 1585 ई. के करीब इसका पुनः निर्माण करवाया। तुलसीदास लगभग इसी समय 'विनय पत्रिका' में काशी की स्तुति करते हुए बताते हैं कि काशी दुःख, क्लेश, पाप और रोग का नाश करने वाली है। काशी के मध्य भाग को अंतर्गृही कहा जाता था। यह मध्य भाग नगरी का सबसे पवित्र भाग था। दंडपाणि भैरव, लोलार्क कुंड, त्रिलोचन घाट, कर्ण घंटा का मंदिर और मणिकर्णिका तीर्थ काशी का सबसे प्रसिद्ध तीर्थ था। पंचक्रोशी यात्रा का यहाँ बहुत महत्व था। बाद में काशी के तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक वातावरण से तुलसीदास बड़े क्षुब्ध थे। विनयपत्रिका में इस अराजक स्थिति का भी वर्णन मिलता है। केदारघाट पर कुमार स्वामी के मठ की स्थापना भी अकबर के समय में ही हुई थी।

शाहजहाँ-औरंगजेब कालीन बनारस (1627-1707 ई.) में बनारस की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों का वर्णन करना आवश्यक है। शाहजहाँ (1627-1658 ई.) के समय बनारस के राजनीतिक इतिहास के बारे में कुछ विशेष पता नहीं चलता है। चूँकि शाहजहाँ एक कट्टर मुसलमान था, अत: उसकी कट्टरता का असर बनारस पर भी पड़ा। 'बादशाहनामा' के अनुसार बनारस में निर्माणाधीन मंदिरों की संख्या काफी थी। इन मंदिरों

को शाहजहाँ के हुक्म से गिरा दिया गया। जिनकी संख्या 76 थी। इस बात के गवाह प्रसिद्ध अंग्रेज यात्री पीटर मंडी हैं। पीटर मंडी ने तत्कालीन समय के विश्वनाथ मंदिर का आँखों देखा वर्णन किया है। "मंडी के अनुसार बनारस में खत्री, ब्राह्मण और बनियों की बस्ती है और वहाँ दूर-दूर से लोग देवताओं की पूजा करने आते हैं। इनमें काशी विश्वेश्वर महादेव का मंदिर सबसे प्रसिद्ध है। मैं उसके अन्दर गया। उसके बीच में एक ऊँची जगह पर लंबोतरा सादा (बिना नक्काशी का) पत्थर है। उस पर लोग नदी का पानी, फूल, अक्षत और पिघला भी चढ़ाते हैं। पूजा के समय ब्राह्मण कुछ पढ़ते रहते हैं, पर उसे गँवार समझते नहीं। लिंग के ऊपर एक रेशमी चंदवा है जिसके सहारे कई बत्तियाँ जलती रहती हैं। उस सादी थोथी मूरत का मतलब एक सादे गँवार के ठेठ शब्दों में महादेव का लिंग था। अगर ऐसी बात है तो जान पड़ता है इसी से स्त्रियाँ अपने छोटे बच्चों को निरोग करवाने लाती हैं। शायद इस लिंग में प्रजनन और रक्षण दोनों भाव निहित हैं।"[43] मंडी ने बनारस में साधुओं और फकीरों का भी जीवंत वर्णन किया है। मंडी के अनुसार इस बात का भी संकेत मिलता है कि 1632 ईस्वी में बनारस एक भयंकर बीमारी की चपेट में आ गया था। इस भयंकर बीमारी में बनारस के 90 प्रतिशत आदमी या तो मर गये या बनारस छोड़कर भाग गये थे।

दारा शुकोह का संबंध भी बनारस से जुडता है। दारा शुकोह की धार्मिक सहिष्णुता इतिहास में प्रसिद्ध है। इन्होंने बनारस के पंडितों और संन्यासियों को इकट्ठा कर उनकी मदद से उपनिषदों का फारसी में स्वत: अनुवाद किया। शाहजहाँ के समय कवीन्द्राचार्य के द्वारा काशी और प्रयाग के यात्रियों पर से जकात कर को उठवाना एक महत्वपूर्ण घटना थी। शाहजहाँ के बाद औरंगजेब ने शासन का कार्यभार सम्भाला। बनारस में औरंगजेब का नाम उसकी धार्मिक असहिष्णुता के कारण लिया जाता है। वह कट्टर मुसलमान था। उसने पुनः हिंदुओं पर जजिया लगवाया। हिन्दू मंदिरों को नष्ट किया। दिल्ली की गद्दी पर पैर जमाने के बाद औरंगजेब ने फरमान जारी किया कि बनारस का विश्वनाथ मंदिर गिरा दिया

जाय। तत्पश्चात् 2 सितम्बर, 1669 में विश्वनाथ मंदिर को नष्ट कर दिया गया और उस पर ज्ञानवापी मस्जिद का निर्माण भी करा दिया गया। औरंगजेब को जब "1669 में पता चला कि थट्टा, मुलतान और विशेषकर बनारस के कुछ मंदिरों में हिंदू और मुसलमान, दोनों दूर-दूर से ब्राह्मणों से ज्ञान पाने के लिए आते हैं तो उसने कड़ी कार्यवाई की। औरंगजेब ने सभी सूबेदारों को इस प्रथा को रोकने तथा जिन मंदिरों में यह प्रथा जारी थी इनको नष्ट करने के आदेश दिये। इन आदेशों के फलस्वरूप अनेक मंदिर गिराये गये और उनकी जगह मस्जिदें बनवाई गईं, जैसे बनारस का सुप्रसिद्ध विश्वनाथ मंदिर और मथुरा में केशवराय का मंदिर जिसे जहाँगीर के काल में वीरसिंह बुंदेला ने बनवाया था।"[44] यह पहली बार नहीं था जब विश्वनाथ मंदिर को तोड़ा गया था। वस्तुतः "विश्वनाथ मंदिर को सर्वप्रथम 1194 में गोरी की सेना ने ध्वस्त किया था। बाद में इसका पुनर्निर्माण किया गया। 14वीं शताब्दी में इसके अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। इस बात का कोई निरंतर विवरण उपलब्ध नहीं है कि जिससे पता चले कि किस प्रकार के संरक्षण ने पुनर्निर्माण और पांडित्य परंपरा के पालन-पोषण को संभव बनाया।...14वीं और 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस शहर के मंदिरों को कई बार ध्वस्त किया गया। विश्वनाथ के सन्दर्भ में यह ज्ञात है कि इसे पुनः 16वीं शताब्दी में गिरा दिया गया था। पुनः इसका निर्माण 1585 में अकबर के हिन्दू मंत्री राजा टोडरमल के आग्रह से हुआ था। इस दौरान रीति-रिवाजों और पांडित्य परंपरा को निरंतर संरक्षण मिलता रहा। टोडरमल और राजा मानसिंह दोनों ने शहर के धार्मिक क्रियाकलापों का समर्थन किया। 1669 में औरंगजेब के आदेश पर विश्वनाथ मंदिर को पुनः ध्वस्त कर दिया गया। साथ ही साथ बिंदु माधव के भव्य मंदिर को भी भूमिसात कर दिया गया और उसकी जगह पर मस्जिद का निर्माण करा दिया गया।...1775 के आसपास मस्जिद के बगल में विश्वनाथ मंदिर का पुनः निर्माण इंदौर की अहिल्याबाई द्वारा करवाया गया था।"[45] इसी समय दो प्रसिद्ध फ्रांसीसी यात्री बर्नियर और तावेर्निये 1660 और 1665 के बीच बनारस आये। इन दोनों यात्रियों के बयानों से 1660 और 1665 के बीच बनारस का

जीवंत चित्र खड़ा हो जाता है। संभवतः ये यात्री बनारस तब आये जब बनारस औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता का शिकार नहीं हुई थी। 1665 ईस्वी में तावेर्निये बनारस आया। तावेर्निये के अनुसार बनारस के मकान ईंट और पत्थर के बने थे और उन मकानों की ऊँचाई बहुत ज्यादा थी। तावेर्निये बताता है कि ऐसे ऊँचे मकान उसने पूरे हिन्दुस्तान में नहीं देखे थे। वह बनारस की संकरी गलियों की बड़ी निंदा करता है। बनारस में रेशमी और सूती वस्त्रों का व्यापार होता था। जयपुर के राजा के द्वारा बनवाई गयी पाठशाला जिसे अब 'कंगनवाली हवेली' कहते हैं, का जिक्र भी तावेर्निये ने किया है। इस पाठशाला में अच्छे घरों के बच्चे पढ़ाई करते थे। बर्नियर लगभग 1660 में बनारस आया। वह शहर के आसपास के गावों की सुंदरता और पैदावार की प्रशंसा करता है। बर्नियर और तावेर्निये दोनों यात्रियों ने बनारस की शिक्षा व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। सत्रहवीं सदी में काशी के ब्राह्मणों विशेषकर दक्षिणी ब्राह्मणों के दैनिक जीवन के सुंदर चित्र वरदराज कृत 'गीर्वाणपद मंजरी' (1600 से 1650 ईस्वी के बीच) तथा ढूंढीराज कृत 'गीर्वाण वाङ्मंजरी' (1702-1704 ईस्वी के बीच) नामक पुस्तकों के माध्यम से दिखाई देता है। 1707 से 1781 ईस्वी के फर्रुखसियर (1713-1719) के राज्यकाल में बनारस पर नागरों का काफी प्रभाव था। चूँकि छबीलाल नागर उस समय इलाहाबाद का सूबेदार था इसलिए बनारस पर नागरों का प्रभाव स्वाभाविक जान पड़ता है। इस समय की सबसे महत्वपूर्ण घटना बनारस से जजिया कर का हटना था। छबीलाल ने फर्रुखसियर से कहकर इस जजिया कर की समाप्ति की घोषणा की। इससे सल्तनत को सालाना 4 करोड़ का नुकसान हुआ। इसके बाद 1730 ई. के आसपास मीर रुस्तम अली बनारस की तहसील वसूल और उसका देखभाल करने लगे। बनारस के बुढ़वा मंगल के मेले की शुरुआत इन्होंने ही की थी। बनारस के मान मंदिर के उत्तर में घाट, किला बनवाने का श्रेय भी मीर रुस्तम अली को ही जाता है। मनसाराम मीर रुस्तम अली के यहाँ नौकरी करते थे। मनसाराम को आधुनिक बनारस राज्य के संस्थापक के रूप में जाना जाता है। मनसाराम ने रुस्तम अली को धोखा

देकर बनारस की जमींदारी अपने नाम लिखवा ली और रुस्तम अली को जेल भेज दिया गया। बाद में मनसाराम की मृत्यु के पश्चात् बलवंत सिंह उनकी गद्दी पर बैठे। बलवंत सिंह ने ही खिड़कीघाट और रामनगर के किले का निर्माण करवाया। इनका उपनाम काशिराज था। इन्होंने कई बार अहमद शाह बंगश और अंग्रेजों को पैसे देकर बनारस के लोगों की रक्षा की। तत्पश्चात् बलवंत सिंह की उपपत्नी पन्ना के पुत्र चेतसिंह ने बनारस का कार्यभार संभाला। बाद में हेस्टिंग्स ने चेतसिंह के स्थान पर राजा बलवंत सिंह के नाती महीपसिंह को गद्दी पर बैठाया।

मराठों और बनारस का संबंध भी दिखाई देता है। महाराष्ट्रीय ब्राह्मण काशी आये और यहीं आकर बस गये। बाजीराव प्रथम (1720-1740) के समय बनारस और पूना का संबंध काफी दृढ़ हो चुका था। उस समय सदाशिव नाइक जोशी बनारस के प्रभारी थे। सदाशिव नाइक जोशी के पात्रों से बनारस के घाटों के बारे में जानकारी मिलती है। अपने एक पत्र में वह बनारस के उपद्रव की चर्चा भी करते हैं। सन् 1734 में नारायण दीक्षित पाटणकर बनारस आये। इन्होंने बनारस में तमाम धार्मिक कार्य भी किये।

5 अक्टूबर 1787 ई. को जोनेथन डंकन ने बनारस की रेजिडेंटी का कार्यभार संभाला। डंकन ने सर्वप्रथम बनारस की नवाबी को खत्म करके राजा महीपनारायण को राजकाज का कार्यभार सौंप दिया। डंकन के समय बनारस जिले के ब्राह्मण बड़े उद्दण्ड हो गये थे। डंकन ने ऐसे लोगों के खिलाफ तुरंत कार्यवाही की और बिगड़ी स्थिति को सुधारा। विदेशी हुकूमत से छुटकारा पाने के लिए विद्रोह की आग सुलग उठी। 1795 में डंकन के बनारस से जाते ही अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह भड़क उठा। इस विद्रोह का मुख्य कारण अवध के पदच्युत नवाब वजीर अली थे। इनको अंग्रेजों से काफी घृणा थी। वजीर अली ने बनारस के जगतसिंह और शिवनाथ सिंह के साथ मिलकर बगावत कर दी। वजीर अली के कुछ साथी मारे गये। शिवनाथ सिंह और उनके भी साथी मारे गये। वजीर अली भाग गया और यह बगावत समाप्त हो गयी। इस बीच अंग्रेजी हुकूमत और मजबूत होती गयी। 1809 ई. के

हिन्दू-मुस्लिम दंगों का जिक्र तत्कालीन मजिस्ट्रेट मि. बर्ड ने बिशप हेबर से किया। बनारस में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की जड़ ज्ञानवापी की मस्जिद थी। जिसको लेकर दोनों समुदायों में वैमनस्य चला आ रहा था। 1810 में गृहकर के लिए बनारस वासियों ने अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ धरना दिया। यह बनारस का सर्वप्रथम धरना था। धरने प्राय: ब्राह्मण ही किया करते थे क्योंकि जनमानस में ब्रह्महत्या जैसा कोई पाप नहीं है; ऐसी मान्यता थी जिसका फायदा उठाते हुए ब्राह्मण उपवास कर अपनी बात बनवाते थे। सन् 1857 के विद्रोह के समय बनारस अंग्रेजो का एक प्रसिद्ध अड्डा बन गया था। बाबू कुँवर सिंह की बगावत का थोड़ा-बहुत असर बनारस पर भी पड़ा। परन्तु बनारस सिपाही विद्रोह से बहुत कुछ अछूता ही रह गया था। बनारस के जज गाविन्स ने शहर में शांति व्यवस्था कायम रखी।

अब हमें बनारस के घाट, मंदिर, उत्सव इत्यादि के बारे में भी थोड़ी-बहुत जानकारी कर लेना आवश्यक है। बनारस शहर की उन्नति का श्रेय मराठों को है। मराठों के समय लगभग 1735 ई. के आसपास बनारस में पक्के घाट और ब्रह्मपुरियाँ बनने के संकेत मिलते हैं। जेम्स प्रिंसेप के समय तक बनारस इतना घना नहीं बसा था जितना कि बाद में हुआ। बिशप हेबर ने आरंभिक 19वीं सदी के बनारस का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। हेबर कहते हैं कि "बनारस देखने लायक शहर है और आज तक मैंने जितने शहर देखे हैं उन सबमें यही शहर पूरी तरह से पूर्वी ढंग का है तथा बंगाल के सब नगरों से भिन्न है। शहर में कोई यूरोपियन नहीं रहता। बनारस की सड़कें संकरी होने से पहियेदार सवारियों के लिए बहुत अयोग्य है।...शहर में मकान बहुत ऊँचे हैं और शायद ही कोई दोमंजिले से कम हो, बाकी मकान तीमंजिले और बहुत से तो पाँच या छह मंजिले ऊँचे हैं। सबसे पहले मैंने बनारस में ही यह दृश्य देखा।"[46] हेबर के इस उद्धरण में हमें बनारस के मंदिरों, घाटों, रईसों का रहन-सहन, गरीबों की स्थिति, गलियों इत्यादि का वर्णन मिलता है। इससे बनारस की समृद्धि का अंदाजा लगाया जा सकता है।

इस अध्याय में काशी के इतिहास, मिथक, समाज और संस्कृति के अंतर्गत काशी के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया गया है। काशी के नामकरण तथा वैदिक और पौराणिक युगों से लेकर उन्नीसवीं सदी तक की विकास यात्रा, उसकी समाज और संस्कृति, मिथक, परम्परा पर संक्षिप्त में प्रकाश डाला गया है। काशी और उसके विभिन्न पक्षों को जानने और समझने के लिए यह बहुत आवश्यक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

[1] काशी नगरी एक : रूप अनेक, सं. ओमप्रकाश केजरीवाल, पृ. 1

[2] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र, पृ. 1

[3] वही, पृ. 1

[4] सामाजिकी-4, 1969-70, सं. रमेशचंद्र तिवारी

[5] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र, पृ. 3

[6] वाराणसी वैभव, कुबेरनाथ सुकुल, पृ. 5

[7] वही, पृ. 6

[8] काशी नगरी एक : रूप अनेक, सं. ओमप्रकाश केजरीवाल, पृ. 3

[9] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र, पृ. 3

[10] वही, पृ. 3

[11] 'बहती गंगा' में काशी, वंदना चौबे, पृ. 32

[12] भोग-मोक्ष समभाव- काशी का सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरूप, बैद्यनाथ सरस्वती, पृ. 40

[13] प्राचीन भारत : सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल, द्विजेन्द्र नारायण झा, पृ. 86

[14] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र, पृ. 35

[15] वही, पृ. 36

[16] वही, पृ. 36

[17] वही, पृ. 38

[18] प्राचीन भारत : सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल, द्विजेन्द्र नारायण झा, पृ. 86

[19] काशी का इतिहास, मोतीचन्द्र, पृ. 40

[20] काशी नगरी एक : रूप अनेक, सं. ओमप्रकाश केजरीवाल, पृ. 4

[21] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र, पृ. 41

[22] वही, पृ. 42

[23] काशी नगरी एक : रूप अनेक, सं ओमप्रकाश केजरीवाल, पृ. 4-5

[24] वही, पृ. 5

[25] वही, पृ. 5

[26] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र, पृ. 61

[27] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र से उद्धृत, पृ. 64, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, 3,43, पृ. 193

[28] वही, पृ. 64

[29] काशी नगरी एक : रूप अनेक, सं. ओमप्रकाश केजरीवाल, पृ. 6

[30] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र, पृ. 71

[31] काशी नगरी एक : रूप अनेक, सं. ओमप्रकाश केजरीवाल, पृ. 6

[32] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र, पृ. 77

[33] वही, पृ. 81

[34] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र से उद्धृत, पृ. 81

[35] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र से उद्धृत, पृ. 106

[36] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र से उद्धृत पृ. 106-107

[37] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र, पृ. 123

[38] वही, पृ. 110

[39] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र से उद्धृत, पृ. 112

[40] काशी का इतिहास, डॉ. मोतीचन्द्र, पृ. 150-151

[41] वही, पृ. 153

[42] वही, पृ. 163

[43] वही, पृ. 172-173

[44] मध्यकालीन भारत : राजनीति समाज और संस्कृति, सतीश चन्द्र, पृ. 327

[45] The Visvanath temple was first destroyed in 1194 by Guri's armies. It was rebuilt later, for its existence is recorded in the fourteenth century. There is no consistent record of the kind of

patronage that made possible both the rebuilding of temples as well as the fostering of the learned traditions. In the late fourteenth and fifteenth centuries the temples in the city were destroyed several times and Visvanath was known to have lain in ruins again in the sixteenth century. A reconstruction was undertaken in 1585, at the instance of Akbar's hindu minister Raja Todarmal. In the period there seems to have been sustained patronage of the ritual and learned traditions; both Todarmal and Raja Mansingh supported the religious observances of the city. 1669 the Visvanath temple was razed to the ground again, along with the palatial temple of Bindu Madhava, this time on the order of Aurangzeb, and mosques raised in their stead. Around 1775, the Visvanath temple who to built again on a site adjacent to the mosque, by Ahalyabai of Iandore. The Nationalization of Hindu Traditions, P. 53-54

[46] काशी का इतिहास, मोतीचन्द्र, पृ. 294-295

द्वितीय अध्याय

काशी पर केंद्रित हिंदी उपन्यास : परिचयात्मक विवरण

हिंदी उपन्यास अपने प्रारंम्भिक काल से बहुधर्मी प्रकृति का रहा है। समय के बदलाव के फलस्वरूप इसके स्वरूप में बदलाव होते रहें हैं। आज उपन्यास के विभिन्न आयाम दिखाई दे रहें हैं। स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श के साथ ही सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक स्थितियों का उपन्यासों में खुलकर प्रयोग हो रहा है। इन्हीं विषयों से थोड़ा अलग एक अन्य विषय पर भी कई उपन्यासों की रचना हुई है। वह विषय है शहर/नगर पर केंद्रित उपन्यासों का। शहर/नगर पर केंद्रित उपन्यासों के केन्द्र में काशी, लखनऊ, दिल्ली, कानपुर, इलाहाबाद, गोरखपुर इत्यादि शहर हैं। इन उपन्यासों में उस शहर के विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, तथा राजनीतिक स्थितियों की विवेचना की गयी है। इन्हीं मूल प्रश्नों को ध्यान में रखकर काशी नगर पर केंद्रित हिंदी उपन्यासों का चयन किया गया। इन उपन्यासों के चयन के पीछे काशी नगर के समाज और संस्कृति के बनते बिगड़ते स्वरूप का मूल्यांकन और विश्लेषण करना है।

हिंदी उपन्यासों में काशी/बनारस/वाराणसी को केन्द्र में रखकर उपन्यासों की रचना हुई है। इनमें से कुछ उपन्यास काशी के सम्पूर्ण रूप को दिखाते हैं तथा कुछ अंशतः रूप को। इस प्रकार दो रूप हमारे सामने उभरकर आते हैं (1) काशी पर पूर्णतः केंद्रित हिंदी उपन्यास (2) काशी पर अंशतः केंद्रित हिंदी उपन्यास

(1) काशी पर पूर्णतः केंद्रित हिंदी उपन्यास- इस बिंदु के तहत उन उपन्यासों को शामिल किया गया है जिसमें काशी शहर अपनी संपूर्णता में उपस्थित है। अर्थात् इन उपन्यासों में काशी की सामाजिक-सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिवेश का यथार्थ चित्रण किया गया है। काशी पर केंद्रित हिंदी उपन्यासों के अंतर्गत जैनेन्द्र किशोर कृत 'गुलेनार',

शिवप्रसाद मिश्र 'रूद्र' काशिकेय कृत 'बहती गंगा', शिवप्रसाद सिंह के काशी त्रयी के अंतर्गत आने वाले तीन उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है', 'नीला चाँद' तथा 'वैश्वानर', अब्दुल बिस्मिल्लाह कृत 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया', काशीनाथ सिंह कृत 'अपना मोर्चा' और 'काशी का अस्सी' तथा अजय मिश्र कृत 'पक्का महाल' प्रमुख हैं। इन उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है-

गुलेनार- सर्वप्रथम जैनेन्द्र किशोर कृत 'गुलेनार' की चर्चा आवश्यक है क्योंकि यह काशी शहर पर केंद्रित उपन्यासों में सबसे प्राचीन है। इस उपन्यास का प्रकाशन वर्ष 1907 ई. है। 'गुलेनार' उपन्यास में काशी में रहने वाले उच्चवर्गीय लोगों की जीवन स्थितियों का बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया गया है। साथ ही वहाँ की वेश्याओं के जीवन को भी कथा का आधार बनाया गया है। इस उपन्यास का प्रकाशन काशी से निकलने वाली उपन्यास दर्पण मासिक पुस्तक के सम्पादक बाबू विश्वेश्वर प्रसाद वर्मा ने किया था। ''जैनेन्द्र किशोर कृत 'गुलेनार' की कथा भूमि 'बनारस' है। 'गुलेनार' 'अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' में काम करने वाली कलकत्ते की वेश्या है। कथानायक बनवारीलाल बनारस के एक रईस का लड़का है। कम्पनी बनारस में नाटक दिखाने आती है। बनवारीलाल गुलेनार के चक्कर में पड़कर अपना सबकुछ खो देता है और उसकी पतिव्रता पत्नी आत्महत्या कर लेती है। उपन्यास में तत्कालीन बनारस शहर और उनमें रहने वाले रईसों के जीवन का बड़ा ही सजीव और यथार्थ चित्रण किया गया है।''[1]

उपन्यासकार ने बताया है कि किस प्रकार अंग्रेजी अमलदारी शुरू होने पर रईसों के घरों में फैशन का दौर चला। ''दरवाजों में शीशे और झिलमिली के किवाड़, दरों में जालीलेट के पर्दे, बीच में काले रेशमी झब्बे लटकते हुए, कमरे में ऊँचे आदमकद आईने, झालदार डोरी से खींचे जाने वाले पंखे, बीच में संगमरमर की मेज, चारों ओर फैशनदार कुर्सियाँ, मेज पर बीच में सुन्दर फूलदान, इधर-उधर कलम दावात, ब्लाटिंग पैड, पेपरवेट, कमरों में

किन्दी, अंग्रेजी और बंगला की पुस्तकें, दिवारों पर बड़े-बड़े फोटो, छट से लटकने वाले झाड़।''[2] इसके अलावा वह अपने बैठकखाने की सजावट अलग ढंग से करते थे। ''उस कमरे की लम्बाई-चैड़ाई इतनी होती थी कि सौ-डेढ़ सौ आदमी चैन से बैठ सकते थे। पूरे फर्श पर कालीन की बिछावन, एक ओर बीच में मखमली जरी के काम का गद्दा, मनसद पर सुन्दरता से रखे हुए तकिए, दरों में जरीदार मखमली परदे, जिन पर मोतियों के झब्बे लटकते हुए, छत से लटकते बहुत से कीमती झाड़, दिवारों पर रंग बिरंगी बम्बई काट की दीवारगीरें तथा पूना और फ्रांस की अच्छी-अच्छी तसवीरें, आमने-सामने दो बड़े-बड़े हलब्बी आदमकद आईने, जिससे एक कमरे में कई कमरे नजर आते हैं।''[3]

'गुलेनार' उपन्यास में कथानायक बनवारीलाल और उनके पिता की पीढ़ी के बीच जो अंतर आ गया है, उसका भी चित्रण किया गया है। जहाँ बनवारीलाल के पिता परोपकारी, धर्मात्मा और सुशील स्वभाव के हैं। उनके यहाँ सदैव कोई न कोई पुण्यकाम होता रहता। कोई भी भिखारी उनके यहाँ से खाली हाथ लौटकर नहीं जाता था। वहीं उनका पुत्र बनवारीलाल गुलेनार के चक्कर में पड़कर अपनी सारी संपत्ति खो बैठता है और उसकी पत्नी आत्महत्या करने पर विवश हो जाती है। बनवारीलाल रईस से फकीर बन जाते हैं।

'गुलेनार' उपन्यास में उस समय की नगर-नगर में घूमकर नाटक दिखाने वाली पारसी थियेट्रिकल कंपनियों के अनेक रूप हमारे सामने खुलते हैं। इन कंपनियों की कार्य शैली, तकनीकि, दृश्यों का प्रस्तुतीकरण इतना आकर्षक होता था कि लोगों की भीड़ का अंदाजा नहीं लगाया जा सकता था। ''ये पारसी थियेट्रिकल कम्पनियाँ हिंदी भाषी प्रदेशों में घूम-घूमकर अपने नाटक दिखाया करती थीं। मेलों-ठेलों अथवा नुमाइशों में उनके नाटक हाते थे। कम्पनियाँ नगरों में स्थायी रंगशाला के अभाव में वे अस्थायी रंगशाला बनाने का सारा सामान साथ लेकर चलती थीं। किसी नगर में पहुँचने पर नगर के भीतर या नगर के बाहर लम्बे-चौड़े मैदान या बगीचे में डेरा डालती थीं। कम्पनी का सारा ठाट-बाट पलटन जैसा होता था, पहरेदार, सन्तरी, यहाँ तक की मोची, हलवाई और तम्बोली की दुकान भी

उनके साथ चलती थीं। ऐक्टरों और अन्य रंगकर्मियों के लिए तम्बू, कनात, रावटी और छोलदारियाँ लगाई जाती थी। अंग्रेजी बाजे के साथ शहर में नाटक के इश्तिहार बाँटे जाते थे।"[4]

इस प्रकार 'गुलेनार' उपन्यास में बनवारीलाल का प्रेम में अपना सब कुछ गवाँ देने की कहानी तो है ही साथ में तत्कालीन समय में काशी की सामाजिक व्यवस्था की परतें भी हमारे सामने खुलकर सामने आती है।

बहती गंगा- शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' द्वारा लिखित 'बहती गंगा' का प्रकाशन वर्ष 1952 ई. है। इस उपन्यास में बनारस के 200 वर्षों (1750-1950) की कथा को बड़ी ही बारीकी से उकेरा गया है। इस उपन्यास में कुल 17 कहानियाँ हैं और इनके माध्यम से काशी के परम्परागत स्वरूप से लेकर आधुनिक स्वरूप तक को देखा और समझा जा सकता है। "अत्यन्त सघन भाषा, जीवंत चित्रों और अपनी अनूठी शैली के कारण 'बहती गंगा' आख्यान और किंवदंतियों के एक अद्भुत मिश्रण वाला उपन्यास है। परम्परागत अर्थों में किसी एक केन्द्रिय चरित्र और अनेक कथाएँ मिलकर एक बड़ी कथा का निर्माण करती हैं। बनारस के भावबोध, उसके इतिहास, भूगोल और संस्कृति की यह महागाथा अपनी मानवीय ऊष्मा और वातावरण के प्रति गहन संवेदनशीलता के चलते बेहद मार्मिक बन पड़ी है। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह कि इसका रचनाकार यथार्थ और आदर्श, दंतकथा और इतिहास, मानव-मन की कमजोरियों व उदात्तताओं को इस कुशलता के साथ मिलाता है कि जो तस्वीर बनती है, वह सामान्यतः हमारे पूरे समाज की खरी और सच्ची कहानी कह डालती है।"[5]

'बहती गंगा' उपन्यास में स्त्री पात्रों की एक अच्छी-खासी संख्या है जो आधुनिक स्त्री-विमर्श के पृष्ठभूमि का निर्माण करती हुई प्रतीत होती हैं। दुलारी, गंगा, बेनी, कुसुम और

सुधा ऐसे स्त्री चरित्र हैं जिनकी वीरता, साहस, प्रेम और अक्खड़ता का उदाहरण आज के स्त्री-विमर्श के लिए मिशाल हैं।

इस उपन्यास में 17 कहानियाँ परस्पर स्वतंत्र होते हुए भी एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। इसी आधार पर 'बहती गंगा' एक अलग शिल्प का निर्माण करता है।

अपना मोर्चा- 'अपना मोर्चा' काशीनाथ सिंह का प्रथम उपन्यास है जो सन् 1972 में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास सन् 1968 में पूरे हिंदी भाषी प्रदेश विशेषतः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुए भाषा आंदोलन को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। ''यह आंदोलन 'हिंदी लाओ' नहीं, 'अंगरेजी हटाओ' था। वह अकेला आंदोलन था जिसमें कला, इंजीनियरिंग और मेडिकल के भी छात्र शामिल थे।''[6]

यह उपन्यास युवा आक्रोश को भी सामने लाता है। यह लड़ाई मात्र भाषा आंदोलन की लड़ाई नहीं रह जाती, अपितु अस्मिता के लिए लड़ने वाली लड़ाई हो जाती है। वास्तव में यह उपन्यास व्यवस्था के दोमुँहेपन के साथ समूचे सामाजिक, राजनीतिक उठा-पटक का मूल्यांकन दस्तावेज है। '' 'अपना मोर्चा' इस सत्य को बड़े तीखेपन और दो टूक ढंग से उजागर करके रख देता है कि आज की शिक्षा का लोक-जीवन से तलाक सा हो गया है। आज की हमारी शिक्षा हमारी वर्तमान परिस्थिति से कोई सरोकार नहीं रखती। अतः इसका हमारी चुभती हुई समस्याओं और नये समाज सृजन की महत्वाकांक्षाओं से कोई तादात्म नहीं रह गया है। हमारी शिक्षा, समाज-जीवन से पूरी तरह विमुख है। इसमें लोक-जीवन की समस्याओं का सीधा साक्षात्कार नहीं होता क्योंकि इसमें समाजोन्मुखता नहीं है, बल्कि इसमें जीवन-विमुखता है और नीरसता है। इससे हमारे व्यक्तित्व में बौनापन आता है और उसका सर्वांगीण विकास नहीं होता, चारित्रिक विकास नहीं होता। यह हमारे आत्मविश्वास को क्षय करने वाली, दिलो-दिमाग बुझाने वाली, पौरुष-पराक्रम और अभिक्रम क्षीण करने वाली शिक्षा है। इससे व्यक्ति और समाज एक दूसरे के प्रति अजनबी, पंगु और उदासीन

बन जाते हैं। जहाँ शिक्षा से समाज की समस्याएँ सुलझनी चाहिए वहाँ वह खुद ही पूरे समाज के लिए एक समस्या बनी हुई है।"[7] 'अपना मोर्चा' का चरित्र 'ज्वान' कहीं न कहीं लेखक के ही व्यक्तित्व का दूसरा पहलू है। यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास के अंतर्गत वर्तमान में विश्वविद्यालयों में दी जा रही शिक्षा के ढाँचे के खोखलेपन को उजागर किया गया है।

गली आगे मुड़ती है- शिवप्रसाद सिंह ने काशी को विषय बनाकर तीन उपन्यासों की रचना की है जिसे 'काशी त्रयी' के नाम से जाना जाता है। इन उपन्यासों में आधुनिक काशी, मध्यकालीन काशी तथा प्राचीन काशी के रंग-परिवेश, उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि को कथा का आधार बनाया गया है। इसी श्रृंखला में उनका पहला उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है' 1974 ई. में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में आधुनिक समय में काशी की बदलती दिशा को दिखाया गया है। इस उपन्यास में युवा आक्रोश की भी अभिव्यक्ति हुई है। '"युवा आक्रोश' से जुड़े इस बोध को शिवप्रसाद सिंह ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। वर्तमान शताब्दी के सातवें दशक में विभिन्न कारणों से पैदा हुए छात्र असंतोष और 'अंगरेजी हटाओ' आंदोलन से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ही नहीं, वाराणसी का समस्त शैक्षिक परिसर क्षुब्ध और अशांत था। इस आक्रोश और अशांति का प्रमाणिक और सजीव अंकन शिवप्रसाद सिंह ने 'गली आगे मुड़ती है' में किया है। पर जैसा कि शिवप्रसाद सिंह ने 'भूमिका' में आगाह किया है, गली आगे मुड़ती है केवल युवा आक्रोश पर लिखा उपन्यास नहीं है, इसमें आजादी के बाद नयी शक्ल लेती काशी भी प्रतिबिम्बित है। काशी भारत की एक अत्यन्त प्राचीन नगरी है, जहाँ सारे देश की संस्कृतियाँ एक दूसरे से टकराती और सम्मिश्रित होती रहीं हैं। इसके फलस्वरूप काशी का एक अलग व्यक्तित्व निर्मित हो गया माना जाता है। सातवें दशक में बनारस (वाराणसी) अमरीका से आये हिप्पियों का गढ़ बन गया था, जिसका प्रभाव वहाँ के युवकों पर भी पड़ा था। 1967 में

काशी की गंगा में अभूतपूर्व बाढ़ आयी थी। यह बाढ़ उपन्यास में एक प्राकृतिक आपदा के रूप में ही नहीं युवा पीढ़ी के नये तेवर और अराजक दिग्भ्रम के प्रतीक के रूप में भी चित्रित हुई है। 'गली आगे मुड़ती' है का विजन काशी के इस सम्पूर्ण परिवेश में निर्मित होने के कारण आकर्षक का केन्द्र बन गया है।"[8]

इस उपन्यास का केन्द्रिय पात्र रामानंद तिवारी युवा पीढ़ी का प्रतिनिधि पात्र है। उपन्यास के शुरुआत में आशावादी दिखने वाला रामानंद तिवारी बाद में दर-दर भटकने पर मजबूर हो जाता है। रामानंद का बनारस की गलियों में इधर-उधर भटकना सिर्फ उसी तक सीमित न होकर सम्पूर्ण युवा पीढ़ी के भटकाव को प्रतीकित करता है। बेरोजगारी और भ्रष्टाचार, की शिकार युवा पीढ़ी अपना कोई विजन नहीं तय कर पा रही है। इस संदर्भ में रामानंद तिवारी का स्वयं के बारे में दिया गया व्यक्तव्य उल्लेखनीय है- "मैं जानता हूँ कि मैं निहायत कायर बड़बोला हूँ।...मैं न्याय का पक्ष लेकर अन्यायी का विरोध नहीं कर पाता। मासूम पर हुए अत्याचार को देखकर अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए बगल से निकल जाता हूँ। मेरी आँखों के सामने निहायत भद्दे और वीभत्स कुकृत्य होते रहते हैं, पर मैं गर्जना करना तो दूर, दुम दबाकर खिसक जाता हूँ।"[9] 'गली आगे मुड़ती है' दिन-प्रतिदिन दिशाहीनता का शिकार और महत्वाकांक्षी होती जा रही युवा पीढ़ी का जीवन्त दस्तावेज है।

झीनी-झीनी बीनी चदरिया- अब्दुल बिस्मिल्लाह कृत 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' का प्रकाशन वर्ष 1986 ई. है। इस उपन्यास का केन्द्रिय कथावस्तु बनारस के बुनकरों के अभावग्रस्त जीवन को अपने अन्दर समेटे हुए है। बुनकरों के इस शोषण चक्र में पिसते समाज में हमें मतीन, अलीमुन, इकबाल, रउफ चाचा, नजबुनिया, नसीबुन बुआ, रेहाना, कमरुन, लतीफ, बशीर, अल्ताफ जैसे अनेकों पात्रों से परिचय होता है, जो नारकीय जीवन जीने के लिए विवश करने वाले हालातों से समझौता नहीं करते बल्कि उनसे लड़ना और बदलना चाहते हैं। इस संदर्भ में गोपाल राय लिखते है कि "यह उपन्यास जहाँ बनारस के

बुनकर समाज का प्रमाणिक दस्तावेज है, वहीं उस जीवन का जीता जागता कलात्मक बिम्ब भी है। अब्दुल बिस्मिल्लाह ने बड़ी मेहनत से एकत्र किये हुए ब्योरों को अपनी संवेदना और चिंतन से सिंचित कर एक सजीव संसार में परिणत कर दिया है। उपन्यासकार बुनकरों के जीवन-यथार्थ को पूरी संश्लिष्टता में प्रस्तुत करता है और न केवल उनकी अभावग्रस्त और नारकीय जिंदगी को पूरी भयावहता से खोलता है, वरन् उसमें फैली तमाम कुरितियों, अंधविश्वासों, मजहबी कट्टरपन और साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों को आलोचनात्मक दृष्टि से सामने रखता है। वह बुनकरों की इस दशा के लिए 'गिरस्ता' और 'कोठीवाल' दोनों को उत्तरदायी मानता है और उनकी शोषण प्रक्रिया को सूक्ष्मता के साथ उजागर करता है। इस शोषण से उत्पन्न बुनकरों की नारकीय जीवन स्थिति के चित्रण में कहीं भी उथली भावुकता नहीं दिखाई देती। महाजनी शोषण चक्र में पिसते हुए भी बुनकर संघर्ष का रास्ता नहीं छोड़ते, उनमें शोषण के विरूद्ध एकजुट होकर संघर्ष करने की चेतना जग चुकी है।"[10] यही चेतना उन्हें इकबाल में दिखाई देती है जो अगली पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करने वाला है। पूरा उपन्यास दो खण्डों में विभक्त है। पहला 'ताना खण्ड' और दूसरा 'बाना खण्ड'। इस उपन्यास के 'ताना खण्ड' से 'बाना खण्ड' की जीवन यात्रा में बुनकरों की जीवन स्थितियाँ दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही है। वहीं दूसरी तरफ इन बुनकरों का शोषण करने वाले सम्पन्न लोग और अधिक सम्पन्न होते जा रहे हैं। महाजनी शोषण चक्र में शोषित होते बुनकरों की स्त्रियाँ सारा दिन बनारसी साड़ी बुनती हैं लेकिन उनकी बनारसी साड़ी पहनने की आस मन में ही रह जाती है। इस उपन्यास में बुनकरों के शोषण के भयावह रूप को देखा जा सकता है।

इसके अलावा 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' में अंधविश्वास, धार्मिक कट्टरता और सम्प्रदायवाद की भी आलोचना की गयी है। इस्लाम की रूढ़िवादी मान्यताओं पर भी प्रहार किया गया है। इसके साथ ही स्त्री-मुक्ति की आवाज भी हमें 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' में सुनाई देती है। जहाँ अलीमुन और कमरुन साधरण स्त्रियाँ होते हुए भी स्त्रियों के लिए

बनायी गयी प्रथा 'हलाला' को मानने से इंकार कर देती हैं, यहाँ हम स्त्री-विरोधी स्वर को देख सकते हैं।

नीला चाँद- काशी त्रयी के अंतर्गत शिवप्रसाद सिंह का दूसरा उपन्यास 'नीला चाँद' सन् 1988 में प्रकाशित हुआ। 'नीला चाँद' ऐतिहासिक उपन्यास है और इसमें काशी के मध्यकाल के इतिहास और संस्कृति का गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अगर काशी के मध्यकाल के बारे में जानना हो तो यह उपन्यास एक जीवन्त दस्तावेज के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। शिवप्रसाद सिंह ने स्वयं पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि "मैं मध्यकाल की वह काशी देखना चाहता था जो विदेशी आक्रान्ताओं के पहले थी। मुझे तद्नुरूप किसी ऐसे समय को ढूँढ़ना था जिसने त्रिकंटक को भी हिला दिया हो, जहाँ धगद्-धगद्-धगद्-ज्वलम् के भीतर नन्दीश्वर के ज्योतिर्लिंग ने विशाल स्तम्भ की तरह धरा और आकाश को जोड़ दिया हो। वह समय मिल गया, जब कर्ण कलचुरी ने देववर्मा चन्देल की हत्या की। पूरी जुझौती को रौंद कर कर्णमेरु प्रासाद में अपने चारणों द्वारा नयी विरुदावली सुनी यानी 'कालः कालंजराधिपतये' : कालंजर अधिपति का काल। गाहड़वाल कर्ण के पिता गांगेय दत्त के जमाने से ही मन मसोस कर रह गये, क्योंकि उन्होंने आवश्यक अश्वों और आरोहियों से अपने को सज्जित नहीं किया था। लक्ष्मीकर्ण ने अपने पिता की ही तरह गाहड़वालों को मामूली सामन्त मानकर हमेशा दबाये रखा। उस समय की काशी है यह यानी ईस्वी 1060 की।"[11]

इन्होंने पूरे उपन्यास में 1060 ई. की काशी और उसके पूरे सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ को मूर्तिमान बना दिया है। 'नीला चाँद' में इतिहास के माध्यम से तत्कालीन काशी के जीवन को देखने-समझने का प्रयास किया गया है। 'नीला चाँद' की संक्षिप्त कथा कुछ इस प्रकार है- "इस समय काशी पर दो राजवंशों का शासन था। व्यवहारिक रूप में काशी का शासन कलचुरी राजा कर्णदेव के हाथ में था। किन्तु एक आपसी अनुबन्ध के तहत

(सिद्धान्ततः) गाहड़वाल नरेश चन्द्रदेव भी काशी के राजा माने जाते थे। कर्णदेव ने चन्देल राजा देववर्मा को हरा कर उसका वध कर दिया था। देववर्मा का छोटा भाई कीर्तिवर्मा गाहड़वाल नरेश चन्द्रदेव के पौत्र गोविन्दचन्द (गोविन्द सिंह) को अपने संरक्षण में लेकर जनशक्ति को संगठित करता है और एक सच्चे लोक-नायक के रूप में न केवल जनता को अनेक प्रकार के अत्याचारों से मुक्ति दिलाता है, वरन् कर्णदेव को पराजित कर अपनी वंश-मर्यादा की पुनर्प्रतिष्ठा भी करता है। लेखक ने कीर्तिवर्मा को एक आदर्श एवं प्रगतिशील सामन्त के रूप में प्रस्तुत किया है। इतिहास को मार्मिक और जीवन्त कथा के रूप में प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने रम्य कल्पना का सार्थक और सोद्देश्य प्रयोग किया है। कीर्तिवर्मा का साथ देने वाले गोड़, भील, आदिवासी और नीच जातियों के अनेक पात्र कल्पना की सृष्टि हैं। 'गोमती', 'शीलभद्रा', 'सुनन्दा', 'वसन्ती', 'दक्षिणा' जैसे नारी पात्र भी काल्पनिक हैं, जो अपनी उपस्थिति से कथा को न केवल राग-दीप्त करते हैं, वरन् उसे सार्थक परिणति तक ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। तत्कालीन धार्मिक मतों-बौद्ध-वज्रयानियों, कापालिक तांत्रिकों, नाथ-योगियों, शैवों और वैष्णवों की जीवन चर्या का सजीव अंकन करके लेखक ने पूरे युग की सांस्कृतिक मनोभूमि का यर्थाथ स्वरूप प्रस्तुत किया है।"[12]

'नीला चाँद' में काशी के मंदिरों, ऐतिहासिक स्थानों, भोग विलास करने वाली गणिकाओं तथा वस्त्र-आभूषणों इत्यादि की विस्तार से चर्चा की गयी है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि काशी के मध्यकालीन इतिहास को आधार बनाकर इस उपन्यास में काशी के हर उस पक्ष को उजागर किया गया है जो तत्कालीन समाज में प्रचलित थीं। वर्तमान के आलोक में इतिहास से मुठभेड़ एक साहसी व्यक्ति ही कर सकता है और यह कार्य शिवप्रसाद सिंह ने अपने उपन्यास 'नीला चाँद' के माध्यम से कर दिखाया। इस प्रकार 'नीला चाँद' को महाकाव्यात्मक उपन्यास की संज्ञा दिया जाना बेमानी नहीं है।

वैश्वानर- शिवप्रसाद सिंह द्वारा लिखित 'वैश्वानर' काशी को केन्द्र में रखकर लिखा गया उनका अंतिम उपन्यास है। इसका प्रकाशन वर्ष 1996 ई. है। 'वैश्वानर' में काशी नगर के वैदिक कालीन स्वरूप को दिखाया गया है। वैदिक कालीन समय के समाज और संस्कृति का गूढ़ विवेचन इस उपन्यास में किया गया है। ''वैश्वानर, जो शिवप्रसाद सिंह का अंतिम उपन्यास है, काशी के वैदिककालीन रूप को प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार के अनुसार ऋग्वेद के दशम मण्डल में काशिराज प्रतर्दन का उल्लेख आया है, जिसने राजा बनने के पहले ऋशित्व प्राप्त कर लिया था। प्रतर्दन का पिता दिवोदास और यशस्वी पुत्र अर्लक था। उपन्यासकार ने इस परिवार को केन्द्र बनाकर शौनक, घोर अंगिरस, गालव, सिन्धुजा, धन्वन्तरि, माधवी, दीर्घतम कक्षीवान्, भीमरथ, गोशल, वामदेव, गौतम राम भार्गव, दत्तात्रेय, कार्तवीर्य, अर्जुन, सुमेधा, हेमवर्ण, श्रेष्ठी, सौमित्र, देवाहुति भार्गव, वातोस्म, सुदर्शन, जनक, आदिवैदिक और कल्पित पात्रों की सहायता से एक आकर्षक कथा-संसार की सृष्टि की है, जिसके माध्यम से वैदिक संस्कृति और उसमें काशी की भूमिका का अंकन हुआ है। यथापि 'ज्ञान' इस उपन्यास पर भी छाया हुआ है, पर उपन्यासकार की संवेदना उसे एकदम सपाट होने से बचाती है। तत्सम शब्दों की बहुलता उपन्यास की भाषा को बोझिल तो बनाती है, फिर भी, तनिक गम्भीर मानसिकता के पाठकों के लिए वह दुर्ल्लघ्य नहीं है।''[13]

उपन्यास की कथा इस प्रकार है- हैहव वंशीयों के उपद्रवों से तंग आकर काशी नरेश समेत वहाँ की जनता काशी को छोड़कर जाने का विचार बना रही थी। वहीं वीर धनुर्धर प्रतर्दन लोगों को विश्वास दिलाता है कि हमारे जिन्दा रहने तक काशी पर कोई विजय प्राप्त नहीं कर सकता है। हैहव वंशीयों से प्रतर्दन और उनके सैनिकों का घनघोर युद्ध हुआ। इस युद्ध में प्रतर्दन विजयी हुआ और उसने काशी को हैहव वंशीयों के उपद्रव से मुक्ति

दिलायी। इस उपन्यास में उस समय के जातिगत एवं वंशगत युद्धों का बड़ी ही सजीवता से वर्णन किया गया है।

चूँकि काशी प्राचीन काल से धर्म की नगरी के रूप में विख्यात रहा है। इसलिए 'वैश्वानर' में भी काशी के धर्मिक दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। काशी के मंदिरों की पूजा-पद्धति, अंधविश्वास इत्यादि को बड़ी ही सटीकता से व्यक्त किया गया है। मंदिरों में वीभत्स रूप से दी जाने वाली नरबलि को भी दर्शाया गया है। माधव को राजा के आदेश से मंदिर में उसका सर धड़ से अलग कर दिया जाता है और इसे देवता के चरणों में दी जाने वाली प्रथम पूजा कहा जाता है।

इस उपन्यास में मुण्डा किरातों की सभ्यता, संस्कृति, उनका रहन-सहन तथा उनके गीतों का भी स्पष्ट वर्णन किया गया है। वह मंदिर में नरबलि के अवसर पर ताली बजाते हुए परिधि में घूम-घूम कर नाचने लगते हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि 'वैश्वानर' काशी के वैदिककालीन समाज और संस्कृति का पूरा लेखा-जोखा हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है।

काशी का अस्सी- काशीनाथ सिंह का दूसरा उपन्यास- 'काशी का अस्सी' हिंदी उपन्यास के परम्परागत ढाँचे के टूटने का संकेत देता है। यह उपन्यास सन् 2002 में प्रकाशित हुआ। 'काशी का अस्सी' में पाँच कथाएँ हैं और हर कथा के केन्द्र में अस्सी है। कथा का आरम्भ कबीर के निर्गुण 'देख तमाश लकड़ी का' से होता है जिसमें सब से पहले इस मुहल्ले का मुख्तसर सा 'बायोडाटा' है। दरअसल अस्सी वह खिड़की है जहाँ से लेखकर ने दुनिया दिखाई है।

यह उपन्यास इस दृष्टि से भी उल्लेखनीय है कि काशीनाथ सिंह ने यहाँ भाषा का नया संस्कार किया है। जिसके बारे में स्वयं पुस्तक के प्रारम्भ में कहते हैं, ''अस्सी और भाषा की बीच ननद-भौजाई और साली-बहनोई का रिश्ता है।''[14] उपन्यास के केन्द्र में अस्सी

है और यह अस्सी भी एक चरित्र की तरह इस उपन्यास में अपनी बोली-बानी और पूरी लोक परम्परा के साथ उपस्थित है।

उपन्यास 'काशी का अस्सी' पाँच भागों में विभक्त है। इसका कथानक जहाँ एक दूसरे को प्रभावित करता है वहीं उसे अलग-अलग भी करता है। इसके विषय में समीक्षक प्रफुल्ल कोलख्यान लिखते हैं- '' 'काशी का अस्सी' के विभिन्न प्रसंग विभिन्न समय में लिखे गये हैं और विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। इस विभिन्नता के कारण वह स्वतंत्र रूप में भी अपने आप में पूर्ण हैं लेकिन इनका संदर्भ, पात्र, चिन्ताएँ, शैली और विन्यास एक ही है इसलिए ये सारे विभिन्न प्रसंग एक साथ आकर एकात्म हो गये हैं।''[15]

पक्का महाल- अजय मिश्र का उपन्यास 'पक्का महाल' 2004 ई. में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास बनारस की विभिन्न संस्कृतियों, पर्व-त्यौहारों और रीति-रिवाजों को अपने में समेटे हुए हैं। 'पक्का महाल' अस्सी से लेकर राजघाट तक के गंगा किनारे बसे मुहल्लों की कथा कहता है। 'पक्का महाल' अर्थात पुराना बनारस। इस उपन्यास की कथा सन् 1956 से 1986 तक के बनारस की कथा है। उपन्यास में सेठ मुसद्दीमल, कट्टू गुरु, गिरजा महाराज खेमटा तिवारी, शिवनाथ, रघुनाथ, प्रभुनाथ, लेखराज, शियापति, पुन्नी, मंगला, गौरी बाई, इन्दुबाला, शशिबाला इत्यादि पात्रों के माध्यम से बनारस की मूल संस्कृति के साथ ही आधुनिकता के दबाव से उपजी परिस्थितियों का भी अंकन करता है। "सामंतवादी पैतृक-व्यवस्था के स्थापनाओं में गले तक डूबे हुए समाज की अनिवार्य विसंगतियों, जिन्हें मर्यादा, रीति-रिवाज और कुल परम्परा का नाम देकर बाल-विवाह, बाल-विधवाओं के इर्द-गिर्द वर्जनाओं के रूप में खाद-पानी दिया जा रहा था, को अजय मिश्र ने व्यंग्य और व्यंजना का निशाना बनाया है।...पक्का महाल इस अर्थ में भी विचारणीय है, कि किसी मनुष्य को नायक बनाने की परंपरा तोड़ते हुए शहर बनारस को महानायक के रूप में रखा है। यही वजह है कि कथा की शुरुआत जिस पात्र से हुई है, उस (मुसद्दीमल) की मृत्यु के

बाद भी कथा चलती रहती है और कट्टू गुरु को तमाम पांडित्य, विद्वता, उदात्त चरित्र के बावजूद प्रारम्भ में उसकी ठग-विद्या के कारण और उत्तरार्द्ध में छेदी चौधरी की हत्या में दाऊ महाराज का साथ देने की वजह से नायक नहीं माना जा सकता है।...उपन्यास में पात्रों की बहुतायत है, किन्तु सभी उपन्यास के लिए अनिवार्य है, चाहे झुन्नू गुरु हों या लेखू। इनसे परिवेश समझने में मदद मिलती है।"[16] सम्पूर्ण उपन्यास में बनारस/रामनगर की रामलीला, लोलार्क छठ मेला, बुढ़वा मंगल, नक्क्टैया के मेलों और बनारसी गुंडों का बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है। अजय मिश्र का यह उपन्यास कथ्य और भाषा की दृष्टि से बनारस की समृद्ध परंपरा को हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है।

(2) काशी पर अंशतः केंद्रित हिंदी उपन्यास- यहाँ उन उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है जिसमें काशी शहर का अंशतः चित्रण हुआ है। इन उपन्यासों की कथा संरचना में कहीं-न-कहीं काशी का संक्षिप्त रूप अवश्य मौजूद है परन्तु वह अपने व्यापक परिवेश के साथ उपस्थित नहीं होता है। इन उपन्यासों में मुख्य रूप से जयशंकर प्रसाद कृत 'कंकाल', प्रेमचंद कृत 'रंगभूमि', अमृतलाल नागर कृत 'मानस का हंस', रांगेय राघव के तीन उपन्यास 'लोई का ताना', 'रत्ना की बात' और 'भारती का सपूत', काशीनाथ सिंह कृत 'रेहन पर रग्घू', युवा कथाकार सैयद जैग़म इमाम के दो उपन्यास 'मैं मुहब्बत' और 'दोज़ख़' प्रमुख हैं। इन उपन्यासों के केंद्र में काशी का चित्रण सपूर्णता में तो नहीं है परन्तु एक छोटे अंश के रूप में काशी का सन्दर्भ इन उपन्यासों से अवश्य जुड़ता है। इन उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय निम्न है-

कंकाल- जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित 'कंकाल' उपन्यास का प्रकाशन वर्ष 1930 ई. है। इस उपन्यास में प्रसाद जी यथार्थवादी दृष्टि से समाज की हर सड़ी-गली व्यवस्था पर प्रहार करते हैं। वह समाज की रूढ़िग्रस्त धार्मिकता तथा थोथी नैतिकता का बाना ओढ़े पुरुषों पर करारा व्यंग्य करते हैं। 'कंकाल' उपन्यास का कथा क्षेत्र धार्मिक नगर काशी, हरिद्वार और

वृन्दावन से गुजरता है। वह इन तीर्थ स्थानों में धर्म के नाम पर हो रहे शोषण तथा समाज में प्रचलित अंधविश्वासों का यथार्थ चित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। इस उपन्यास के जितने भी पात्र हैं वह कहीं-न-कहीं चारित्रिक दृष्टि से भ्रष्ट हैं। चाहे वह व्यापारी 'श्रीचंद', मठाधीश 'देव निरंजन', ईसाई बिशप 'बाथम', डाकू 'बदन', अवैध सन्तान 'विजय', सुधारवादी आर्यसमाजी 'मंगलदेव' हो, सब चारित्रिक हीनता के शिकार हैं।

इस उपन्यास में नारी शोषण के प्रश्न को भी उठाया गया है। उपन्यास के स्त्री पात्रों में किशोरी, यमुना, घंटी, लतिका और माला को समाज द्वारा छला जाता है। ''स्त्री के प्रति पुरुष के परम्परावादी दृष्टिकोण पर प्रसाद ने मार्मिक प्रहार किया है। कंकाल में तारा और घंटी समाज के उत्पीड़न की शिकार हैं। वस्तुतः कंकाल की सभी स्त्रियाँ पुरुषों द्वारा किसी न किसी रूप में छली जाती हैं और उन्हें धोखा देने वाले व्यक्ति समाज के तथाकथित भद्र पुरुष हैं। प्रसाद जी ने समाज के दलित-शोषित और पीड़ित वर्ग का चित्रण किया है।''[17] इस उपन्यास की स्त्रियाँ अपना शोषण होता जान कर भी उन पुरुषों को अपना प्यार और समर्पण ही देती हैं।

इस प्रकार 'कंकाल' उपन्यास समाज के हर उस खोखले ताने-बाने को तार-तार कर प्रस्तुत करता है तो समाज के हित में नहीं है। 'कंकाल' में धार्मिक रूढ़ियों, नारी के प्रति शोषण, छूआछूत, बाह्याडंबर, अंधविश्वास पर करारा व्यंग्य किया गया है। 'कंकाल' उपन्यास के फ्लैप पर लिखे शब्दों पर ध्यान दे तो सारी बातें स्पष्टतः हमारे सामने खुलकर आ जाती हैं। ''कहना न होगा कि करीब पचपन वर्ष पूर्व इस उपन्यास के पृष्ठों में अंकित प्रसाद जी के ये शब्द भारतीय समाज के संदर्भ में आज भी प्रासंगिक हैं। संक्षेप में, उनका यह महत्वपूर्ण उपन्यास धर्म के नाम पर होने वाले शोषण और स्त्रियों के प्रति अमानवीय व्यवहार को गहन संवेदनशीलता से उद्घाटित करता है, धर्म-संस्थाओं, अन्धविश्वासों, कपटाचरण और भेदभाव के विरुद्ध कितने ही तीखे प्रश्न उठाता है या कहें

कि भारतीय समाज की सड़ाँध पर पड़ी राख को खुरचता है; और कुछ इस कौशल से कि हमारा हृदय लोकमंगल की भावना से भर उठता है- एक ऐसी आध्यात्मिकता से जो हमें वास्तविक अर्थों में रूढ़िमुक्त करती है और युगीन सच्चाइयाँ हमारे भीतर आतंरिक वास्तव सहित उतरती चली जाती हैं।"[18]

रंगभूमि- प्रेमचंद के उपन्यास 'रंगभूमि' का प्रकाशन 1925 ई. में हुआ। इस उपन्यास में 'पांडेपुर' का चित्रण किया गया है। "दरअस्ल 'रंगभूमि' एक उपन्यास है। वह राष्ट्रीय जीवन के विविध पहलुओं का अलग-अलग दस्तावेज नहीं है वरन् इन विविध पहलुओं से बने संश्लिष्ट राष्ट्रीय जीवन का दस्तावेज है, यह दस्तावेज तथ्यों का ही नहीं वरन् मानवीय अनुभवों, अन्तस्संबंधों तथा मूल्यचेतना का है। राष्ट्रीय जीवनगत सम्पूर्णता और संश्लिष्टता की सृष्टि के लिए आवश्यक है कि एक केन्द्रवर्ती कथा की निर्मिति की जाए। वह केन्द्रवर्ती कथा ही अपने विकास क्रम में जीवन के अन्य पक्षों का प्रतिनिधित्व करने वाली कथाओं से जुड़ती है, सघनता और फैलाव प्राप्त करती चलती है। 'रंगभूमि' के केंद्र में पांडेपुर गाँव है तथा इस गाँव के माध्यम से मुख्य समस्या उभरती है- औद्योगीकरण की। गाँव का केन्द्रवर्ती पात्र सूरदास है जो स्वभावतः पूरे उपन्यास का नायक बन गया है। जानसेवक अपने कारखाने के सिलसिले में उस गाँव को खाली कराकर हथियाना चाहते हैं और सूरदास इसका विरोध करता है। यही केन्द्र बिंदु पूरे उपन्यास में संघर्ष बनकर छा जाता है और अन्य राष्ट्रीय समस्याएँ इससे जुड़कर एक बहुआयामी यथार्थ की सृष्टि करती हैं।"[19] चूँकि पांडेपुर काशी में ही अवस्थित है, इसलिए काशी का कुछ रंग इस उपन्यास में भी दिखाई देता है। प्रेमचंद को जब भी मौका मिला है उन्होंने धर्म पर करारी चोट की है। पूँजीवाद और औद्योगीकरण के ताने-बाने में मिश्रित यह उपन्यास अत्यंत महत्वपूर्ण बन पड़ा है।

मानस का हंस- अमृतलाल नागर के उपन्यास 'मानस का हंस' का प्रकाशन वर्ष 1972 ई. है। इस उपन्यास में गोस्वामी तुलसीदास के जीवन को आधार बनाया गया है। इस संदर्भ

में रामदरश मिश्र लिखते हैं कि " 'मानस का हंस' एक सार्थक और विशिष्ट उपन्यास है, इसलिए इसे मात्र तुलसी की प्रमाणिक जीवनी के उपन्यास के रूप में पढ़कर संतोष नहीं करना चाहते, हम उन बिन्दुओं की तलाश करना चाहते हैं जो तुलसी के जीवन पर आधारित इस उपन्यास को ऐतिहासिक दस्तावेज बनने से बचाकर एक ऐसी सर्जनात्मक कृति का रूप दे सके हैं जो आज के पाठक के लिए भी प्रासंगिक है। इसी प्रासंगिकता के लिए लेखक ने तुलसी को वह रूप दिया है जिसे ऐतिहासिक दृष्टि या धार्मिक दृष्टि से स्वीकार्य नहीं भी कहा जा सकता।...'मानस का हंस' में तुलसी के मन में चलनेवाला राम और काम का द्वद्व तुलसी के व्यक्तित्व को अधिक मानवीय और प्रासंगिक बनाता है, दूसरी ओर उसके जीवन का आर्थिक अभाव, अपमानपूर्ण स्थितियाँ, छोटी जाति की पार्वती द्वारा उनका पालन-पोषण, सतत-भटकाव, धर्म और समाज की विकृत और गलीज वास्तविकताओं का साक्षात्कार, सामाजिक और सांप्रदायिक रूढ़ियों तथा विडम्बनाओं का दंश और टकराहट आदि ऐसी परिवेशगत सच्चाइयाँ हैं जो आज भी व्याप्त है और जिनका हम साक्षात्कार करते रहते हैं।"[20] तुलसी के जीवन का संबंध काशी शहर से रहा है, इसलिए 'मानस का हंस' में काशी के अंशतः रूप का यथार्थ चित्रण भी किया गया है।

लोई का ताना, रत्ना की बात, भारती का सपूत- रांगेय राघव का उपन्यास 'रत्ना की बात' में तुलसीदास, 'लोई का ताना' में कबीर और 'भारती का सपूत' में भारतेंदु हरिश्चंद्र के जीवन को केंद्र में रखा गया है। इन तीनों उपन्यासों का प्रकाशन वर्ष 1954 ई. है। चूँकि इन तीनों व्यक्तियों का संबंध काशी से रहा है, इसलिए सक्षिप्त रूप में ही सही परंतु इन उपन्यासों में काशी के परिवेश का चित्रण हुआ है।

रेहन पर रग्घू- काशीनाथ सिंह का उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में काशी शहर के अशोक नगर कॉलोनी का चित्रण हुआ है। इस उपन्यास के संदर्भ में अखिलेश ने लिखा है कि "'रेहन पर रग्घू' प्रख्यात कथाकार काशीनाथ सिंह की रचना-यात्रा का नव्य शिखर है।

भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप संवेदना, संबंध और सामूहिकता की दुनिया में जो निर्मम ध्वंस हुआ है- तब्दीलियों का जो तूफान निर्मित हुआ है- उसका प्रामाणिक और गहन अंकन है 'रेहन पर रग्घू'। यह उपन्यास वस्तुतः गाँव, शहर, अमेरिका तक के भूगोल में फैला हुआ अकेले और निहत्थे पड़ते जा रहे समकालीन मनुष्य का बेजोड़ आख्यान है।...उपन्यास में केंद्रीय पात्र रघुनाथ की व्यवस्थित और सफल जिंदगी चल रही है। सब कुछ उनकी योजना और इच्छा के मुताबिक। अचानक कुछ ऐसा घटित होता है कि उनके जीवन के अर्जित यथार्थ इतना महत्वाकांक्षी, आक्रामक, हिंस्र है कि मनुष्यता की तमाम सारी आत्मीय, कोमल अच्छी चीजें टूटने-बिखरने, बर्बाद होने लगती हैं। इस महाबली आक्रान्ता के प्रतिरोध का जो रास्ता उपन्यास के अंत में अख्तियार किया गया है, वह न केवल विलक्षण और अचूक है बल्कि 'रेहन पर रग्घू' को यादगार व्यंजना से भर देता है।...'रेहन पर रग्घू' नए युग की वास्तविकता की बहुस्तरीय गाथा है। इसमें उपभोक्तावाद की क्रूरताओं का विखंडन है ही, साथ में शोषित-प्रताड़ित जातियों के सकारात्मक उभार और नयी स्त्री शक्ति एवं व्यथा का दक्ष चित्रांकन भी है। दरअसल 'रेहन पर रग्घू' में वास्तविकताओं, चरित्रों, लोकेल, उपकथाओं आदि का ऐसा सधा अकाट्य अन्तर्गुम्फन है कि उसे एक प्रौढ़ रचनात्मकता के रूप में दर्ज किया जाना चाहिए। देशज सच्चाइयों, कल्पना, काव्यात्मकता, झीनी दार्शनिकता का सहमेल उपन्यास को मुल्यवान आभा से समृद्ध बनाता है। संक्षेप में कहे, 'रेहन पर रग्घू' बीते दो दशक के यथार्थ का ऐसा औपन्यासिक रूपांतरण है जो काशीनाथ सिंह और हिंदी उपन्यास दोनों को एक नयी गरिमा प्रदान करता है।"[21] इस दृष्टि से इस उपन्यास में काशी के अंशतः रूप के अनेक चित्र दिखाई देते हैं।

मैं मुहब्बत, दोज़ख़- सैयद जैगम इमाम के उपन्यास 'मैं मुहब्बत' की कथा का विस्तार काशी से शुरू होकर दिल्ली तक जाता है। इस उपन्यास में हिन्दू मुस्लिम संबंधों की कथा कही गयी है। वहीं इनका दूसरा उपन्यास 'दोज़ख़' की कथा भूमि चंदौली और काशी है।

“असल में दोज़ख़ उपन्यास की कहानी के बहाने भारतीय समाज के उस धार्मिक ताने-बाने को उकेरने की कोशिश की गई है जो मजहब और नफ़रत की राजनीति के उभरने से पहले देश के शहरों और कस्बों की विरासत था, जहाँ मुसलमान अपने धर्म के प्रति इस तरह बचाव की मुद्रा नहीं होते थे, जैसे आज हैं। उपन्यास का नायक अलीम अहमद उर्फ़ अल्लन उसी माहौल का रूपक रचता है और अपनी सहज और स्वतःस्फूर्त धार्मिकता के साथ हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों की सीमाओं के परे चला जाता है। उपन्यास में कम उम्र में होनेवाले प्रेम की तीव्रता, एक मुस्लिम परिवार की आर्थिक तंगी, पीढ़ियों के टकराव और एक बच्चे के मनोविज्ञान का भी बखूबी अंकन हुआ है।”[22]

इतना तो स्पष्ट है कि इन सारे उपन्यासकारों की आवाजाही काशी में होती है। इस दृष्टि से ये सारे उपन्यास काशी के अंशतः रूप को अपनी कथा संरचना में समेटे हुए हैं। इस कारण से यह उपन्यास भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

---

[1] हिंदी का गद्य साहित्य, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ. 152

[2] प्रेमचन्द-पूर्व के हिंदी उपन्यास, ज्ञानचन्द जैन, पृ. 267

[3] वही, पृ. 268

[4] वही, पृ. 269

[5] बहती गंगा, शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', फ्लैप से उद्धृत

[6] अपना मोर्चा, काशीनाथ सिंह, पृ. 5

[7] अपना मोर्चा : युवा मानसिकता का तापमान, जगदीश नारायण श्रीवास्तव, पृ.94

[8] हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 307

[9] गली आगे मुड़ती है, शिवप्रसाद सिंह, पृ.

[10] हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 382

[11] नीला चाँद, शिवप्रसाद सिंह, भूमिका 'सिर्फ एक मिनट' से उद्धृत

[12] हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, पृ. 207

[13] हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 309

[14] काशी का अस्सी, काशीनाथ सिंह, पृ. 11

[15] आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर, 2001 जनवरी-मार्च 2002, पृ. 44

[16] लमही, जुलाई-सितम्बर, 2008, पृ. 27

[17] हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 151

[18] कंकाल, जयशंकर प्रसाद, फ्लैप से उद्धृत

[19] हिंदी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा, रामदरश मिश्र, पृ. 45

[20] हिंदी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा, रामदरश मिश्र, पृ. 228

[21] रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, फ्लैप से उद्धृत

[22] दोज़ख़, सैयद जैग़म इमाम, फ्लैप से उद्धृत

तृतीय अध्याय

बीसवीं सदी का गतिशील भारत और काशी का समाज

'गुलेनार' बीसवीं सदी के आरंभिक दशक में जैनेन्द्र किशोर द्वारा लिखा गया एक सामाजिक उपन्यास है। उपन्यास की कहानी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में काशी के मध्यवर्गीय रईस परिवार से ताल्लुक रखने वाले बनवारीलाल के इर्द-गिर्द बुनी गयी है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं सदी के आरंभिक दशक तक काशी की सामाजिक स्थितियों में क्या-क्या परिवर्तन होता है, इसका वर्णन लेखक ने बखूबी किया है।

काशी में कपड़े का व्यापार हमेशा से प्रसिद्ध रहा है। यहाँ के बने कपड़ों की प्रसिद्धि देश-विदेश तक फैली हुई है। लेखक ने उस समय की काशी के कपड़ों के व्यापार की स्थिति बताते हुए कहता है कि "कपड़ों का व्यापार तो आकाश तक पहुँचा हुआ था, जो मखमल चार आने गज साधारण रीति से बिकती थी यदि चार बेठनों में लपेट कर ग्राहक को दिखाई गई तो चौगुने दस गुने नफे पर बिक गई, गोया बेठनों के दाम मिलते थे।"[1] यानि की कपड़ों के व्यापार में मुनाफा ही मुनाफा था। यद्यपि चौगुने, दस गुने दाम में कपड़ा बेचा जाता था लेकिन उपन्यासकार की यह बात आज भी काशी के वस्त्रों के सन्दर्भ में बिल्कुल सही जान पड़ती है कि "विलायत में अभी तक कोई कपड़े ऐसे नहीं बनते हैं कि जिसकी सुन्दरता और दामों में बनारसी पोत कि नखाब के आगे आँख भी बराबर कर सके ! बीस रूपये से बीस हजार रूपये तक के थान आज के दिन भी काशी में तैयार होते हैं।"[2] बनवारीलाल के बाबा की कपड़े की दुकान थी, इसी से आगे चलकर बनवारीलाल के पिता अपने दोनों बेटों गिरधारीलाल और बनवारीलाल के लिए जायदाद के रूप में लाख-लाख रूपये की संपदा, पचास हजार रूपये नगद, पचास हजार साल की आमदनी वाली संपत्ति छोड़ गए थे। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण बीसवीं शताब्दी में व्यापार के क्षेत्र में काशी के वस्त्र व्यापार की खासी धूम रही।

प्रारम्भ में ही बनारस के 'ठग' या यूँ कहूँ कि धोखाधड़ी से पैसा अपनी जेब में करने के धंधे से भी लोग बखूबी परिचित रहे हैं। बनवारीलाल की दोस्ती का दम भरने वाले जमुना चौबे, केशव कलवार, निजामुद्दीन सरोदियें और श्यामबिहारी आए दिन बनवारीलाल को किसी न किसी बहाने लूटते रहते हैं। वे झूठी कहानियाँ गढ़कर उससे पैसा ले लेते हैं। "बनवारीलाल एक खानदानी रईस का सीधा-साधा लड़का था। इसको चोरों की चाल की घातों का क्या पता चलता।"[3] काशी में इस तरह की धोखाधड़ी आम बात रही है।

तत्कालीन समय में काशी की कानून व्यवस्था बेहद कमजोर थी। क्योंकि स्वयं कानून के रखवाले दरोगा जैसे लोग ठगी और धोखाधड़ी में हिस्सेदार होते थे। पुलिस वालों द्वारा ली जाने वाली रिश्वत के विषय में उपन्यासकार ने प्रकाश डाला है। बनवारीलाल के तथाकथित मित्र जमुना चौबे एक बार अल्फ्रेड थियेटर में बेटिकट नाटक देखने घुस गए और पुलिस ने उन्हें हवालात में डाल दिया। जमुना चौबे ने बनवारीलाल को भी किसी न किसी तरह लपेटे में ले लिया। अब दरोगा के पास बनवारीलाल से रिश्वत के तौर पर पैसे ऐंठ लेने का भरपूर मौका था, दरोगा के शब्दों में "जनाब चौबे से तो जादे आपका ख्याल है, मैं वह दरोगा नहीं जो रईसों की आबरू बिगाड़ देते हैं, जिनकी बरकत से यह मोहकमे का मोहकमा बदनाम हो गया है। पर आप जानते हैं कि काम तो हाथ ही करेगा।"[4] 'काम तो हाथ ही करेगा' यानि कि सीधे-सीधे रिश्वत की बात। बनवारीलाल तो थे सीधे-साधे, उन्हें यह बात समझ में नहीं आई लेकिन "श्यामबिहारी आँख के अंधे गाँठ के पूरे बनवारी को अलग उठा के गया, भली-भाँति चढ़ाव-उतार, आकाश-पाताल दिखा कर चार हजार में मामला तै करने की आंट रक्खी, दरोगा को दो हजार में राजी कर लिया और 2000 दबा रक्खे, दरोगा ने 500 और भी श्यामबिहारी को हिस्से को दिए 150 दहेंकी के मिले, आज श्यामबिहारी ने भारी जमा हाथ लगाई। बात ही बात में 2650 हाथ लगे। दरोगा ने चौबे की रिहाई कर दी, मामला जरा बना दिया गया, रिपोर्ट के संग फारम 'c' काट दिया, बनवारी

ने घर जाकर तुरंत रूपये कोठी से मंगाकर रात ही को श्यामबिहारी के हाथ कोतवाली में भेंज दिये, चौबे को छुड़ाकर श्यामबिहारी साथ लाये, राह में चौबे ने कहा- यार तुम्हीं अच्छे रहे तमाशा भी देखा हाथ भी गर्माया।"[5] एक तरफ तो कानून व्यवस्था के पैरोकार रईसों से पैसा ऐंठ रहे थे, दूसरी तरफ श्यामबिहारी जैसे तमाम लोग थे जो पुलिस वालों के बिचौलिए थे और पुलिस को रिश्वत दिलाने के साथ-साथ बेहद सफाई से अपनी जेब भी भर रहे थे। यदि रिश्वतखोरी के इस सन्दर्भ को आज के भारतीय परिवेश में देखा जाए तो यह सम्पूर्ण देश के विभिन्न महकमों में किसी काम को सफल बनाने का जैसे आसान जरिया है। काशी भी इससे भिन्न नहीं है।

जैसा कि पहले भी उल्लिखित किया जा चुका है कि काशी में अल्फ्रेड थियेट्रिकल कंपनी अपने नाटकों का मंचन किया करती थी। धीरे-धीरे इन नाटकों में नायिका का किरदार वेश्याएं निभाने लगीं, जैसा कि ज्ञानचंद्र जैन लिखते हैं "आरंभ में पारसी थियेट्रिकल कंपनियों में स्त्री पात्रों की भूमिका भी पुरुष करते थे। इसके लिए खूबसूरत छोकरे भर्ती किये जाते थे। उन्हें स्त्रियों की तरह लम्बे-लम्बे बाल रखने पड़ते थे। 1903 के आसपास इन कंपनियों में स्त्री पात्रों को भूमिका में लेडियों (अधिकांशतया वेश्याओं) को उतारने का चलन चला।...स्त्री-पात्रों की भूमिका में वेश्याओं के प्रवेश से इन कंपनियों में काम करने का वातावरण और भ्रष्ट हुआ।"[6] अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी में काम करने वाली गुलेनार भी एक वेश्या थी। "गुलेनार एक कलकत्ते की रहने वाली वेश्या थी, कुछ दिन पहले यह मछुआ बाजार में अपना पेशा करती थी। अपने फन की बड़ी काइयां थी। रण्डीपन में अच्छी-अच्छी रण्डियां इससे सबक ले जाती, कलकत्ते में इसने बड़ा नाम मारा था।....जब अल्फ्रेड कम्पनी कलकत्ते में खेल दिखा रही थी, तब जेमसेरजी गुलेनार पर मोहित हुये, बड़ी दौलत इसके पीछे फूंकी अंत में 500 माहवारी पर लगी। इसकी बदौलत कम्पनी का सितारा चमक गया। जहाँ गये शहर को लूट लिया। हजारों घर तबाह कर डाले। लाखों को

पागल बना छोड़ा। आज काशी पर हाथ फेर रहे हैं।"[7] गुलेनार ने काशी में भी खूब धूम मचाई और बहुत कम समय में वह अपनी खूबसूरती और फन के बल पर बनवारीलाल जैसे रईस की चहेती बन गई। बनवारीलाल ने यह इच्छा श्यामबिहारी को बताई। श्यामबिहारी ने बनवारीलाल से पैसा ऐंठने का सही मौका देखकर यह ठान लिया कि "किसी तरह गुलेनार को थियेटर से उड़ा लाना चाहिए। फिर तो दसों उंगली घी में है। ऐसा भी सरदार मिले, बड़ा आदमी काहे को अल्लाह मियां की गाय है। देखो दस हजार तो इस काम के लिये खर्चा लाया हूँ- अगर सोने की चिड़िया हाथ आ गई तो जन्म भर चैन ही लिखता है।"[8] तात्पर्य यह कि स्त्री उपभोग की वस्तु और पैसा कमाने का जरिया मात्र है। गुलेनार को बनवारीलाल उपभोग की वस्तु और श्यामबिहारी पैसा कमाने का जरिया समझता है। भले ही गुलेनार नाटक कम्पनी में काम करने से पूर्व वेश्यावृत्ति के पेशे से जुड़ी रही हो, लेकिन स्त्री के सन्दर्भ में यदि पुरुष दृष्टि की बात की जाए तो आरम्भ से ही वह उपभोग की वस्तु और मनबहलाव का साधन मानी जाती रही है। आज के तथाकथित आधुनिक समझे अथवा कहे जाने वाले समाज में भी स्त्रियों की स्थिति अधिकांश मायनों में जस की तस बनी हुई है। आए दिन हो रही बलात्कार की घटनाएं, स्त्री-व्यापार और कन्या भ्रूण हत्याएं इसका पुख्ता प्रमाण है। उपन्यास में रात के अंधेरे में सोती हुई गुलेनार को उठा कर बनवारीलाल के घर पहुँचा देना पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण का ही परिचायक है।

यह बात ध्यान देने की है कि गुलेनार पहले एक वेश्या रह चुकी थी और अब नाटक की नायिका के रूप में अपने फन में माहिर थी। यद्यपि बनवारीलाल ने गुलेनार को अपने उपभोग और मनबहलाव के लिए कब्जे में लिया था। लेकिन गुलेनार के द्वारा भी "बनवारी की हजामत उलटे अस्तुरे से बनाई गई ! उसी रात को हजार रूपया माहवारी करा लिया, हर तरह से बनवारी बाबू चौपट हुये, गुलेनार ने हठ और कसम से इनको थोड़ी सी शराब भी पिलाई, इज्जत मर्य्यादा और सहन के साथ ही अनमोल धर्म भी धूल में मिल गया !

नशे की हालत में बनवारी बाबू ने हजार रूपया माहवारी भी लिख दिया, एक बनारसी साड़ी भी नजर किया।"[9] गुलेनार के जरिये उपन्यासकार ने तत्कालीन समय में काशी में वेश्याओं के दबदबे का वर्णन किया है। घर में पत्नी के रहते हुए भी काशी के अमीर इन वेश्याओं पर खूब पैसा लुटाते थे। दूसरे शब्दों में कहूँ कि वेश्याओं को खूब तवज्जो दी जाती थी और वे इसका भरपूर फायदा उठाती थीं। जैसा की गुलेनार द्वारा अपने नायक को लिखे पत्र से साफ जाहिर होता है, वह लिखती है "एक आंख का अंधा गांठ का पूरा अमीरजादा हम पे जी जान से फरेफता है, यह सोने की चिड़िया नसीबों से हाथ आई है। जेमसेर जी पुराने पुराने दुमकटे से पीछा छूटा। अब नया आशिक हाथ आया है। जब तक हम लोगों को नया ग्राहक नहीं मिलता पूरा मोनाफा नहीं होता है। थियेटर से दूनी तनखाह तो आज ही हो गई। मैं तुम्हारे सर की कसम खाती हूँ कि बिना लगोटी में फाग खिलाये पिंड नहीं छोड़ूंगी। मैं बहुत जल्द तुम्हारे पास आऊंगी, क्योंकि यह न जादे दिन चलने वाली। थोड़े ही दिनों में सफाया जानना।"[10] स्पष्टतः उपन्यासकार ने गुलेनार के जरिए काशी में तमाम पारसी थियेट्रिकल कंपनियों में काम कर रही वेश्याओं के द्वारा अमीरों को लूटे जाने का वर्णन किया है। इसके साथ ही उपन्यास में बनारस के दालमण्डी क्षेत्र का वर्णन भी किया गया है। यह क्षेत्र पुराने समय से ही कोठों और वेश्याओं के लिए जाना जाता रहा है। इस क्षेत्र विशेष का एक प्रसंग उपन्यास में देखा जा सकता है "बनारसी रंगीले छबीले गुण्डे दुकच्छी धोती और आगासाही कुरते पहरे सर पर तिर्छी टोपी डांटे महावीरी टीका लगाये हाथ में डंडा लिए आपस में चुहलबाजियाँ करते हुए डोल रहे हैं, दाल की मंडी में चक्कर पर चक्कर लगा रहे हैं, और बोली ठोली आवाजे तवाजे कसते जाते हैं, नाजनीनपरी सूरत रंडियां अपना 2 सिंगार निखार कर, कंघी चोटी से लैस, मिस्सी की घड़ी आंखों में सुरमा लगाए, सजधज से बनठन के बड़े ठस्से से झरोखों में बैठी 2 नैनबान चलाकर कामियों का हृदय बेध रही हैं; मनचले यार लोग गजरे का हार मालियों से मोल ले लेकर कोठों पर भिजवा रहे हैं। फूलवाले गजरे, हार, मोहनमाला के एक के चार-चार दाम लेकर आँख के अंधे कामियों को

लूट रहे हैं।"[11] इस प्रकार उपन्यासकार ने उस समय काशी में वेश्याओं द्वारा किये जा रहे देह व्यापार का वर्णन किया है। आज सिनेमा के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप थियेटर कंपनियों का प्रभाव काफी कम हो गया है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद के प्रभाव से आज काशी भी अछूती नहीं रह गई है। बेहद शांत और सरल मानी जाने वाली काशी नगरी में भी आज बड़े-बड़े मॉल और तमाम सुविधाओं से युक्त सिनेमाघरों की धूम मची हुई है। समृद्ध दृश्य-श्रव्य तकनीकी के चलते नाटक मण्डलियों अथवा नाटक कंपनियों का प्रभाव अब उस रूप में नहीं रह गया है जैसा कि बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में रहा करता था। यदि आज काशी में वेश्यालयों की बात की जाए तो वर्तमान में कोठों का स्वरूप वही नहीं रह गया है जो पुराने समय में हुआ करता था। आज के भूमंडलीकृत युग में इन कोठों अथवा वेश्यालयों का स्वरूप बदल चुका है। कानूनन कोठों पर पाबन्दी लगाए जाने के कारण अब अनेक औरतें 'बार' जैसी जगहों पर नाचने-गाने का काम करती हैं, जहाँ बेहद सूक्ष्म ढंग से किसी न किसी प्रकार देह व्यापार का कार्य भी आसानी से लिया जाता है।

वेद और पुराणों में काशी का वर्णन पवित्र धार्मिक स्थल के रूप में किया गया है। काशी में लोग शांति पाने के लिए आते हैं। साधु-महात्माओं और फकीरों की यह नगरी बीसवीं शताब्दी में वैसी ही नहीं रह गई है जैसी कल्पना इस शिव नगरी के बारे में की जाती है। केशव जैसे लोगों की भी यहाँ अब कमी नहीं है- "केशव काशी के गुण्डों में है। कई बार जेलखाने की सैर भी कर आया है। डंडपेल जवान अपनी जवानी की उमंग में अकड़ा है। अगर इसका पेट भर दिया जाये तो खून भी करने में कोताही न करे। न जाने कितनों की गर्दन पर छुरे साफ करके बैठा है।"[12] निःसंदेह आज जीवन स्थितियाँ पहले की अपेक्षा अधिक जटिल और दुरूह होती जा रही हैं। ऐसे में सहज और शांत समझी जाने वाली काशी की युवा पीढ़ी में किसी न किसी प्रकार से हिंसा अपनी पैठ बनाने में कामयाब हो रही है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण बीसवीं शताब्दी कई उतार-चढ़ाव के दौर से गुजरी है। देश को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति मिली है और फिर एक बार नए सिरे से देश को बचाने और संवारने की जिम्मेदारी भी। यद्यपि काशी प्राचीन काल से ही धर्म और आध्यात्मिकता की नगरी मानी जाती रही है, शास्त्रों और पुराणों में इस नगरी का विषद वर्णन देखा जा सकता है। लेकिन बीसवीं सदी में हुए तमाम आरोह-अवरोह और परिवर्तन के कारण काशी के सामाजिक जीवन में कई सारे बदलाव देखने को मिलते हैं। उनमें से कुछ परिवर्तनों का वर्णन उपन्यासकार ने 'गुलेनार' उपन्यास में किया है। यह उपन्यास बीसवीं सदी के गतिशील भारत में काशी की सामाजिक स्थितियों का संक्षिप्त ब्यौरा प्रस्तुत करता है।

'अपना मोर्चा' उपन्यास काशी में स्थित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के परिवेश के ताने-बाने में बुना गया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी का एक महत्वपूर्ण विश्वविद्यालय है। यहाँ की छात्र राजनीति, भाषा आंदोलन में इसकी भूमिका, शिक्षकों की आपसी खींचतान और राजनीति के बेहद सुंदर चित्र 'अपना मोर्चा' में दिखाई देता है। इस तरह की समस्याएं सिर्फ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तक ही सीमित नहीं रहती हैं बल्कि वह पूरे काशी या उससे भी अधिक विस्तार कर सम्पूर्ण भारत की हो जाती हैं। इस दृष्टिकोण से 'अपना मोर्चा' का विशेष महत्व है।

'अपना मोर्चा' उपन्यास के प्रारम्भ में ही बता दिया गया है कि इस उपन्यास में भाषा आंदोलन और उसके खिलाफ उठ खड़े हुए आंदोलन को अपना प्रमुख विषय बनाया गया है। "पिछली शताब्दी के मेरे पचास साल गुजरे हैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में ! 1953 में छात्र हुआ और 65 में हिंदी विभाग में अध्यापक ! जब तक छात्र संघ था तब तक हर साल छोटे-बड़े आंदोलन हुए ! लेकिन सबसे बड़ा आंदोलन हुआ 'राजभाषा संशोधन विधेयक' के खिलाफ सन् 67 में ! यह आंदोलन 'हिंदी लाओ' नहीं, 'अंगरेजी हटाओ' था !

वह अकेला आंदोलन था जिसमें कला, समाजशास्त्र, विधि, संस्कृत, वाणिज्य के ही नहीं; विज्ञान, इंजीनियरिंग और मेडिकल के भी छात्र शामिल थे ! कारण यह था कि इसका नेता अहिंदी भाषी बंगाली और इंजीनियरिंग का विद्यार्थी था।

यह आंदोलन पूरे उत्तर भारत के विश्वविद्यालय और कॉलेजों में फैल गया था जिसकी अगुवाई विश्वविद्यालय का लोहियावादी समाजवादी छात्रसंघ कर रहा था ! नगर में रोज जुलूस निकल रहे थे और दुकानों पर अंग्रेजी में लिखे 'होर्डिंग्स', और 'साइनबोर्ड' तोड़े जा रहे थे ! सरकारी दफ्तर, बसें, जीपें ही नहीं जलाई जा रही थीं, दुकानदारों के साथ बदसलूकियाँ भी की जा रही थीं ! इसका नतीजा तब सामने आया जब शिवाला पर जुबली (रत्नाकर) पार्क के सामने छात्रों के विशाल जुलूस को आगे-पीछे से घेरकर पी.ए.सी. ने बेरहमी से पीटना शुरू कर दिया ! दुकानदारों ने न तो छात्रों की सहायता की, न बचाव किया ! इससे छात्रों ने सबक सीखा और कुछ दिन बाद सुंदरबगिया के मेहतरों और अगल-बगल के किसानों की मदद से पी.ए.सी. के जवानों के परचखे उड़ा दिये !...तो, यही छात्र शक्ति 'अपना मोर्चा' का विषय है। कोई भाषा या राजभाषा समस्या नहीं और उसके प्रतिनिधि हैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आंदोलनकारी छात्र ! ये वे युवक थे जो सपनों और उम्मीदों के साथ आजादी के आसपास पैदा हुए थे और जिनसे उनके बाप दादाओं ने बड़ी आशाएं बाँध रखी थीं। वे पढ़ तो रहे थे लेकिन भविष्य के अन्धकार का खौफ उन्हें ठीक से जीने नहीं दे रहा था, बेकारी और बेरोजगारी उनके इंतजार में खड़ी थी। उनके भीतर झुँझलाहट थी, असंतोष था, गुस्सा था और फूट पड़ने के लिए कोई बहाना ढूँढ रहा था ! और सरकार ने 'विधेयक' की शक्ल में वह बहाना दे दिया था।"[13] यह लंबा उद्धरण 'अपना मोर्चा' उपन्यास की पूरी पृष्ठभूमि तैयार कर देती है।

तो ये रही उपन्यास के पृष्ठभूमि की बातें, अब हम इसकी विस्तार से चर्चा करेंगे। भाषा आंदोलन पर छात्र राजनीति की दशा और दिशा पर गंभीरता से विचार करना होगा।

जिसकी शुरुआत 'राजभाषा संशोधन विधेयक' से होती है। "लोकसभा के आगामी अधिवेशन में भाषा-विधेयक आनेवाला है। भाषा-अंग्रेजी भाषा। किसी भी मुल्क की राजकाज की भाषा हमेशा शासक वर्ग की भाषा रहती आई है और यह अंग्रेजी- जब अंग्रेजी साम्राज्य अपने मुल्क में खत्म हो चुका है तो फिर उसकी भाषा क्यों ? देशी राज में विदेशी जबान क्यों ? क्या अब भी विदेशी हुकूमत है ? जनता अपनी भाषा बोले और शासन अपनी- जनतंत्र का इससे बढ़िया मजाक और क्या हो सकता है ? यों जनतंत्र के और भी मजाक हैं- एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर। लेकिन रुको। इसके खिलाफ जेहाद छेड़ना ही होगा। आंदोलन ! हाँ, भाषा के खिलाफ आंदोलन !"[14] इस तरह छात्रों का आंदोलन भाषा के खिलाफ उठ खड़ा होता है। छात्रों का जुलूस, अंग्रेजी हटाओ के नारों से गूँज उठता है। "जुलूस काफी उत्तेजना में था- भयानक ! लड़कों की जेबें ईंट और पत्थरों से भरी थीं। उनके हाथ में डंडे और लोहे के छड़ थे। वे अपने से टकरानेवालों को चूर-चूर करने पर आमादा थे। सरकार और सरकार की भाषा के खिलाफ उनमें गुस्सा था। वे चिंघाड़ रहे थे और उनके नारों का शोर धरती और आकाश को दहला रहा था-

- छात्र-एकता !

- जिन्दाबाद !!

- अंगरेज चले गए !

- अंगरेजी भी जाएगी !!

उनके हाथ में तने बाँस के फटठों में लगी हुई अनगिनत दफ्तियाँ जैसे सूर्य को धमकी दे रही थीं।

जुलूस के आगे-आगे एक पुतला था- अंग्रेजी का। बीच में एक दूसरा सजीव पुतला था- लड़का। उसका चेहरा कालिख से पुता था और वह ब्लाउज और स्कर्ट पहनकर मेम साहब

बना था यानी अंग्रेजी। पुतलों के आगे-आगे कुछ नौजवान चुस्त कमीज और पतलून पहने नाच रहे थे। उसकी पतली टाँगें नारे के संगीत पर थिरक रही थीं-

- अंगरेजी

- हाय-हाय !

- जोर से बोलो,

- हाय-हाय !

- भई, ठीक से बोलो,

- हाय-हाय !!

उनकी कमरें बार-बार बल खा रही थीं और वे होश-हवास खोए नाचते और चीखते जा रहे थे।"[15]

उपन्यास का प्रमुख चरित्र ज्वान इन सारी परिस्थितियों को अपनी आँखों से देख रहा है। छात्र आंदोलन को परख रहा है। छात्रों का जुलूस दिन-प्रतिदिन अधिक हिंसक होता जा रहा है। "दूसरे रोज पूरा शहर सरगर्म हो उठता है। शहर ने छात्रों का इतना बड़ा जुलूस नहीं देखा था। सभी विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और स्कूलों के लड़कों का तीन फर्लांग का लंबा जुलूस ! रोंगटे खड़ा कर देने वाला, दिल हिला देने वाला ! जैसे कह रहा हो कि लोगों ! फुटपाथों, खिड़कियों, दरवाजों और बारजों पर आओ और देखो अपने लड़कों की ताकत, उनका एका और उनकी रहनुमाई। लड़कों के हाथों में बैनर हैं। तख्तियाँ हैं और सबसे बड़ी चीज है समूचे शहर पर घटाओं की घिरती-घुमड़ती आवाजें...जुलूस धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है, पुलिस के जवान पीछे हटते जा रहे हैं। जुलूस निकलने के पहले छात्र-नेताओं ने अधिकारियों और पुलिस अधिकारियों से बातें कर रखी थीं- जुलूस शांतिपूर्ण तरीके से

निकलेगा। कोई तोड़-फोड़ नहीं, कोई हरकत नहीं। कहीं कुछ भी होता है तो हमारी जिम्मेदारी।

जुलूस शांत है- अपने वादे के मुताबिक अजब ढंग से शांत। लड़के थक गये हैं। नारे लगाते-लगाते उनके गले फट गये हैं। पैर लड़खड़ा रहे हैं। वे पसीने-पसीने हो गए हैं। उनके कपड़े बदन से चिपक गए हैं। वे हाफ रहे हैं लेकिन आसमान में सोलह हजार मुट्ठियाँ तन रही हैं-

-काला विधेयक !

-वापस लो !!

-भाषा विधेयक !

-हाय हाय !!

-...

-मुर्दाबाद !!"[16]

इस शांतिपूर्वक हो रहे आंदोलन को पुलिस की तरफ से धोखा मिलता है। जुलूस को पी.ए.सी. के जवानों ने आगे बढ़ने से रोक दिया। छात्रों का जुलूस शांतिपूर्वक ढंग से वहीं बैठकर आंदोलन जारी रखने का निर्णय लेता है। लेकिन उन्हें पी.ए.सी. के दमनकारी रवैये का सामना करना पड़ता है। "जुलूस के बीच में एक नेता रिक्शे पर आता है और माइक हाथ में लेता है-"साथियों ! ठीक है, हम आगे नहीं जाएँगे लेकिन यहीं सभा करेंगे...।"

इसी बीच अचानक आगे-पीछे से आँसू गैस के गोले फट-फट की आवाज के साथ गिरना शुरू होते हैं। माइक से आवाज आती है- "नहीं नहीं, यह गलत है सरासर गलत। अभी हमारी बातें चल रही हैं। बंद कर दो यह सब ! यह कायरता है। इसका जवाब..." लेकिन

इसी समय रिक्शे पर धुँआ उठना शुरू होता है और आवाजें बंद हो जाती हैं। लड़कों ने आँसू गैस के गोलों को पहली बार देखा था। उन्हें लगा कि ये हथगोले हैं।"[17] यह है शासन का अनैतिक रवैया जिससे हमेशा दो-चार होना पड़ता है। प्रशासन का यह व्यवहार सिर्फ इसी आंदोलन तक ही सीमित नहीं रहता है बल्कि आज भी जब देश में कोई बड़ा आंदोलन खड़ा होता है तो उसे तितर-बितर और कुचलने के लिए इसी तरह का व्यवहार किया जाता है। उपन्यासकार ने इस आंदोलन को बखूबी बयान किया है। "लड़कों में भगदड़ मच जाती है। सारा वातावरण दमघोंट कुहांसों से भर जाता है। आगे गोलियाँ चलने की आवाज होती है और जो उन्हें और भी आतंकित कर देती है। लड़के अभी भागने का निश्चय भी नहीं कर पाये थे कि चारों तरफ लाठियों की तड़तड़ शुरू हो जाती है। मैं बेतहाशा अपनी बाई तरफ भागता हूँ कि सामने से एक लाठी मेरे सिर पर पड़ती है और मैं चक्कर खाकर वहीं लुढ़क जाता हूँ। मैं जब तक उठूँ तब तक कई लड़के भरभराकर मुझ पर आ गिरते हैं। मैं अपने ऊपर के लड़कों पर लाठियों का ठायं-ठायं सुनता रहता हूँ और सरककर पार्क की छड़ों के पार उछल जाने के मंसूबे बाँधता रहता हूँ। मुझे ध्यान नहीं कि मेरे चारों ओर कितने जवान लाठियाँ बरसा रहे थे।...पार्क का फाटक तोड़कर दूसरी तरफ से पी.ए.सी के जवान अंदर चले आ रहे थे। मैं उन लड़कों को छोड़कर गिरता-पड़ता भागता हूँ। भागते हुए मैं अपने पीछे देखता हूँ- बीसों लड़के छड़ों पर टंगे हुए है और सड़कों पर जवान बेरहमी से लड़कों की पिटाई कर रहे हैं। एक लड़के की तो बुरी हालत है। वह सड़क पर मुँह के बल गिरा है। और चार-पाँच जवान उस पर लाठियाँ पटक रहे हैं। मैं पार्क के बाहर के पेड़ के पास एक रिक्शेवाले के गिराज के अंदर चला जाता हूँ। अब तक जवान बरगद तक आ पहुँचे हैं और लड़कों को खदेड़ रहे हैं।"[18] इसके परिणामतः पूरे काशी शहर में कर्फ्यू लगा दिया जाता है। पी.ए.सी. की गाड़ियाँ यहाँ-वहाँ दौड़ने लगती हैं। पूरे शहर में ऐलान कर दिया जाता है कि अगर किसी ने कोई भी हरकत की तो उसे गोलियों से भून दिया जाएगा। यह बीसवीं सदी का जनतंत्र है जहाँ अभिव्यक्ति की आजादी तक नसीब नहीं है।

"शहर में कर्फ्यू लगा है।...जनतंत्र का कर्फ्यू क्या होता है, इसे शहर पहली बार देख रहा है।...जनतंत्र की रक्षा के लिए कर्फ्यू जरूरी है, सड़क पर किसी को देखते ही गोली मार देने का आदेश जरूरी है। पन्द्रह मिनट के भीतर लंका से लेकर गोदौलिया तक की सारी दुकानें बंद कर दी जाएँ...लोग सड़कों और फुटपाथों से अपने घर के अंदर चले जाएँ...जी हाँ, यह है, एक गुर्राती और जबड़े चलाती आवाज...आप हमारे बच्चे हैं। हम आपके ही के भाई-बन्द हैं। हमें आपसे कोई दुश्मनी नहीं। हम एक-दूसरे को समझने की कोशिश करें। साथ ही आप यह भी ध्यान रखें कि आपमें से किसी ने कोई हरकत की तो सीधे भून दिया जाएगा...पी.ए.सी. के जवानों से भरी लारियाँ, तनी रायफलें, निर्जीव और भयानक चेहरे, चेहरे पर रायफल के घोड़े की तरह तनी नाक, ओठों के बराबर फरफराती मूंछें जो भेड़िये की जीभ की तरह लपलपा रही हैं। इन रायफलों, लाठियों और मूंछों के व्यूह में धीरे-धीरे आगे सरकती एक अधिकारी की जीप जो कर्फ्यू की गंभीरता का भोंपू पर एलान करती जा रही है- एक जरुरी सूचना ! देखते ही गोली मार दी जाएगी..."[19] यह प्रशासन की साजिश है ताकि लोग भय के वातावरण में अपना मुँह न खोले। प्रशासन को जब कुछ समझ में नहीं आता है तब वह इस तरह के तरीकों का सहारा लेती है। इसका परिणाम यह निकलता है कि लोग अपने घरों से बाहर निकलना बंद कर देते हैं। ऐसा माहौल होता है कि "देखते-देखते सारी सड़क खाली ! दुकाने बंद। आतंकपूर्ण और थरथराता हुआ सन्नाटा जो शासन के बाड़े से निकलकर सीधे सड़क और गलियों में छोड़ दिया गया हो। हर पच्चीस गज की दूरी पर एक-एक जवान। कपड़े का कवच, लोहे की टोप और साथ में लाठी या रायफल। बूटों की ठक-ठक ! गश्ती लारियों और जीपों की घर्राहत अचानक किसी ओर से भागते लड़कों का हजूम, लाठियों की तड़-तड़ और कोई एक गुहार मचाती चीख !"[20] चारों तरफ गहरा सन्नाटा पसरा पड़ा है। प्रशासन के क्रूर और अमानवीय व्यवहार को यहाँ देखा जा सकता है।

'अपना मोर्चा' उपन्यास में काशी में स्थित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पूरे परिवेश को यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह पूरा चित्रण सिर्फ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तक ही सीमित न होकर भारत के सभी शिक्षण संस्थाओं की कार्यप्रणाली को भी दर्शाता है। शिक्षकों के बीच खींच-तान, गुटबाजी, एक-दूसरे को नीचा दिखाने की साजिशे देश के सभी विश्वविद्यालों में आम बात हो गई है। आज शिक्षकों का कार्य पढ़ाने के अलावा सब कुछ है। विभाग के विद्वानों के बीच का यह वार्तालाप इस बात की पुष्टि करता है कि चापलूसी और धमकी दो ही तरह के तत्व हैं जिसको अध्यक्ष समझता है। वह बताते हैं कि "अध्यक्ष केवल दो प्रकार की भाषाएँ समझते हैं- चापलूसी और धमकी की। मेरे सहयोगी जरुरत के मुताबिक इन दोनों भाषाओं का इस्तेमाल करते रहते हैं। लोग कहते हैं कि पहले ऐसा नहीं था। लेकिन जब से कुछ मुदर्रिस- जिन्हें 'नार्मल' या जे. टी. सी. करके किसी पाठशाला में होना चाहिए था- इन भाषाओं की मदद से यहाँ प्रवेश पा गए हैं, तब से स्थिति गड़बड़ हो गई है। आप तो बातें करो पढ़ने-लिखने की और वे कहेंगे कि उनके ताल्लुकात शहर के फलाँ-फलाँ गुण्डों से है- जाहिर है कि आप एक दूसरे के लिए अबूझ हो जाएँगे। तीसरी किस्म उस मुदर्रिसों की है जो पढ़ने-पढ़ाने की अपेक्षा अध्यक्ष को काबू में करने के लिए विश्वविद्यालय के नियम-कानून में अधिक दिलचस्पी रखते हैं। सारी धाराएँ और सारे अनुच्छेद उनकी जबान पर है। अध्यक्ष की हालत यह है कि वे धाराओं से बचे तो गुण्डों से नहीं बच सकते और यदि गुण्डों से बचना चाहें तो धाराओं में रहें।"[21] इतना ही नहीं यहाँ शिक्षकों का कार्य पढ़ाई से इतर हर जगहों पर ज्यादा रमता है। प्राइवेट ट्यूशन, बीमा एजेंट, जमीन की खरीद-फरोख्त, दूसरे विश्वविद्यालयों में अपने आप को तिकड़म के बल पर विभिन्न पदों के लिए नामित करवाना ही आज का प्रमुख व्यवसाय बन गया है। शिक्षकों की बीच गुटबाजी तो आम बात हो गयी है। विश्वविद्यालय में कुलपति की चापलूसी करना ताकि उनका रसूख बना रहे, का खेल भी शिक्षकों में चलता रहता है। "अब यह देखो, मैंने कुलपति को किताब क्या समर्पित कर दी लोगों के कान खड़े हो गये।

समझते हैं मैंने प्रोफेसर होने के लिए ऐसा किया है।...अरे, तुम करो न समर्पित; मैं कोई मना कर रहा हूँ !'

धर्मयुग में मेरा लेख पढ़ा- हिंदी कहानी के विकास में 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' के अध्यक्ष का योगदान !

वे आँखे बंद कर लेते हैं और पान घुलाते हुए पैंतालिस मिनट के बाद अगली फतह की तैयारी करना शुरू कर देते हैं।"[22]

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को आधार बना कर 'अपना मोर्चा' की कथा का विस्तार भारत के तमाम विश्वविद्यालाओं की कहानी बयाँ कर जाती है। वस्तुतः "अपना मोर्चा इस सत्य को बड़े तीखेपन और दो-टूक ढंग से उजागर करके रख देता है कि आज की शिक्षा का लोक-जीवन से तलाक-सा हो गया है। आज की हमारी शिक्षा हमारी वर्तमान परिस्थिति से कोई सरोकार नहीं रखती है। अतः इसका हमारी चुभती हुई समस्याओं और नये समाज-सृजन की हमारी महत्वाकांक्षाओं से कोई तादात्म्य नहीं रह गया है। हमारी शिक्षा, समाज-जीवन से पूरी तरह विमुख है। इसमें लोकजीवन की समस्याओं का सीधा साक्षात्कार नहीं होता क्योंकि इसमें समाजोंमुखता नहीं है, बल्कि इसमें जीवन-विमुखता है और निरसता है। इसमें हमारे व्यक्तित्व में एक बौनापन आता है और उसका सर्वांगीण विकास नहीं होता, चारित्रिक विकास नहीं होता। यह हमारे आत्मविश्वास का क्षय करने वाली, दिलो-दिमाद बुझाने वाली पौरुष-पराक्रम और अभिक्रम क्षीण करने वाली शिक्षा है। इससे व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के प्रति अजनबी, पंगु और उदासीन बन जाते हैं। जहाँ शिक्षा से समाज की समस्याएँ सुलझनी चाहिए वहाँ वह खुद ही पूरे समाज से लिए एक समस्या बनी हुई है।"[23] वहीं दूसरी तरफ डॉ. श्यामसुन्दर दुबे 'अपना मोर्चा' की पड़ताल करते हुए लिखते हैं कि " 'अपना मोर्चा' में युवा आंदोलन का जो दिग्भ्रमित सैलाब भाषा समस्या को केंद्र में रखकर उमड़ा था- उसके भोलेपन को, उसकी व्यर्थता को, उसकी अप्रासंगिकता को, उसके

भदेसपन को, उसकी उपरंगी उत्तेजना को काशी ने शिद्दत के साथ अनुभव किया था। इस तरह की लेखनीय क्षमता विरलों को ही मिल पाती है जो समय की नजाकत को पार झाँकने का माद्दा देती है। यह क्षमता ही लेखकीय प्रतिबद्धता का अपना मानदंड है, जो निरंतर एक जर्राह की तरह पेश होने को बाध्य करती है। वह निदान करता है- खतरे बताता है, किन्तु वह आपरेशन के औजारों का प्रयोग नहीं कर पाता, इसलिए उसका 'अपना मोर्चा' तात्कालिक परिवर्तन की गुंजाइश की प्रतिभूति भी नहीं दे पाता- वह जानता है कि कहाँ और कैसे गलत हो रहा है- नब्ज पर वह उँगली भी रखता है, किन्तु उसकी रोग-निवारण क्षमता का असर तो तब हो जब मरीज गोली गटकने को तैयार हो। इस आधार पर लेखक जिस उम्मीद पर जीवित है, वह उसके लिए बहुत बड़ी प्रतिभूति हुआ करती है। उसका कागज ही उसकी उम्मीद है। यह कागज जब तक उसके पास है तब तक वह अपनी समूची हिम्मत से मोर्चे पर डटा है। कम से कम काशी ने तो अपनी हिम्मत बनाए रखी है।"[24]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'अपना मोर्चा' भाषा आंदोलन, शिक्षा का अवमूल्यन और समाज में गिरते मूल्यों की बखूबी पड़ताल करता है। ज्वान अपनी खुली आँखों से इन सारे रूपों को देखता है और उस पर अपनी बेबाक राय भी रखता है। वह निडर होकर इस तरह के लोगों पर व्यंग्य भी करता है। इस दृष्टि से यह उपन्यास अपने समय की ज्वलंत समस्याओं पर प्रकाश डालता है और उपन्यास विधा के अंतर्गत अपनी सशक्त उपस्थिति भी दर्ज कराता है।

आज हम बीसवीं सदी के गतिशील दौर में हैं। सूचना क्रांति का फैलता विस्तार, बाजारवाद, उत्तर आधुनिकता और औद्योगीकरण के इस दौर में भारत के तमाम छोटे-बड़े नगरों में विकास के विस्तार को देखा जा सकता है। काशी शहर/नगर भी इससे अछूता नहीं है। मॉल-संस्कृति, व्यापार संस्कृति इत्यादि को काशी में बहुतायत मात्रा में देखा जा सकता

है। इन तत्वों के साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि कुछ ऐसा है जिसे हम दिन-प्रतिदिन खोते जा रहे हैं। भारतीय जीवन मूल्य जो जीवन जीने का तरीका सिखाते हैं, उनका लगातार विघटन हो रहा है। इस भागते हुए दौर में मनुष्य निरंतर अकेला, अपने आप से मतलब रखने वाला होता जा रहा है। इन्हीं सारे बिन्दुओं को शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है' में विस्तार के साथ दिखाने का प्रयास किया गया है। काशी शहर की समाज व्यवस्था, वहाँ की शिक्षा व्यवस्था, भाषा के खिलाफ उठे आंदोलन इत्यादि को इस उपन्यास का मूल कथ्य बनाया गया है।

हम जिस व्यवस्था में जीवन-यापन कर रहे हैं वहाँ आज भी वर्गभेद, वर्णभेद, जातिभेद की समस्या लगभग जस-की-तस उसी तरह बनी हुई है जैसी पहले के समाज में थी। थोड़ा परिवर्तन देखने को मिलता है लेकिन उतना काफी नहीं है। काशी का समाज भी इन्हीं मूल्यों को अपने अंदर समेटे हुए है। चूँकि काशी का समाज धार्मिक रहा है इसलिए यहाँ पर इस तरह के मूल्यों को टूटने में अभी काफी समय लगेगा। चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में अंतिम वर्ण शूद्र की दशा हमेशा से निम्नतर रही है। दलित जातियों को इन तीनों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के शोषण का शिकार होना पड़ा है। उच्च जातियों के लोगों द्वारा उन्हें चमार, मुसहर, डोम इत्यादि विशेषणों से बुलाया जाता है। उन्हें हीन दृष्टि से देखा जाता रहा है। छुआछूत का बर्ताव इन दलित जातियों से हमेशा से होता आ रहा है। रंगभेद की समस्या से भी दलित जातियों को गुजरना पड़ता है। काले रंग का व्यक्ति है तो वह दलित/मुसहर ही होगा, भले ही वह ब्राह्मण या क्षत्रिय ही क्यों न हो। ऐसी प्राचीन मान्यताएँ आज भी हमारे समाज के लोगों के अंदर देखी जा सकती हैं। 'गली आगे मुड़ती है' में शिवप्रसाद सिंह इन्हीं तत्वों की ओर इशारा करते हैं। वह बताते हैं कि "सच पूछिए तो मैं उस साधु से चौकन्ना था। कोई सामान लेकर किसी स्टेशन पर न उतर जाए। आप कहेंगे कि तुम्हें साधुओं से नफरत होगी, वरना तुम उसके बारे में ऐसा

क्यों सोच बैठे।...मुझे साधुओं से नफरत नहीं है। मैंने अस्सी घाट से राजघाट तक की गंगा के किनारे-किनारे अक्सर परिक्रमा की है। गर्मियों में आधा दर्जन परिक्रमाएं तो निश्चित होती होंगी। सभी घंटा भर रात ढले से नौ-दस बजे तक। घाटों की सीढ़ियों में, गुमटियों के भीतर, नंगी पथरीली सीढ़ी पर लेटे टांगे पसारे, अहरे पर बाटियाँ सेकते या बर्तन के नाम पर जिसके पास एक रमलोटवा ही है, खिचड़ी पकाते, गंदे बालों और दाढ़ियों से जूँ निकालते मैंने बहुत-बहुत ढेर सारे साधु देखे हैं।...मगर यह उन सबसे भिन्न था। एकदम काला। हमारे चाचा होते तो सिर्फ रंग के आधार पर कह देते–मुसहर है। बाद में वह ब्राह्मण भी निकल सकता है। निकले। चाचा अपने निष्कर्ष में बेदखली के नितांत दुराग्रही थे। "होगा बाभन !" वे चिल्लाएँगे– "मैं तो उसे मुसहर ही कहूँगा।"[25] इस पूरे प्रसंग से इतना तो स्पष्ट है कि जाति प्रथा की जड़ें हमारे समाज में कितने गहरे स्तर तक पैठी हुई हैं। किसी व्यक्ति के रंग के आधार पर उसकी जाति का निर्धारण करना अत्यंत निंदनीय है। दूसरी तरफ इस पूरे प्रसंग में काशी में रह रहे साधुओं का सजीव चित्रण किया गया है। अगर आप काशी के गलियों, घाटों पर घूमते हुए जाएं तो ऐसे अनेक साधु अपनी धुनी रमाते हुए दीख जाएंगे। इन साधुओं के रूप में अनेक चोर, बदमाश, हत्यारे भी होते हैं जो सजा से बचने या किसी आम कारणों से ऐसा रूप धारण कर लेते हैं। 'साधु से चौकन्ना' होना कि 'कहीं सामान लेकर न उतर जाए' इस बात की ही ओर इशारा करता है।

आज हमारे समाज की विडम्बना यह है कि जो व्यक्ति जितने बड़े पद पर है उसकी सुख-सुविधाएं भी उतनी ही बड़ी हैं। सारी सरकारी व्यवस्थाएं जो आम व्यक्ति के हित के लिए बनाई जाती हैं उसका सही रूप में क्रियान्वयन नहीं हो पाता है। अगर होता भी है तो सिर्फ फाइलों में, जमीनी स्तर पर नहीं। हरिजन बस्तियों के साथ तो और भी सौतेला व्यवहार किया जाता है। इन बस्तियों तक पहुँचने के लिए न सड़क है, न बिजली और न ही शौच इत्यादि जाने के लिए पाखाना। रामानंद तिवारी काशी की उन हरिजन बस्तियों में

जाता है जहाँ तनिक भी सुविधाएं नहीं हैं। "क्यों, तुम्हारी हरिजन बस्ती में कोई पाखाना नहीं है ?" मैंने नंदकिशोर से पूछा। "आप भी जाने किस दुनिया में रहते हैं ! यूनिवर्सिटी से लेकर कैंट स्टेशन तक इस रोड में जितनी भी हरिजन बस्तियाँ या मजदूरों के टोले हैं, आपको शायद ही कहीं कोई पाखाना दिखे। तिवारी जी, यह भी क्या नरक है ! औरते सुबह चार बजे या रात के नौ बजे के बाद ही शौच के लिए जा पाती हैं। मर्दों का भी यही हाल है। लड़के बस्ती में ही घूरों पर बैठ जाते हैं। कितनी औरतें तो भरपेट खाना इस डर से नहीं खाती कि असमय यदि हाजत मालूम हुई तो जायेंगी कहाँ। कभी आप सुबह निकलिए। शौच के लिए बैठे हरिजनों के ऊपर कॉलोनी की छतों से ढेलों की बौछार देखेंगे। कॉलोनी वालों की भी क्या गलती है ! कौन चाहेगा कि उनके मकान के आसपास गंदगी हो। मगर इन नगरपालिका को क्या कहें, जो कॉलोनी बनाने के लिए तो जमीनें पा जाती है, पर मजदूरों और हरिजनों के लिए पाखाना बनवाने के लिए उसके पास न जमीन है और न तो फंड।"[26] सरकारी तंत्र के शहरों की यह व्यवस्था सिर्फ काशी शहर तक ही सीमित नहीं है बल्कि उन तमाम छोटे-बड़े शहरों में भी मजदूरों, हरिजन बस्तियों के लोगों के साथ ऐसा ही बर्ताव किया जाता है। उन्हें उनकी ही जमीन से बेदखल करके वहाँ पर अट्टालिकाएं खड़ी की जाती हैं। उन्हें झुग्गी-झोपड़ियों में रहना पड़ता है। उनके लिए रहने, खाने, शौच जाने की कोई व्यवस्था नहीं होती है। सरकारी सुविधाओं के नाम पर कुछ फंड आते भी हैं तो उन्हें सरकारी तंत्र के लोगों के द्वारा ही हजम कर दिया जाता है।

समाज के कुछ प्रभुत्वशाली लोगों के द्वारा दलितों पर निरंतर अत्याचार का सिलसिला चलता रहता है। इन सबमें सबसे ज्यादा शोषण का शिकार होती हैं दलित स्त्रियाँ। रज्जो नामक दलित स्त्री को बलात्कार का शिकार होना पड़ता है। हमेशा से भारतीय समाज में दलित स्त्रियों के साथ ही ऐसा घिनौना व्यवहार क्यों किया जाता है। रज्जो इसके मूल कारणों की तरफ इशारा करते हुए कहती है कि "हम हरिजन हैं, शायद

यह समझाने और ठीक से मन में बैठाने के लिए ही लोग हमारे साथ ऐसा सलूक करते हैं। इसकी कोई दवा नहीं है। आप समाज की ऐसी शक्तियों के सामने कर भी क्या सकते हैं। सरकार हरिजनों का नाम ले-लेकर अपनी नेकनीयती का मौखिक ऐलान करती है। सहायता देती है, पर समाज यह मानता है कि उसका हक छीनकर हरिजनों की बढ़ोत्तरी की जा रही है, इसलिए वह दूसरे तरीकों से बदला लेता है। और वह बदला इतना भयानक और खतरनाक होता है कि मेरी जैसी लड़की सब तरह से अपमानित और जलील होकर भी मुँह सीने के लिए विवश रहती है।..."[27] यह है शोषण का भयानक और क्रूर तरीका। समाज की प्रभुत्वशाली शक्तियों के सामने इन अमानवीय कुकृत्यों के खिलाफ कोई मुँह भी नहीं खोलता है। आरक्षण की नीतियों से झुंझलाए सवर्ण समाज के लोगों की प्रतिक्रया कुछ इस तरह ही व्यक्त होती है। वह दलित स्त्री को अपनी हवस का शिकार बनाता है। रज्जो अपमानित होती है, वह फिर भी इन प्रभुत्वशाली लोगों के खिलाफ कुछ बोल नहीं पाती है। आज यह समझना होगा कि स्त्री सिर्फ स्त्री होती है वह दलित स्त्री या सवर्ण स्त्री नहीं होती है। एक दलित स्त्री के साथ बलात्कार होने के बाद वह जिस मानसिक-शारीरिक पीड़ा से गुजरती है उसी पीड़ा से एक सवर्ण स्त्री भी गुजरती है। स्त्री की इस पीड़ा को समझना होगा। उनके साथ इन प्रभुत्वशाली लोगों के खिलाफ उठ खड़ा होना होगा। तभी भारत का विकास संभव है।

इस उपन्यास में युवा आक्रोश और भाषा आंदोलन के माध्यम से शिक्षा व्यवस्था, समाज व्यवस्था आदि पर प्रहार किया गया है। वस्तुतः यह "स्वतंत्रता के बाद वाले वर्षों की एक अहम राष्ट्रीय समस्या युवा-आक्रोश, युवा असंतोष या युवा विद्रोह को समर्पित है। एक संवेदनशील समाज चेता कथाकार होने के नाते शिवप्रसाद सिंह ने इस उपन्यास में अपने समय की चुनौतियों से रूबरू होने का खतरा मोल लिया है।"[28] स्वयं उपन्यास की 'नुक्कड़ सभा' में शिवप्रसाद सिंह बताते हैं कि "युवा आक्रोश पर बहुत कुछ कहा गया है, कहा जा

रहा है और कहा जाएगा। युवा-आक्रोश पर देश के राजनेता, समाजशास्त्री और शिक्षाविद सभी चिंतित हैं। इस युवा आक्रोश को छात्र-असंतोष या छात्र-अशांति का गलत नाम दे दिया जाता है। वस्तुतः यह समस्या का संक्षेपीकरण है, सरलीकरण भी। युवा आक्रोश पूरे युवा समाज में फैली वस्तु है और इसे ठीक से समझने के अभाव में न तो उसका सही निदान हो रहा है और न ही उसे सही दिशा देने की कोई सार्थक कोशिश। युवा एक शक्ति है, नयी पीढ़ी के हाथ में ही भविष्य है। भले ही वे हाथ अभी कमजोर हों, भले ही कच्चे और बेडौल हों, पर इसमें संदेह नहीं कि भविष्य को मोड़ने का कार्य इन्हीं हाथों सम्पन्न होगा...काशी का नाम युवा आक्रोश के साथ बदनामी की हद तक जुड़ गया है। मैंने काशी को ही इस उपन्यास का केन्द्र बनाया है।"[29] इस प्रकार काशी और यहाँ फैली युवा-आक्रोश की चिंगारी तथा भाषा आंदोलन के माध्यम से पूरे भारत की तस्वीर प्रस्तुत कर दी गयी है।

उपन्यास में शिक्षा व्यवस्था में आये भेदभावपूर्ण रवैये को भी दिखाया गया है। अध्यापकों के आपस के वैमनस्यपूर्ण व्यवहार का खामियाजा अध्यापकों को उठाना पड़ता है। परीक्षा में अध्यापक अपने प्रिय छात्रों को ज्यादा अंक देता है और दूसरे छात्रों को अपेक्षाकृत कम। सुबोध दा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक हैं। उनके खिलाफ भी कुछ छात्रों के द्वारा आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने परीक्षा में अन्यायपूर्ण रूप से अंकों का बँटवारा किया है। "सुबोध अभी अपने केबिन में बैठे ही थे कि तीन-चार लड़के वहाँ आये। क्या बात है शुक्ला ? उन्होंने एक लड़के से पूछा।...आपने गलत तरीके से अन्यायपूर्ण मार्किंग की है। आपने बिना पढ़े कापियों पर नंबर चढ़ा दिये। कुछ लोगों को जिन्हें पद-पाठ करना भी नहीं आता, सत्तर-अस्सी अंक दिये गये हैं और जिन्होंने बिल्कुल ठीक लिखा है, उन्हें तीस-बत्तीस अंक देकर चालू कर दिया गया है।"[30] यह सिर्फ एक विश्वविद्यालय तक सीमित नहीं है। भारत के हर शिक्षा संस्थान में इस तरह की व्यवस्था

काम कर रही होती है, जिसका शिकार होता हैं छात्र समुदाय। दूसरी तरफ यह देखा जाता है कि एक अध्यापक दूसरे अध्यापक के खिलाफ विद्यार्थियों को उकसाते हैं ताकि उनका हित सधता रहे। अध्यापकों की आपसी गुटबाजी की ओर भी उपन्यास में संकेत किया गया है। सुबोध भट्टाचार्य के एक सहयोगी अध्यापक पाण्डेय जी के कहने पर कि "यह सब क्रिया व्यापार बंद होना चाहिए।...आज आपका मामला है, कल किसी और का होगा। सवाल है कि यह सब बताता कौन है।

सुबोध चुप रहे।

मैं देखता हूँ, कि पिछले साल से हर परीक्षा के बाद यही होता है और इसको रोकने का कोई उपाय नहीं मिलता। भाई, यह तो उद्भुत वातावरण है। इसमें किसी की प्रतिष्ठा सुरक्षित नहीं है...आप बोलते क्यों नहीं ? मेरा बोलना बेकार है पाण्डेय जी, लड़कों का इसमें कोई कसूर नहीं है। हम अध्यापक ही एक-दूसरे से इस कदर डाह करते हैं कि एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए हर तरह की पेशकश कर सकते हैं।"[31] एक-दूसरे को नीचा दिखाने का खेल देश के हर शिक्षा संस्थान में चलता रहता है। समाज के तमाम बौद्धिक तथा अन्य गणमान्य व्यक्ति दिन-प्रतिदिन सुविधाभोगी होता जा रहा है। जयंती इसी संदर्भ में रामानंद तिवारी से कहती है कि "क्या यह सही नहीं है कि आज का साहित्यकार या अध्यापक इतना सुविधाजीवी और कायर हो गया है कि वह युवा की समस्याओं से अपने को जोड़ने में भय का अनुभव करता है?"[32] उपन्यास की पात्र जयंती ने विश्वविद्यालयों में शिक्षकों के आपसी वैमनस्यपूर्ण व्यवहार को उजागर करते हुए कहती है कि "तुम्हारे विभाग में जितने भी बौद्धिक हैं, वे एक-दूसरे पर तलवारें मारते रहते हैं। पैंतरेबाजी तो चलती ही थी। अब सीधा खड्ग-प्रहार होने लगा है। नतीजा यह हुआ कि सभी की गरदन कट गयी है। अब सब मुड़कट्टा वीर हैं। कोई अपने को छिपाए कमरे में पड़ा रहता है, कोई पुनः गरदन जोड़ने के लिए इधर-उधर संजीवनी की खोज कर रहा है और कोई मुड़कट्टा चेहरे पर

मुखौटा लगाए अपने को सबसे नया और ताजा बौद्धिक घोषित करने के लिए छात्रों के साथ चाय-पानी, नाश्ता-खाना करके अपने को 'अल्ट्रामॉडर्न' दिखाने का रिवाज कर रहा है। यह है तुम्हारे विभाग के तथाकथित बौद्धिकों का हुलिया।"[33] आज भी अध्यापकों की ऐसी जमात बहुतायत में है जिनका काम विद्यार्थियों को पढ़ाना न होकर एक-दूसरे की टांग खीचने में ज्यादा रहता है। एक-दूसरे पर कटाक्ष कर नीचा दिखाने की साजिश रची जाती है। जिसका परिणाम यह होता है कि सब के सब मुड़कट्टा वीर हो जाते हैं। आज बीसवीं सदी के दौर में भी इन मुड़कट्टों की कमी नहीं है। आज भी देश के तमाम विश्वविद्यालयों के विभागों में इस तरह के खेल अनवरत जारी हैं। इससे इनकार नहीं किया जा सकता है।

शिक्षा व्यवस्था में इस तरह की गुटबाजियों का सबसे बड़ा नुकसान विद्यार्थियों को उठाना पड़ता है। अगर विद्यार्थी का किसी अमुक शिक्षक के साथ अच्छा संबंध है तो दूसरे शिक्षकों के साथ उसका संबंध खराब हो जाता है। इस स्थिति का शिकार होता है उपन्यास का नायक रामानंद तिवारी। जयंती, रामानंद तिवारी और सुबोध भट्टाचार्य के बीच हुए परस्पर संवादों से इस बात की पुष्टि होती है। जयंती सुबोध भट्टाचार्य से कहती है कि "चाय पीजिए भट्टाचार्य महाशय, किस कागज में आँख गड़ाये है?"

"ले देख।" उन्होंने गहरी साँस ली और अंकपत्रों को जयंती के हाथ में दे दिया। हम दोनों चाय पीने लगे।

जयंती बड़े गौर से नंबरों का परिक्षण कर रही थी।

"वाह, पचास में 36, 37 अंक से कहीं कम हैं ही नहीं। चारों सेमेस्टरों में इतने बढ़ियाँ अंक और फर्स्ट क्लास, वेरी गुड !"

"मूर्ख !" सुबोध भट्टाचार्य कटकटाये, "थर्ड सेमेस्टर साहित्य में 13 और फोर्थ सेमेस्टर में 17 अंक नहीं दिख रहे हैं आँख से क्या ?" जयंती ने इस बार ख्याल से देखा और उदास हो

गयी, "सुबोध दा, मेरी समझ में यह बात नहीं आयी। दुनिया-भर के विषयों में यानी वैदिक स्टडीज, फिलॉसफी, फिलॉसफी एंड ग्रामर, पालि, प्राकृत, वेद, निरुक्त, काव्यशास्त्र सब में या तो प्रथम श्रेणी या सत्तर प्रतिशत से उपर अंक और साहित्य में तीस प्रतिशत कैसे हो गया है ?"

"यह वह तिलस्मी खोह है जयंती, जहाँ काला सफेद और सफेद काला बनकर निकलता है। जानती हो, यह सामने बैठा लड़का पिछले वर्ष सर्वोच्च स्थान पाए था, इसे निश्चित यू.जी.सी. की स्कॉलरशिप मिलती, पर इस वर्ष यह तीसरी पोजीशन पर है। दो लड़के इसके सिर पर बैठा दिये गये हैं जो इससे साहित्य पढ़ते रहे हैं।"

"ऐसा क्यों है ?"

"ऐसा इसलिए है कि न चाहते हुए भी यह मान लिया गया है कि यह लड़का सुबोध की पार्टी में है। यानी सुबोध की कोई अस्तित्वहीन पार्टी है जिसका यह नेता है। और सुबोध भट्टाचार्य को सबक सिखाने के लिए इसकी हत्या कर दी गयी है।"[34] यह है बीसवीं सदी की शिक्षा व्यवस्था जहाँ राजनीति, गुटबंदी, एक दूसरे की गला रेत प्रतिस्पर्धा अनवरत जारी रहती है। आज समय है कि शिक्षा व्यवस्था को साफ-सुथरा बनाया जाये ताकि भारत के भविष्य को संवारा जा सके। आगे उपन्यासकार रामानंद तिवारी के माध्यम से यह भी बताता है कि दुनिया किसी भी व्यक्ति की बढ़ोत्तरी नहीं देखना चाहती है। रामानंद तिवारी कहता है कि "इसी नगर की यह खूबी है या राम जाने और जगहों में भी ऐसा ही चलता है। जिससे मन का जितना तार मिला लो, अनुराग हो, श्रद्धा हो, उनके पास उतना ही कम जाओ। तुम्हारा वहाँ जाना तुम्हारे लिए जो कुछ फल देगा, वह तो देगा ही, उस बेचारे को लोगों की आँखों में चढ़ने क्यों देते हो। दुनिया किसी की बढ़ती नहीं देखना चाहती। किसी के पास लोग बैठें-उठें तो बहुतों को पेचिश हो जाती है।"[35] यह व्यवस्था शिक्षा व्यवस्था के साथ-साथ समाज व्यवस्था में भी उसी तरह व्याप्त है। भारतीय समाज व्यवस्था में एक

व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की उन्नति को देखकर दुखी हो जाता है। आज शिक्षा तंत्र के साथ-साथ समाज तंत्र भी भ्रष्ट होता जा रहा है।

भाषा आंदोलन की व्यापक गूँज काशी में सुनाई देती है। जगह-जगह रैलियाँ, अंग्रेजी में लिखे गये साइनबोर्ड पर कालिख पोतना जैसी तमाम घटनाएं काशी में हो रही थी। पूरा देश इस आग में जल रहा था तो काशी इससे कैसे अछूता रह सकता है। शिवप्रसाद सिंह 'गली आगे मुड़ती है' में भाषा आंदोलन का व्यापक चित्र सामने खींच देते हैं। वह लिखते हैं कि "28 नवम्बर, 67 को मंगलवार के दिन वाराणसी नगर में पूरी हड़ताल रही। राजभाषा विधेयक के विरोध का रूप उग्र हो गया। सभी बाजार और शिक्षाएं बंद कर दी गयीं। छात्रों ने वाराणसी कैंट स्टेशन पर लगभग छः घंटों तक कब्जा लिये रखा, परिणामतः ट्रेनों का आना-जाना रुक गया। लगभग एक दर्जन मेल, पैसेंजर तथा एक्सप्रेस गाड़ियाँ काशी के स्टेशनों पर रोक दी गयीं।

आज छात्र सुबह से ही अंग्रेजी नामपटों को तोड़ने अथवा मिटाने के काम में जुट गये। मोटरों पर लगे अंग्रेजी के संकेत-सूचक अक्षर और अंक क्षरित होने लगे। नगर के अधिकांश दुकानदारों ने सोमवार को ही अपनी-अपनी दुकानों के साइनबोर्ड पर कागज चिपका दिया था। सारा शहर एक विचित्र प्रकार की हौलदिली में फूल रहा था। जो साइनबोर्ड ज्यों-के-त्यों थे, वे सभी हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के थे। अंग्रेजी साइनबोर्डों को जहाँ बदलने से इंकार किया गया, उनका मुँह अलकतरे से काला कर दिया या वे तोड़-फोड़कर कबाड़ी की दुकान में भेजने लायक बना दिये गये। पुलिस और पी.ए.सी. की गाड़ियों पर भी अलकतरे का शासन स्थापित हो गया था। मुगल जमाने के सरकारी घोड़ों की तरह ये गाड़ियाँ दाग दी गयीं।

नगर को पूर्णतः अंग्रेजीविहीन करने के बाद दल कैंट-स्टेशन पर जमा होने लगे। ढाई बजे के आसपास पूरे स्टेशन पर कई हजार छात्रों ने कब्जा कर लिया। कुछ बंदरी-वृत्ति के

छात्रों ने पार्सल कार्यालय के सामानों को तितर-बितर कर दिया। फलों की टोकरियों पर हाथ साफ किये गये। सिगरेट के बंडलों की लूट ने तनी हुई नसों वाले छात्रों को काफी राहत पहुँचायी। छात्र नेता अपने इन अनुयायियों को समझा-बुझाकर पार्सल ऑफिस से अलग कर पाये।

छात्रगण जब इन मनबहलाव- भरे कामों में तल्लीन थे, तभी 14 डाउन अपर इंडिया एक्सप्रेस आकर प्लेटफॉर्म पर रुकी। इसके करीब आधे घंटे बाद शाहगंज से स्पेशल मालगाड़ी भी आ गयी। छात्रों ने इस गाड़ी को प्लेटफॉर्म से लगभग 100 गज पहले ही रोक लिया। छात्रों के दो समूहों ने दोनों गाड़ियों के इंजनों पर कब्जा कर लिया। दोनों इंजनों पर लाउड-स्पीकर फिट कर दिये गये और भाप की शक्ति के इस नये रंगमंच से छात्र नेताओं के भाषण शुरू हो गये। तोड़े गये विशाल नामपटों को तख्तों की तरह बिछाकर आंदोलनकारी बैठ कर सुस्ताने लगे।"[36] अंग्रेजी हटाओ के इस आंदोलन में काशी शहर पूरी तरह से जल रहा था। भाषा आंदोलन की आड़ में छात्रों द्वारा लूटपाट भी शुरू हो गयी थी। इससे काशी ही नहीं बल्कि पूरा देश उथल-पुथल के दौर से गुजर रहा था। चारों तरफ अंग्रेजी में लगे साइनबोर्डों को तोड़ने और उसे आग के हवाले किया जाने लगा था। "नाना रंगों में रंगे, कहीं पीतल या काँसे के चमकदार अक्षरों में उभरे, नियोन लाईट से सजे-सजाये साइनबोर्ड टूटने चले गये। एक ऐसी आँधी थी यह जिसने सारे शहर को झिझोड़कर रख दिया और अंग्रेजी में लिखे एक-से-एक सजे-सजाये, नयी दुलहिन की तरह मुस्कराते साइनबोर्ड सूखे पत्तों की तरह तड़-तड़ करके टूट पड़े..बिखर गये। यह हानि किसकी है। क्या इससे देश का हित होगा ?"[37] चूँकि उपन्यासकार सजग है अत: उसने इस आंदोलन को सम्पूर्ण रूप में देखने का प्रयास किया है। वह प्रश्न करता है कि क्या इस तोड़-फोड़, आगजनी इत्यादि से देश का हित होगा ? व्यवसायी वर्ग के लिए भाषा का महत्व सिर्फ व्यापार के विस्तार से होता है। अन्य लोग अंग्रेजी को अभिजात के तत्व के रूप में देखते

हैं पर व्यापार करने वाला इसे सिर्फ व्यापार तक ही सीमित रखता है। रामानंद तिवारी इस आंदोलन को अपनी नजरों से देखता है। वह कहता है कि "वाराणसी कैंट पर बैठा मैं सुबह से जारी इस आंदोलन का मन-ही-मन जायजा ले रहा था। क्या पूरा बनारस अंग्रेजी प्रेमी है? हो सकता है कि इस शहर में भी अनेक लोग अंग्रेजी बोलने को अपने अभिजात की निशानी समझते हों, जैसा और शहरों में लोग करते हैं। पर व्यवसायी के लिए भाषा का कोई महत्व नहीं। वह अपना नफा देखता है, भाषा के चोंचले नहीं। सभी व्यवसायी अकडू खां नहीं थे। कितने तो गरीब बेचारे, गिड़गिड़ा रहे थे कि अभी दिवाली पर पाँच सौ रूपया लगाकर यह साइनबोर्ड बनवाया है, इसे मत तोड़िए, हम इसे हिंदी में करा लेंगे। कितने खुद-ब-खुद उतार कर रख देना चाहते थे; पर छात्रों का जुलूस भीड़ का रूख अख्तियार कर चुका था, जो गुडुलिकाप्रवाह में बह रहा था। भेड़िया-धसान इसी को कहते हैं।"[38] वस्तुतः इतना तो स्पष्ट है कि इस आंदोलन से सिर्फ चारों तरफ नुकसान ही नुकसान हो रहा था। छात्र आंदोलन धीरे-धीरे अपनी अराजक स्थिति में पहुँच रहा था।

"अंग्रेजी में काम न होगा !

फिर से देश गुलाम न होगा !!"[39] के नारे लगाते जा रहे छात्रों को पुलिस के दमनात्मक रवैये से गुजरना पड़ता है। आंदोलन को तितर-बितर करने के लिए पुलिस अपने तमाम तरीके इस्तेमाल करना शुरू कर देती है। पुलिस की तरफ से घोषणा होती है कि "आप लोगों को मालूम है कि दफा 144 लगी है; आप जुलूस बना कर नहीं चल सकते, कृपया लौट जाएँ।

अधिकारी भोंपू बोला।

एक घंटे इसी तरह वाक्युद्ध जारी रहा। बहुत-से लड़के सड़क पर बैठे थे। कुछ पी.ए.सी. की गाड़ियों के आगे कतार बाँध कर लेट गये।

"अब सब्र की इंतहा हो गयी है।" सरकारी भोंपू जैसे आखिरी चेतावनी दे रहा हो, "आप मीटिंग डिस्पर्स करें, नहीं तो हमें कार्यवाही करनी ही होगी।"

"छात्र एकता–जिंदाबाद !" छात्र भोंपू चीखने लगा। तभी आवाज सुनायी पड़ी, "फायर-फायर-फायर..."

अश्रु गैस के गोले गिरने लगे। छात्रों में भगदड़ मच गयी। वहाँ न तो बाल्टी भरा पानी था, न तो भिगोई हुई तौलिया लिए ही पहुँचे थे। जो कुछ भी ईट-पत्थर हाथ लगे, उन्हें लेकर लड़कों ने पथराव शुरू किया। बाकी लोग जिधर जगह मिली, भागे। आँखों में बुरी तरह कड़वाहट भर गयी। झर-झर पानी गिरने लगा। अश्रु-गैस के गोलों के धुएं चंदोवा जैसा तन गया।

भीड़ इस तरह सड़क जाम किये थी कि भागने का भी रास्ता नहीं था। पथराव ही एकमात्र रास्ता सूझ रहा था। पर ईटों की कमी थी। मैंने पॉकेट से रूमाल निकालकर आँखें पोंछीं।

"अब पथराव बंद करें, नहीं तो कुछ और करना होगा।" पुलिस-भोंपू फिर गरजा, "फायर ! फायर ! फायर !!!" तभी तड़-तड़ाकर गोलियाँ चलने लगीं। मकानों की छतों से औरतों और बच्चों के रोने की आवाज कान फाड़ रही थी। घरों की खिड़कियाँ धड़ाधड़ बंद होने लगीं। सूरज पूर्वी क्षितिज पर झुका जा रहा था और उमड़ती हुई जनगंगा अपने आप ही छितरा रही थी। भय ! भय !! भय !!! मृत्यु का अदृश्य काल-देवता जाने कहाँ से मंडराता हुआ सबके हृदय में प्रवेश कर गया।...विचित्र दृश्य था। मैं भागते-भागते देख रहा था कि अगणित साइकिलें एक के ऊपर एक टूटी, मुड़ी, मरोड़ी-जैसी गिर रही हैं। पूरा मैदान जूतों, चप्पलों से भरा है, कई आदमी बगीचे की ओर भागने की कोशिश में तार के कँटीले बाड़ों में फँसकर तड़फड़ा रहे हैं। किसी का पैर नीचे की कंटीली तार-पंक्ति में फँसा है तो भागने

की कोशिश में निकली हुई गरदन ऊपर के तार में फँस गयी है।"[40] काशी इस तरह के आंदोलन की उथल-पुथल के दौर से गुजर रहा था। देश भर में हो रहे आंदोलन की छाया काशी शहर में भी भली-भाँति व्याप्त थी। पुलिस के इस दमनात्मक रवैये से आंदोलन पूरी तरह से ध्वस्त हो गया था। आज बीसवीं सदी में भी पुलिस के इस तरह के व्यवहार से हमें गुजरना पड़ता है। कोई भी छोटा या बड़ा आंदोलन हो उसे समूल नष्ट करने की कोशिश शासन तंत्र की तरफ से की जाती है। आंदोलनकारियों पर अश्रुगैस के गोले और लाठी चार्ज किया जाता है। इससे भी अगर आंदोलन नहीं टूटता है तो उस भीड़ पर गोलियों की बौछार कर दी जाती है। शासन तंत्र की ऐसी कोशिश होती है कि कुछ ऐसा करो जिससे की आंदोलनकारियों की कमर ही टूट जाये। वह फिर किसी तरह आंदोलन के लिए उठ खड़े न हों। इसी तरह की शासन व्यवस्था तब भी थी और आज भी है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

"1968 पूरे विश्व में छात्र आंदोलन का वर्ष था। पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, जर्मनी, इटली, स्पेन, इंग्लैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में छात्र अशांति की खबरें छप रही थीं। यह सही है कि इनके रूप और कारण भिन्न-भिन्न थे, पर यह कहना गलत न होगा कि यह समस्या अंतर्राष्ट्रीय रूप ले रही थी। याद रखना चाहिए कि अमेरिका की अत्यधिक व्यावसायिक और चुस्त बर्कले और कोलंबिया जैसी युनिवर्सिटियाँ भी वीभत्स दंगा-फसादों का अखाड़ा बन गयी थीं।"[41] स्पष्ट है कि 1968 का वर्ष छात्र असंतोष का वर्ष था। पूरे विश्व में अनेक भिन्न-भिन्न कारणों को लेकर छात्र आंदोलन कर रहे थे। भारत में इसका कारण भाषा को लेकर आंदोलन के साथ ही छात्रों और यूनिवर्सिटी के अधिकारियों के बीच खिंचाव भी मुख्य कारण था। अंग्रेजी हटाओ के आंदोलन की अंतिम परिणति पी.ए.सी. हटाओ पर आकर समाप्त हुई। पूरा भाषा आंदोलन गलत ढंग से चलाये जाने की वजह से निष्फल हो गया। रामानंद तिवारी भी इस आंदोलन का हिस्सा था। सुबोध भट्टाचार्य के साथ

उसकी बातचीत इस ओर संकेत करती है कि कैसे एक आंदोलन का स्वरूप बदल गया। रामानंद के कहने पर कि हिंदी अपनी जुबान है। अत: इसकी समस्या भी अपनी समस्या है; के उत्तर में सुबोध भट्टाचार्य कहते हैं कि "अपनी जुबान का मसला अपना मसला है। यह गैर की लड़ाई नहीं है, अपनी लड़ाई है। मैं जानता हूँ कि इस देश में अंग्रेजी बोलने वालों का एक अभिजात वर्ग बन गया है, जो पूरे देश को अपने चंगुल में फँसाये है, पर क्या तुम उस वर्ग से लड़ना भी चाहते हो ?

कहाँ है वह वर्ग ?

वर्ग हमेशा अदृश्य रहता है माई बॉय, उसके कारनामे सामने रहते हैं, उसकी चाले सामने रहती हैं, उसके ढंग और ढर्रे सामने रहते हैं, हमारे युवा आक्रोश की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह उस अदृश्य शक्ति से टकराने का रास्ता नहीं जानता और उसकी जगह किसी और को पकड़ लेता है, जो अदृश्य का स्थानापन्न बन जाता है। मसलन तुम पी.ए.सी. पकड़ लोगे, सरकारी इमारतें पकड़ लोगे, डाकखाने या स्टेशन पकड़ लोगे और उसे तोड़-फोड़कर मान लोगे कि तुम अपने विरोधी से टकरा रहे हो, उसे उखाड़ रहे हो, धक्के दे रहे हो, मगर जब धक्का मारते-मारते तुम थक जाते हो तो होश आता है कि लड़ाई बेजार गयी। तब तुम्हारी माँग होती है कि पी.ए.सी. हटाओ या वाइसचांसलर हटाओ पर तुम जानते हो कि ये सब हट जायेंगे या हटा दिये जाते हैं, तो भी तुम वहीं के वहीं रहते हो, जहाँ से शुरुआत हुई थी।"[42] वस्तुतः "आंदोलन खत्म हुआ। सुबोध भट्टाचार्य ने यह देख लिया था कि हमारे समय का युवा आक्रोश अपने अदृश्य शत्रु से टकराने का रास्ता नहीं जानता और उसकी जगह किसी और को पकड़ लेता है जो अदृश्य का स्थानापन्न बन जाता है। जरूरी है उस वर्ग का विनाश जो भाषा, क्षमता या संपत्ति के बल से पूरे भारत को समझहीन बनाये रखने के लिए तत्पर है।"[43] वहीं दूसरी तरफ जयंती युवा आक्रोश की विसंगतियों का पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत कर देती है। "जयंती वैसे ही सुदूर कगार को देखते

हुए बोली, "सारा युवा आक्रोश सेक्स में ही क्यों सिमटकर रह गया है ? हमारे बंगाली समाज में भी आक्रोश के नाम पर शराब और सेक्स-बस, ये ही दो लक्ष्य रह गये हैं। लड़के माता-पिता से चिढ़ते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने व्यक्तिगत सुख के लिए लड़कों की कभी परवाह नहीं की। परिवार के नाम पर एक पिंजडा बना है सर्वत्र। उसमें कुछ लोग किरायेदार की तरह अलग-अलग रहते हैं। सब अपने हिसाब से अपनी जिंदगी जीने के लिए ललक रहे हैं, बड़ा विश्वास लेकर आगे बढ़ते हैं; पर देखने में यही आता है कि कोई कवि बनने चला तो बुभुक्षित पीढ़ी के नाम पर सेक्स का शिकार हुआ, चित्रकार बनने चला तो अश्लील, नंगे और भद्दे चित्र बनाने लगा। सर्वत्र एक ही मुद्दा है, जिसके बीच में अंकित है एक लड़की जो खुद अपने पारिवारिक दबाव के नीचे पिस रही है। उठना चाहती है, उसमें भी आक्रोश है; पर बाहर आने पर पाती है कि उसके हमउम्र कुछ लोग उसे ही नोचने के लिए मोरचा बाँधे खड़े हैं। उसे नौकरी तब तक नहीं मिल सकती जब तक की वह अपना सौदा न कर ले।"[44]

युवा आक्रोश आज समझौता परस्त बनता जा रहा है। वोट की राजनीति ने उसे संकुचित दायरे में कैद कर दिया है। स्वार्थ की लड़ाई, अपने हित साधने की लड़ाई के रूप में युवा आक्रोश नैतिक पतन के गर्त में समाता जा रहा है। छात्र नेता देबू को लक्ष्य करके रज्जो का कथन इस बात की पुष्टि करता है। "रज्जो हँसी, चाहे समाजवाद हो, चाहे साम्यवाद और चाहे गांधीवाद हो, हैं सब लबादे ही। इंसान तो वहीं का वहीं है। देबू को एक गरीब लड़की की इज्जत से खिलवाड़ करने वालों से मोरचा लेने में क्या हासिल होगा ! युवा आक्रोश की यह सारी लड़ाई हासिलवाद की लड़ाई है, सुविधा पाने की छटपटाहट है और कुछ नहीं। तंग मोहरी के पाजामे के नीचे सभी जानवर हैं।"[45] रज्जो का यह कथन उसी हासिलवाद को अपनाते जा रहे इन वादों पर कटाक्ष है। सारे सिद्धांत की लड़ाई सुविधा पाने की छटपटाहट पर आकर समाप्त हो जाती है।

युवा शक्ति और राजनीति के गठजोड़ के बाद उत्पन्न हुआ नैतिक पतन का एक और उदाहरण उपन्यास में देखा जा सकता है। रामानंद तिवारी और छात्र नेता देबू के बीच के वार्तालाप के द्वारा इसको समझा जा सकता है। छात्र नेता देबू कहता है "राजनीति में नैतिकता के पुराने बटखरे मत लाओ नंदू ! यह ऐसा क्षेत्र है जिसमें वक्त के अनुसार सब करना पड़ता है..और उसी को समाज कहते हैं ? अँधेरे और अन्याय, धोखा और प्रवंचना, सुविधा और स्वार्थ– क्या यही हमारा क्षय नहीं है देबू, जिसे हम समाजवाद का नाम ले-लेकर पूरा करना चाहते हैं ? तो क्या यह तुम्हारे समाज में नहीं है ? जो भी हो, तुम छात्र शक्ति को नजरअंदाज नहीं कर सकते ?"

"यह भी कोरा भ्रम ही है देबू ! रहा होगा मजदूर, किसान के बाद छात्र तीसरी शक्ति। कभी रहा होगा। आज वह अपनी मजबूरियों के कारण क्षणिक सुविधा और लिप्सा के कारण बिक चुका है। जो नहीं बिके हैं, वे परीक्षाएं पास करके बेरोजगारी के पागलपन का शिकार हो रहे हैं। विदेशी सभ्यता की नकल की बाढ़ ने हमारे जीवन के गटर को रूँध दिया है और हम उसी गंदले गलीज में डुबकियाँ ले रहे हैं। छात्र आज अपने लक्ष्य को ही भूल गया है। वह गिरवी हो गया है। उसमें न एकता है, न कोई सही दिशा ज्ञान।"[46] रामानंद तिवारी के इस विश्लेषण के उत्तर में देबू कहता है कि "यह विवशता है। सब को युवा शक्ति से काम निकालना है नंदू और समाज की बनावट ऐसी होती जा रही है कि अपने को जीवित रखने के लिए किसी-न-किसी की शरण लेनी पड़ती है। हर पेशे के सत्ता-सम्पन्न व्यक्ति को 'यूथ' चाहिए। चाहे वे राजनीतिक पार्टियाँ हों, तस्करी पेशे वाले हों, होटल वाले हों, गरज की पैसे वालों को अपना काम निकालने के लिए नौजवान चाहिए। ऐसी समाज-व्यवस्था में युवा का नैतिक पतन कौन-सी आश्चर्य की बात है। देबू शांत भाव से बोला।"[47] इस पूरे प्रसंग से इतना तो स्पष्ट है कि युवा शक्ति हो या राजनीतिक व्यवस्था दोनों में नैतिक गिरावट का सिलसिला अनवरत जारी है। इन पार्टियों के मूल्य सिद्धांत किताबी बातों तक

सिमट गये हैं जिन्हें व्यवहार में नहीं लाया जा सकता है। आज इनका मूल सिद्धांत हासिलवाद का सिद्धांत बन गया है। कुर्सी को पाने की लड़ाई हो गयी है और यह सब इसके लिए कुछ भी कर गुजरने के लिए तैयार बैठे हैं। छात्र नेता देबू का नैतिक पतन इस बात की ओर ही इशारा करता है। प्राचीन आचार्यों ने भी राजनीति को कुछ इन्हीं दृष्टियों से देखा और परखा है। उनका कहना है कि

"राजशास्त्रं भवेद्गौरं सारिकावदनं शुभम्

अक्षसूत्रं फलं विभद्न्नाहारं कमंडलुम्

राजशास्त्र गौर वर्ण का लुभावना व्यक्ति है जिसे मिठबोला यानी सारिकामुखी होना चाहिए। एक हाथ में तपस्वी की तरह दिखाने के लिए अक्षमाला चाहिए। फल खाने वाला, हमेशा आहार को उपलब्ध रखने वाला और चुराकर चीजें रखने के लिए हाथ में कमंडलु लेकर चलने वाला होना चाहिए।...हा-हा-हा-हा कैसा है यह राजशास्त्र !"[48]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बीसवीं सदी के भारत में गतिशील तत्वों के साथ-साथ इसे रोकने वाली शक्तियाँ भी काम कर रही हैं। काशी के पूरे परिवेश में गुथी गयी इस कथा का विस्तार पूरे भारत तक हो गया है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह का उपन्यास 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' बनारस के बुनकरों की तंग और बदहाल जिंदगी का सूक्ष्म यथार्थ चित्र अंकित करता है। बनारस के साड़ी बुनकरों का अपना एक अलग समाज, एक अलग दुनिया है। जैसा कि उपन्यासकार ने लिखा है "एक समाज दुनिया का है। एक समाज भारत का है। एक समाज हिन्दुओं का है। एक समाज मुसलमानों का है। और एक समाज बनारस के जुलाहों का है। यह समाज कई अर्थों में दुनिया के हर समाज से अलग है। इस समाज के कई खंड हैं। पाँचो हैं, चौदहो हैं,

बाइसी और बावनो हैं। अब एक नई बाइसी भी बन गयी है। हर खंड का अपना सरदार है, अपना महतो है।"[49] इस प्रकार शोषण और दमन का चक्र कई तहों से होकर गुजरता है।

उपन्यास में बुनकरों के जीवन की छोटी-बड़ी लगभग सभी समस्याओं के उजागर करने का प्रयास किया गया है। बुनकरों के भी कई वर्ग हैं- मजूरी पर बीनने वाले, बानी पर बीनने वाले, बिक्री पर बीनने वाले आदि आदि। ये बुनकर अपने गिरस्ता के अधीन साड़ी बुनने का कार्य करते हैं। गिरस्ता और अमीर हाजी लोग इन गरीब बुनकरों का सदियों से शोषण करते आ रहे हैं, और यह आज भी उसी रूप में जारी है। उपन्यास का केंद्रीय पात्र मतीन निम्न वर्ग से ताल्लुक रखने वाला कतान (रेशम) बुनकर है। वह "सुबह से ही निकला है। कतान घट गयी है। हाजी साहब के यहाँ से लाना है। जब से होश संभाला है, मतीन बानी पर ही बिन रहा है। उसके बाप भी बानी पर बिनते थे। इतनी हैसियत कभी नहीं हुई कि अपना खतान खरीद सके।...यहाँ तो यह हाल है कि हाजी अमीरुल्ला साहब दें तो खाओं वर्ना भूखे रहो। करघा अपना, जांगर अपनी, सिर्फ कतान हाजी साहब का, लेकिन हाजी साहब की कोठियाँ तन गयी और मतीन उसी ईंट की कच्ची दीवारोंवाले दरबे में गुजर रहा है। पेट को ही नहीं अंटता, क्या करें ?"[50] यानि हाजी अमीरुल्ला जैसे लोग मतीन जैसे गरीब कारीगरों के बल पर दिन-ब-दिन अमीर होते जा रहे हैं और कारीगर आजीवन इनके कर्जदार और गुलाम बनकर रह जाते हैं। इन बुनकरों को उनका वाजिब पारिश्रमिक भी नहीं दिया जाता है। "कितनी भी सफाई से बिनो, नब्बे रूपया से ज्यादा मजदूरी नहीं मिलने की। हफ्ते भर में सिर्फ नब्बे रूपया। उसमें से भी कभी पाँच रूपया 'दाग' का तो अभी तीन रूपया 'मत्ती' का और कभी 'रफू' का तो कभी 'तीरी' का कट जाता है। मँहगाई की हालत यह है कि दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती जा रही है।"[51]

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में काशी के बुनकरों की हालत बद से बदतर होती जा रही है। आर्थिक तंगी के कारण न तो रहने के लिए अच्छे घर थे, न खाने के लिए पर्याप्त

भोजन। गंदी और सीलन भरी जगहों में रहने के कारण टी. बी. जैसी जानलेवा बीमारी इन बुनकरों के मुहल्ले में तेजी से फैल रही थी। इलाज का खर्ज न होने के कारण मतीन को अपना एकमात्र करघा भी बेचना पड़ा। इस तरह वह 'बानीवाले बुनकर' से 'मजूर बुनकर' की श्रेणी में आ गया। "अगले दिन वह हाजी अमीरुल्ला की कोठी में एक मजूर की हैसियत से गया, बानी पर बिनने वाले बुनकर की हैसियत से नहीं। जहाँ कुछ लोग मजूर से बानीवाले, बानीवाले से बिक्रीवाले और बिक्रीवाले से 'गिरस्ता' में बदलते जा रहे थे वहीं मतीन था कि बानी पर बिनते-बिनते मजूर हो गया था।"[52] वास्तव में साड़ी बिनना पुस्तैनी व्यवसाय तो है ही साथ ही मतीन जैसे तमाम बुनकर, जो कम पढ़े-लिखे अथवा अनपढ़ हैं, अपनी तंग आर्थिक स्थिति के कारण आसानी से मजदूर बन जाते हैं।

बनारस में एक स्थान है 'गोलघर'। यहाँ बड़े पैमाने पर बनारसी साड़ियों की खरीद-फरोख्त होती है। यहाँ लतीफ जैसे छोटे कारीगरों की कोई पूछ नहीं होती है। ऐसे कारीगर जिनके पास बमुश्किल एकाध करघा है और जो किसी तरह कतान खरीदकर हफ्ता-दस दिन में एक साड़ी बीन लेते हैं, उनकी हालत इस गोलघर में यूँ है कि यहाँ "छोटे-मोटे कारीगरों की कोई गिनती ही नहीं है। सेठ-महाजन ध्यान ही नहीं देते। जहाँ लाट-का-लाट माल आ रहा हो वहाँ एक दो साड़ियों की क्या बिसात ? और अगर मेहरबानी करके ले भी लें तो पैसा देंगे हफ्ता-भर बाद। तब तक तो कतानवाले गोश्त नोच डालेंगे। अतः नकद पैसे के लोभ में लतीफ- जैसे टुटपुंजिए कारीगर कमरूद्दीन- जैसे जोंकों के हाथ कम पैसे में ही अपना माल बेच देते हैं।"[53] बिचौलिए के बीच इन साड़ी बुनकरों का शोषण निरंतर जारी रहता है। इस संबंध में नीता कुमार लिखती हैं कि "बिचौलियों के द्वारा गैरकानूनी कटौती जारी रही लेकिन 1950 के दशक में यह बहुत बढ़ गयी (अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से)। बुनकरों को तब कोई नकद भुगतान नहीं किया जाता था जब तक की उनकी साड़ी बिक नहीं जाती थी, और यदि निर्दिष्ट समय के भीतर साड़ी नहीं बिकती थी तो उसे बुनकर को वापस

लौटा दिया जाता था। इस तरह एक तरफ बुनकर अपने उत्पाद की चमक खो रहा था और दूसरी तरफ अपना पैसा भी गँवा रहा था। यदि साड़ी बिक जाती थी तो और भी बुरा हाल था, क्योंकि बिचौलिया साड़ी के जो पैसे देता था वह बहुत कम होते थे। दस्तकारों और खरीददारों द्वारा साड़ी में कुछ कटे-फटे होने का आरोप लगाकर बुनकरों के साथ मनमाना व्यवहार किया जाता था। इसी मुद्दे को लेकर 1950 के दशक में बुनकर हड़ताल पर गये थे।"[54] यह विडम्बना ही है कि हजारों-लाखों रूपये की साड़ी बिनने वाले ये बुनकर अपने जीवन में एक-एक पैसे के लिए मोहताज हैं। वास्तविकता यह है कि "गाँव-देहात के साड़ी बुनकर, जिसमें हिन्दू भी हैं और मुसलमान भी, रोज सुबह-सवेरे काशी नगरी में आते हैं और किसी-न-किसी गिरस्ता के करघे पर बैठकर चंद रूपयों के बदले अपना पसीना बेचकर चले जाते हैं। गिरस्ता लोग खुश होकर उन्हें 'आखिरी बुध' और 'दिवाली' के रोज मिठाइयाँ बांटते हैं। गरी की बर्फी और खोये के लड्डू। लोग कल्पना करते हैं कि वे खुश हैं।"[55]

बीसवीं शताब्दी में जहाँ एक तरफ भारत ही नहीं बल्कि विश्व बाजार में बनारसी साड़ियों का व्यापार ऊँचे दामों पर, खासे मुनाफे के साथ हो रहा है। वहीं दूसरी तरफ इस साड़ियों के बुनकर दिन-ब-दिन और गरीब होते जा रहे हैं। हाजी लोग साड़ी में कुछ-न-कुछ ऐब दिखाकर बुनकरों के पारिश्रमिक को निर्ममता से काट देते हैं। ऐसे में एक लोकतांत्रिक देश में सरकार का यह दायित्व बनता है कि इन बुनकरों के 'फन' को पहचाने, उनके पक्ष में कोई जरूरी कदम गंभीरता से उठाये। सरकार ने इस सन्दर्भ में कुछ कोशिश की भी है, जिसके बारे में मतीन को शहर के एक एम.एल.ए. अल्ताफुर्रहमान अंसारी साहब के यहाँ जाने से पता चलता है। "वहाँ उसे मालूम हुआ कि सरकार ने तो बुनकरों के लिए काफी सहूलियतें दे रखी हैं। उनके लिए शेयर कैपिटल, आर.बी.आई है। लोन लेकर वे अपना ज्यादा बढ़िया ढंग से कर सकते हैं। कई लोग मिलकर एक कोआपरेटिव सोसाइटी बना सकते हैं जिसके जरिये लोन भी ले सकते हैं और अपना माल सरकार को तथा बाहर के

मुल्कों को अच्छे दामों में बेच सकते हैं।"[56] मतीन अधिक पढ़ा-लिखा तो नहीं था लेकिन वह एक समझदार युवा था। वह निश्चित ही अपने आस-पास की बीमारी और ऊब से भरी दुनिया बदलना चाहता था, इसलिए वह बैंक गया और उसने लोन के सन्दर्भ में जानकारी हासिल करने का प्रयत्न किया। मैनेजर ने उसे बताया कि "कम-से-कम तीस मेम्बरों की साझेदारी बनाओ पहले। हर मेम्बर को इसके लिए फीस जमा करनी होगी। फी मेम्बर एक सौ दो रूपये। फिर अपने में से एक चेयरमैन चुनो। उसी को रूपया दिया जायेगा। सोसाइटी बन जाने के बाद उसे ए.डी.आई. अप्रूव करेंगे, तब वह कागज कानपुर भेजा जायेगा।"[57] यह प्रक्रिया बेहद लम्बी और कठिन थी। खासकर मतीन के लिए इस सोसाइटी बनाने के कार्य को अंजाम देना टेढ़ी खीर ही साबित होने वाला था। पहले तीस लोगों को एकत्र करना और फिर प्रत्येक से 102 रूपये की धनराशि जुटा पाना लगभग एक दुसाध्य कार्य था। "रूपया कहाँ से लायेंगे लोग ? जो लोग बानी पर बिनते हैं उन्हें मजदूरी इतनी कम मिलती है कि हफ्ते का खर्च चलाना ही मुश्किल हो जाता है। जो लोग अपना माल खरीदकर बिनते हैं उनके ऊपर कतान और कलाबत्तू का खर्चा इतना होता है कि इधर से आया और उधर से गया। गिरस्ता के घर जाकर मजूरी से बीनने वाले की हालत तो और भी खराब है। किसी भी मामूली बुनकर के लिए एक सौ दो रूपये का इंतजाम करना मुश्किल है।"[58] मतीन फिर भी हिम्मत नहीं हारता है, वह लम्बे समय तक जी-तोड़ कोशिश करके तीस लोगों के हस्ताक्षर और पैसा लेकर जब बैंक पहुँचता है तो उसे पता चलता है कि हाजी अमीरुल्ला ने लतीफ, मतीन, अल्ताफ, रऊफ आदि जुलाहों के फर्जी हस्ताक्षर दिखाकर सारे पैसे हड़प लिए हैं। मतीन की सारी मेहनत बेकार हो चुकी थी। यहाँ 'जिसकी लाठी उसकी भैस' वाली कहावत पूरी तरह चरितार्थ होती है। यह बात ध्यान देने की है कि "बुनकरों के शोषक महज गिरस्ता (साड़ी व्यवसायी) ही नहीं हैं, वे सरकारी संस्थान भी हैं जो बुनकरों की सहायता के लिए स्थापित किये गए हैं। मतीन द्वारा बनायी गयी कोआपरेटिव सोसाइटी को बैंक फर्जी मानता है जबकि गिरस्त अमीरुल्ला की फर्जी सोसाइटी को बैंक ऋण के लिए

स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार लेखक इस सत्य को उजागर करता है कि बुनकर मजदूरों के जीवन स्तर के सुधार के नाम पर मिलने वाले अनुदानों और ऋण आदि की कुल धनराशि मगरमच्छों के पेट में चली जाती है जबकि बुनकरों की दयनीय दशा जस की तस बनी रहती है।"[59]

औद्योगीकरण और पूँजी के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप बीसवीं सदी में बनारसी साड़ियों के उत्पादन और व्यापार के तरीके भी तेजी से बदलते रहे हैं। एक समय ऐसा आया जब करघे के स्थान पर पॉवरलूम्स बिठाये जाने लगे जिनसे उत्पादन और तेजी से किया जा सके। एक करघा न लगा सकने वाला बुनकर पॉवरलूम्स बिठाने की बात तो सोच भी नहीं सकता था। ऐसे में अमीर गिरस्ता और हाजी जैसे लोग फर्जी कोआपरेटिव सोसाइटी खोलने में कामयाब हो चुके थे। "अब इस कोआपरेटिव सोसाइटी के माध्यम से चूँकि उनका माल सीधे एक्सपोर्ट होने लगा है, इसलिए माल भी ज्यादा तैयार करना पड़ता है। वैसे एक साड़ी को एक बुनकर कम-से-कम चार दिनों में तैयार करता था, अब एक पॉवरलूम अगर बिजली रही तो एक दिन में चार साड़ियाँ तैयार करता है। हालाँकि इन साड़ियों में वैसी कारीगरी और नक्काशी नहीं होती, पर आमदनी ज्यादा है।"[60] इस प्रकार करघे के स्थान पर पॉवरलूम्स लग जाने से अब कारीगरों, बुनकरों की आर्थिक स्थिति बेहद खराब हो गयी थी।

पॉवरलूम्स से साड़ियाँ बनाने का कार्य अधिक दिनों तक सफलतापूर्वक नहीं चल सका। भले ही पॉवरलूम्स कम समय में अधिक उत्पादन करने में सक्षम थे लेकिन हाथ की कारीगरी के समक्ष मशीन का जादू जल्द ही फीका पड़ गया। "तब गिरस्तों को अपने कारीगरों की अहमियत फिर समझ में आयी, लेकिन अब ज्यादातर कारीगरों ने कर्ज-वर्ज लेकर अपना कारोबार शुरू कर दिया था। हालाँकि इस स्थिति ने इन्हें पहले से भी बदतर हालत में ला दिया है। पहले तो बस एक ही गम था कि गिरस्ता की ताबेदारी करनी पड़ती

थी, लेकिन यह तो चिंता नहीं रहती थी कि कतान कहाँ से आयेगी ? उसका इन्तेजाम तो गिरस ही करता था, लेकिन अब तो कर्ज की कई-कई पर्तें जिस्म पर चढ़ती जा रही हैं और मुक्ति का कोई उपाय नजर नहीं आ रहा था। करघे का कर्ज अलग, कतान का कर्ज अलग, बनिए का कर्ज अलग, कपड़े-लत्ते का कर्ज अलग, बीमारी-ईमारी का कर्ज अलग भला यह भी कोई जिंदगी है। कितनी-कितनी मेहनत से साड़ी बिनो, फिर उसे बाजार में ले जाओं और वहाँ क्या मिलता है ? चेक ! जो महीने भर बाद भुनता है। सोसाइटी के जरिये तो बड़े-बड़ों की साड़ियाँ बिकती हैं, गरीबों को भला कौन पूछता है।"[61] मतीन को गोलघर के व्यापारी और गिरस्ता लोगों का एक और नया नियम पता चला कि ये लोग इन बुनकरों द्वारा बिनी साड़ियों पर बेवजह मनमानी कटौती करते हैं। "आठ सौ की साड़ी पर पच्चीस रूपये, छः सौ की साड़ी पर बीस रूपये, चार सौ की साड़ी पर पन्द्रह रूपये...इसी दर से कोठीवाला हर साड़ी में से काट लेता है। क्यों काट लेता है पता नहीं।"[62] पूँजी के इस बाजार में श्रम का कोई मूल्य दिखाई नहीं पड़ता है। श्रम करने वाले और श्रम से प्राप्त पूँजी का उपभोग करने वाले दो वर्ग स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।

बुनकरों की इस बेहद न्यून आमदनी और विपन्नता के सन्दर्भ में सरकार की नीति पर भी उपन्यासकार ने प्रकाश डाला है। वास्तव में "बुनकरों की सुविधा के लिए सरकार ने बनारस शहर में लगभग दो सौ सरकारी समितियाँ गठित की हैं, जिसके माध्यम से यहाँ के आम बुनकरों का माल बाहर के बाजारों में अच्छे दामों पर बिक सके, लेकिन ऐसा नहीं हो पा रहा है। पहले तो ये सारी-की-सारी समितियाँ ही चालू हालत में हैं और इनका हाल यह है की केवल बड़े-बड़े सरमायादारों का माल तो ये निर्यात करती हैं पर छोटे बुनकरों का माल ज्यों का त्यों पड़ा रह जाता है।"[63] आखिर ऐसा क्यों होता है ? प्रश्न यह उठता है कि यदि सरकार बुनकरों के सन्दर्भ में कोई समिति बनाती है अथवा किसी भी प्रकार की पहल करती है तो फिर उसे प्रमाणिक ढंग से परिचालित करने में असफल क्यों हो जाती है ?

लेखक के अनुसार "दरअस्ल ये जितनी भी समितियाँ बनी हुई हैं, इनमें से अधिकांशतः नकली हैं। बड़े-बड़े गिरस्तों ने बुनकरों के फर्जी दस्तखत बनाकर सोसाइटियाँ बना ली हैं। इन सोसाइटियों के माध्यम से वे पहले तो इन्होंने रिजर्व बैंक से अच्छी-खासी धनराशि वसूल की और अब इन्हीं के जरिये अपना माल एक्सपोर्ट कर रहे हैं।"[64] इसे सरकार की कमी ही कहेंगे कि वह स्वयं बनाये गये नियमों को दृढ़ता से लागू नहीं कर पा रही है। जिसके कारण गरीब बुनकरों के साथ अमीर गिरस्ता लोग आसानी से धोखा करते हैं। इन बुनकरों को उनका वाजिब हक भी नहीं मिल पाता है।

बीसवीं शताब्दी के अस्सी-नब्बे के दशक में अचानक रेशम का दाम बढ़ जाने के कारण बुनकरों के सामने रोजी-रोटी की गंभीर समस्या उठ खड़ी होती है। संसद के राज्यसभा, लोकसभा में समय-समय पर काशी के बुनकरों की समस्या को उठाया गया है। सरकार की तमाम घोषणाएं धड़ल्ले से अखबार की हेडलाइन भी बनीं। उपन्यास में एक स्थान पर 'वाराणसी के रेशमी वस्त्र के बुनकरों के संकट की चर्चा' शीर्षक से उस समय 'दैनिक जागरण' समाचार पत्र में छपे प्रसंग को उद्धृत किया गया है। प्रसंग कुछ यूँ है कि "नयी दिल्ली, 28 नवम्बर। केंद्र सरकार ने स्वीकार किया है कि उत्तर प्रदेश में वाराणसी के हैण्डलूम सिल्क उद्योग को रेशमी धागों के मूल्य में हुई असाधारण वृद्धि के परिणाम स्वरूप संकट का सामना करना पड़ रहा है। यह स्वीकारोक्ति कल लोकसभा में कांग्रेस (ई) के जैनुल बशर (गाजीपुर) के प्रश्न के उत्तर में केंद्रीय वाणिज्य राज्यमंत्री खुर्शीद आलम खां ने की है।"[65] उपन्यासकार ने 'दैनिक जागरण' में छपी इस खबर को ही रेखांकित किया है कि "श्री खां ने प्रश्नकर्ता को यह भी बताया कि केंद्र सरकार ने छठी पंचवर्षीय योजनावधि में रेशम उद्योग के विकास को प्रोत्साहन प्रदान करने हेतु उत्तर प्रदेश सरकार को नौ करोड़ रूपये की केंदीय सहायता उपलब्ध कराने का निर्णय किया है।"[66] लेकिन क्या सरकार की ये घोषणाएं मतीन जैसे तमाम बुनकरों के किसी काम आ पाईं ? कहाँ गये वो

करोड़ों रूपये जो बुनियादी तौर से मतीन, लतीफ, रऊफ और बशीर जैसे बुनकरों की तरक्की के लिए था ? सच तो यह है कि दो जून की रोटी का जुगाड़ करने में लगे गरीब बुनकर के पास न तो अखबार पढ़ने का वक्त था और न ही इसकी कोई प्रासंगिकता थी, क्योंकि सरकारी पैसा अपने जेब में करने के फन में माहिर हाजी अमीरुल्ला जैसे लोग पहले से ही ई.एस.आई. घोषणाओं पर नजर गड़ाए रखते थे। अंततः फायदा और विकास ऐसे ही शोषकों का होता था। वास्तव में "पिछले सौ वर्षों में 1980 और 1950 के दौरान रेशम उद्योग में बड़े स्तर पर पतन दिखाई पड़ता है। 1984 में बनारस के दस से बारह हजार मुसलमान विशेष प्रार्थना के लिए एक साथ एकत्र हुए थे। क्योंकि उनके काम में ठहराव आ रहा था। (भारत जीवन, 15 दिसंबर 1884, 3) दिसंबर 1891 में एक हजार से बारह हजार बुनकर बनारस के जिला मजिस्ट्रेट के घर अचानक दाम कम करने और काम न मिलने की याचिका लेकर गये थे। बुनकरों का पूरा उद्योग जगत दुखी था कि सरकार सभी बुनकरों को कालीन बुनने के व्यवसाय में लगाने का विचार कर रही थी। उस दौरान सभी बुनकर पूरी तरह असंतुष्ट और निराश थे।"[67] यह संदर्भ बुनकरों के पूरे इतिहास को व्यक्त करता है।

आज से लगभग 600 वर्ष पूर्व कबीर ने सामाजिक परिवर्तन की बात क्रांतिकारी तेवर के साथ कही थी। यह कबीर की अपने समाज से मुठभेड़ थी। एक समाज बीसवीं शताब्दी में जुलाहा मतीन का भी है, वह भी तेजी से बढ़ते औद्योगीकरण और उत्तर-आधुनिकता से आक्रांत भारत में एक बार पुनः बुनकरों की मुक्ति और सामाजिक परिवर्तन का प्रयास करता है। लेकिन आज के पूँजी केंद्रित समाज में अभावग्रस्त और आर्थिक रूप से कमजोर मतीन पूँजीपतियों के समक्ष पूर्णतः असफल हो जाता है। समय के साथ भले ही परिस्थितियाँ पूर्णतः न बदले लेकिन चेतना का सतत विकास जारी है। मतीन का बेटा पढ़-लिखकर बड़ा हो चुका है। इकबाल नई पीढ़ी का प्रतीक है। वह बुनकरों को गिरस्ता और

हाजी अमीरुल्ला जैसे लोगों के शोषण से 'मुक्त' कराने का पुरजोर प्रयत्न करता दिखाई पड़ता है। वह चौराहे पर खड़े होकर बुनकर समाज के समक्ष भाषण देता हुआ कहता है कि "हजरात ! हमें अपने हक के लिए खुद लड़ना होगा। आप जानते हैं कि जिस बनारसी साड़ी की धूम पूरी दुनिया में है- आज से नहीं सैकड़ों बरस से- और जिसके बल पर बड़े-बड़े गिरस्ता लोगों की बिल्डिंगें तनी जा रही हैं, ऐशो-इशरत के सामन से उनके घर भरे जा रहे हैं, उस साड़ी को बनाने वाले हम हैं। हम, जो बगैर नलवाली सीलन-भरी कोठरियों में रहते हैं और ईद पर सेवई कैसे आये, नए कपड़े कैसे बनें, इसके लिए दूसरों का मुँह जोहते हैं। कर्ज के बोझ से हमारे कंधे जमीन तक झुक गए हैं। हमारे करघे कर्ज पर, रेशम कर्ज पर- सबकुछ कर्ज पर। और बदले में हमें क्या मिलता है ?"[68] सैकड़ों वर्षों से बनारसी साड़ियों की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई है। बनारसी साड़ियों का यह ख्यातिलब्ध उद्द्योग तमाम गरीब बुनकरों के हुनर और श्रम के बदौलत ही अर्से से फलता-फूलता रहा है। इकबाल अपने बुनकर भाइयों में अपने हक और अधिकार के प्रति चेतना जाग्रत करने का प्रयास करते हुए उन्हें बताता है कि "आप जानते हैं कि पूरे बनारस शहर में करीब दो लाख बुनकर हैं और करीब चालीस हजार करघे यहाँ चलते हैं। अब तो पॉवरलूमों की धूम है, लेकिन सिर्फ करघों के मदद से तकरीबन पच्चीस-तीस करोड़ रूपयों की रेशमी साड़ियाँ हर साल आप लोगों की मेहनत से यहाँ तैयार होती हैं, आपको क्या मिलता है बदले में ? सिर्फ एक लुंगी ! भैंस का गोस्त ! और नंग-धड़ंग जाहिल बच्चे ! टी. बी. की बीमारी से छटपटाती हुई औरतें ! इससे ज्यादा और क्या मिलता है ? क्या दिल्ली-बम्बई, सिंगापुर-बैंकाक और फ्रांस-अमेरिका के बाजारों में आपकी बुनी हुई साड़ियाँ खरीदने वाले लोग यह जानते होंगे कि आप यहाँ कैसी जिंदगी जी रहे हैं !"[69]

उपन्यास में बुनकर समाज के प्रतिनिधि कई स्त्री पात्र भी हैं जैसे अलीमुन, रेहाना, कमरून, नजबुनिया, अख्तरुनिया आदि। ये स्त्रियाँ अपने सीलन भरी और अभावग्रस्त

जिंदगी से कभी बाहर ही नहीं निकल पाती हैं। शिक्षा इनके लिए कोई जरुरी मुद्दा समझा ही नहीं जाता है। टी. बी. जैसी बीमारी से अधिकांश स्त्रियाँ पीड़ित रहती हैं। कम उम्र में विवाह और फिर बच्चे पैदा करना ही मानो इनका काम हो। पति द्वारा नशे में अथवा किसी परिस्थिति में तीन बार तलाक कह दिए जाने पर इनकी जिंदगी जहन्नुम बन जाती है। फिर शुरू होती है दूसरे-तीसरे विवाह की मजबूरियाँ। लतीफ ने अपनी पत्नी कमरून को नशे की हालत में तलाक दे दिया था। होश में आने पर उसे अपनी गलती का एहसास होता है लेकिन बिना 'हलाला' (शरियत के मुताबिक तलाकशुदा स्त्री का निकाह किसी अन्य पुरुष से हो जाए, वह उसे एक रात रखकर तलाक दे दे, तब स्त्री अपने पूर्व पति से पुनः विवाह कर सकती है अन्यथा नहीं) के वह कमरून को वापस नहीं ला सकता है। यह स्त्री शोषण और दमन की सघन नीतियाँ जहाँ उसकी इच्छाएं, उसका पक्ष कोई मायने नहीं रखता है। इसलिए कमरून की बेटी अख्तरुनिया सोचती है "अपनी माँ के बारे में, अपने बारे में, बाप के बारे में, अपनी नयी माँ के बारे में और अपने छोटे भाई-बहिन के बारे में, अपने नइहर और अपनी ससुराल के बारे में- कहीं भी, किसी को भी सुकून नहीं था। सब एक जैसी जिंदगी जी रहे थे- घुटन और बदबू से भरी हुई।"[70] यह है आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता के दावों की पशोपेश में पड़े बीसवीं शताब्दी के भारत में बुनकर समाज एवं उस समाज की स्त्रियों की बदहाल स्थिति की यथार्थ झलक।

इकबाल बुनकर समाज की इस स्थिति को बदलने का पक्षधर है। इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी भी प्रकार की 'मुक्ति' का संघर्ष तभी सफल हो सकता है जबकि सबसे पहले अपने घर से ही शुरू किया जाये। इकबाल भी स्वयं में बदलाव लाने और एकजुट होने की बात कहता है। इकबाल के शब्दों में "पहली बात तो ये है कि हम एक हों ! और दूसरी बात यह कि हम अपनी समाजी बुराइयों को खत्म करें। सोचिये, सारी दुनिया में लड़कियाँ सिर्फ कुरान पढ़-पढ़कर पर्दों में बैठी कतान फेर रही हैं। उन्हें टी. बी. हो जाती है और उनकी

जिंदगी जहर हो जाती है। बात-बात में हमारे यहाँ तलाक हो जाता है...लड़कों को भी ज्यादा न पढ़ाकर उन्हें जल्दी ही साड़ी की पेटियाँ थमा दी जाती हैं...मैं यह नहीं कहता कि वे अपना काम न करें, करें, लेकिन पुश्तैनी धंधे के साथ-साथ हमें तरक्की करती हुई दुनिया के साथ भी चलना होगा, तभी अपने हक के लिए लड़ने का जज्बा हमारे भीतर पैदा हो सकता है, वरना नहीं।"[71] वह सरमायदारों के शिकंजे से बुनकरों के 'मुक्ति संघर्ष' के लिए विशेष रूप से नौजवान पीढ़ी का आह्वाहन करता है। इस उम्मीद के साथ कि संभवतः पिछड़े हुए बुनकर समुदाय को उसकी पीढ़ी विकासशील भारत की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में जोड़ पाएगी।

सदियों से लाखों रूपये की बनारसी साड़ियाँ बीनने वाले इन बुनकरों की स्त्रियों ने कभी रेशम का एक चिथड़ा भी न पहना हो, भले ही वे हमेशा आर्थिक रूप से अभावग्रस्त ही रहते आये हों लेकिन वर्तमान में पूँजी के खेल को गिरस्ता लोगों के शोषण को और सरकार की नीतियों को वे भली-भाँति समझ चुके हैं। इसीलिए "इस पूँजीवादी शोषण चक्र में तबाह होकर भी बुनकर संघर्ष का रास्ता नहीं छोड़ते। शोषण से मुक्ति संघर्ष की उनकी मशाल को उन्हीं की दूसरी पीढ़ी थाम लेती है। बुनकर बिरादरी में शोषण के खिलाफ एकजुट होकर संघर्ष करने की चेतना जग चुकी है। वे बार-बार टूटते हैं, लेकिन निराश नहीं होते, संघर्ष का रास्ता नहीं छोड़ते। मतीन से लेकर रऊफ चाचा, लतीफ, बशीर और इकबाल सब शामिल हैं, इस मुक्ति संघर्ष में।"[72] यद्दपि मुक्ति की यह राह इतनी आसान नहीं है तथापि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि किसी भी चेतनासंपन्न समुदाय को अधिक दिनों तक उसके अधिकारों से वंचित नहीं रखा जा सकता है।

शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'नीला चाँद' का कथा समय 1060 ई. के काशी का समाज है। शिवप्रसाद सिंह अत्यंत सजग रचनाकार हैं। मध्यकालीन समय की कथा कहते हुए भी उनका सजग मन कहीं न कहीं आधुनिक सन्दर्भों से ओतप्रोत है। जब वह

तत्कालीन समय और समाज में फैले अराजक वातावरण की चर्चा करते हैं तब उसका संघर्ष बीसवीं सदी के गतिशील भारत से भी जुड़ जाता है। उपन्यास में वर्णित अश्पृश्य जातियों और उसके आत्मसम्मान की बातें वर्तमान समय में भी बनी हुई हैं। स्त्री के अस्तित्व और आत्मसम्मान की चर्चा आज बहुत जोरों पर है। शिवप्रसाद सिंह ने इन सन्दर्भों को 'नीला चाँद' उपन्यास में उठाने का प्रयास किया है।

'नीला चाँद' उपन्यास में तत्कालीन काशी के अराजकतापूर्ण वातावरण की कथा कही गयी है। 1060 ई. की काशी तमाम तरह के संकटों के दौर से गुजर रही थी। कलचुरी नरेश कर्ण तत्कालीन समय में काशी का राजा था। उस समय की काशी का चित्रण करते हुए शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं कि "सम्पूर्ण उत्तर भारत में उन दिनों ऐसी अराजकता नहीं थी, जिसकी अंतिम परिणति काशी में दिखायी पड़ती है। न तो ब्राहमण यज्ञ-पूजा ही सम्पन्न कर पाता था, न तो नट, शैलूष आदि अपना करतब दिखाकर जीविका चला सकते थे, न तो उद्यानादि की यात्राएं सुरक्षित थीं, न तो नारियाँ आभूषण पहनकर बाहर निकल सकती थीं, न कोई विलासी अपनी प्रेमिका के साथ एक ही अश्व अथवा रथ पर बैठकर कहीं जा सकता था, न तो शास्त्र-विचक्षण लोग अपनी विद्वता का प्रमाण देकर राजा की ओर से पुरुस्कारों द्वारा सम्मानित किये जा सकते थे।"[73] राजा कर्ण की सभा चाटुकारों की सभा थी। उसकी सभा में उपस्थित लोग राजा कर्ण की प्रसस्ति गायन करते थे। कवि कर्ण की प्रशंसा में कविताएं लिखता था और इसके बदले उसे उपहार स्वरूप पुरस्कार दिये जाते थे। आज के समय में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अपनी ही स्तुति गान सुनना चाहते हैं। उस समय के राजा आज के समय के राजनीतिज्ञ तथा सत्ता के करीब ऐसे तमाम लोग अपने चारों ओर ऐसे ही लोगों की कतार खड़ा करते हैं जो एक-दूसरे की पीठ थपथपाते रहें। शिवप्रसाद सिंह 'काशी' की उस महत्वपूर्ण विशेषताओं की तरफ भी ध्यान दिलाते हैं जिससे काशी का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने लिखा है कि "ग्यारहवी शती की काशी भारत

के इने-गिने नगरों में एक थी, बल्कि कई अर्थों में सबसे विशिष्ट थी। महाजनपदों के युग में काशी के जलपोत यूरोप में धनाढ्य देशों की यात्राएं करते थे। काशी के कलाकारों द्वारा निर्मित ग्रीष्मकाल के लिए श्वास से उड़ जाने वाला अत्यंत हल्का और चिकना मलमल था, जिसे रोमी सामंत पहनकर अपनी प्रियाओं का आलिंगन करते थे। वस्त्र को छूने मात्र से ही वे कामोद्दीपत हो जाते थे। काशी से यूरोप की यात्रा पर जाने वाले पोतों पर नाना प्रकार की मूर्तियों आरकूटों के बने बर्तनों तथा आभूषणों पर लोग लट्टू हो जाते थे। काशी से एक और पण्य यूरोपीय यात्रा पर जाता था। वह था बहुमूल्य अथवा अर्धमूल्य रत्नों से जटित आभूषण जो काशी के स्वर्णकारों की साधना के परिणाम थे। धन का आधिक्य समस्या बन गया था, क्या किया जाय इसका।"[74] इस प्रसंग में काशी के दो प्रमुख व्यवसायों की चर्चा की गयी है; एक वस्त्र निर्माण और व्यापार तथा दूसरा आभूषण, बर्तन का निर्माण तथा व्यापार। वस्त्र निर्माण के क्षेत्र में काशी का अपना विशेष स्थान है। बनारसी साड़ियों का निर्माण काशी में होता है तथा इसकी ख्याति देश के हर कोने में है। कैसे धीरे-धीरे काशी की इन महत्वपूर्ण कलाओं का स्वरूप परिवर्तित होता गया और उसकी परिणति भोग-विलास की संस्कृति ने ले ली। वह आगे बताते हैं कि "विश्वेश्वर के सामने से मंदाकिनी सरित तक जाने वाले राजपथ के दोनों पार्श्वों में संस्थापित श्रेणियाँ। पहली श्रेणी भी वस्त्र-विक्रेताओं की, जिसे हम वस्त्र विपण्या कह सकते हैं। इसके समानांतर दूसरे पार्श्व में गणिकाओं के भव्य राजप्रासाद थे, जिनके यहाँ कार्य करने वाली दासियों को देखकर भी पथिक रास्ता भूल जाते थे।"[75] स्वर्ण आभूषणों के लिए भी काशी का अपना विशेष स्थान था। जैसे-जैसे यूरोपीय स्वर्ण काशी में अधिकांश मात्रा में एकत्रित होने लगा तो श्रेष्ठियों ने इसका अधिकांश भाग भोगविलास में खर्च करना प्रारम्भ कर दिया। "श्रेष्ठियों ने इस अतुल स्वर्ण राशि के एक भाग को देवालयों को, दूसरे भाग को विद्यालयों तथा अनाथालयों को और अधिकांश को भोगविलास, अनियंत्रित कामुकता की शान्ति के लिए वेश्याओं को देना

आरम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि पार्श्व स्थित श्रेणी में दो ही कारू व्यवसाय बस पाये। यानी दक्षिण में विश्वेश्वर के निकट गणिका-निवास और उत्तर में स्वर्णहाट।

यह है कला और भोग की संस्कृति, जो विश्वेश्वर के नाम लक्ष्मी-विलास से प्रेरणा लेकर काशी पर छा गयी।"[76]

समाज में गणिकाओं का नाम आदर के साथ नहीं लिया जाता है। उन्हें हीन और निकृष्ट कोटि का समझा जाता है। समाज में जो स्थान अन्य स्त्रियों का होता है वैसा स्थान गणिकाओं का नहीं होता है। शिवप्रसाद सिंह ने 'वैशिक-वीथिका' नामक खण्ड में इन गणिकाओं के स्वर्णिम इतिहास को रेखांकित किया है। "रूपाजीवा नारी का इतिहास बहुत लंबा है। एक युग था कि कौरवों की सभा में अत्याचारी सुयोधन को समझाने के लिए जब श्रीकृष्ण पहुँचे तो उनका स्वागत वेश्याओं ने किया। प्रतापी नरेशों के स्कन्धावार के साथ वेश्याएं रणभूमि में उतर ही रहीं हैं। ज्यों-ज्यों समाज आर्थिक बंधनों में जकड़ता गया, गणिकाएँ या नर्तकियाँ शरीर बेचने के लिए विवश होने लगीं। बौद्धकाल में सालवती जैसी नृत्य-कुशल युवती का गणाभिषेक हुआ था। उसका पुत्र जीवक भारत को गौरवान्वित करने वाला भिषज बना। अम्बपाली का निमंत्रण स्वीकार कर भगवान् बुद्ध ने अपने संघ के साथ वहाँ पहुँचकर भिक्षा ग्रहण की और उसे पर्मोत्त्मा नारी के सम्मान से आभूषित किया। कालिदास के युग में ऐसी अनेक युवतियाँ थी, जो अपनी कला-मर्मज्ञता का प्रदर्शन देवालयों में देवमूर्ति के प्रांगण में करती थीं। उन्हें देवदासी कहा गया। उज्जयिनी के महाकालेश्वर के भारत-विख्यात देवालय के प्रांगण में ज्योतिर्लिंग के सामने देवदासियाँ नृत्य और संगीत का प्रदर्शन करती थीं।"[77] काशी में भारत के प्रत्येक भाग से वेश्याएं थी। इनमें- वंगीया, गुर्जरी, कर्णाटकी तथा दूँण वेश्याएं प्रमुख हैं। यह वेश्याएं 5 कार्षापण से लेकर सहस्र कार्षापणतक में उपलब्ध थी। ये वेश्याएं नृत्य और कला में दक्ष होती थीं। "युगीन काशी में वेश्याओं की चार श्रेणियाँ थीं- पतित, सामान्य, उच्च, अत्युच्च। केवल नृत्य और गीत से धनोपार्जन

करने वाली वेश्याएं कलानेत्री कहलाती थीं। इनकी संख्या नगण्य थी। उपन्यास में इस प्रकार की कलानेत्री के रूप में खजुराहो की नर्तकी सुनंदा को उद्धृत किया गया है।"[78] सम्राट हर्ष तक वेश्याओं की स्थिति काफी हद तक अच्छी थी। आगे के समय में उनकी स्थिति हीन से हीनतर होती गयी। वेश्याओं की तरह ही देवदासियों की स्थिति भी खराब होती गयी। "भारत में गणिका को छठवीं शताब्दी तक हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता था। यहाँ तक कि उनके देवदासी रूप की अभिवंदना की गयी है। 'पद्मपुराण' घोषित करता है कि क्रय करके अनेक कन्याओं को मंदिर के देवता को समर्पित करने वाला स्वर्ग पाता है। नृप होता है। धनाढ्य होता है।

'क्रीता देवाय दातव्या धीरेणाक्लिष्टकर्मणा

कल्पकालभ्येत्स्वर्गो नृपो वासो महाधनी। (52/9)

"वेश्याएं तो श्वानों द्वारा दुत्कारित तब हुईं, जब साधारण से साधारण भू-स्वामियों ने अपने को सामंत, मंडलेश्वर आदि आदि उपाधियों से अलंकृत करके अपने बड़प्पन की घोषणा आरम्भ कर दी, किन्तु इनमें से अधिकांश संस्कार से विरहित बर्बर पशु से ऊपर नहीं उठ सके हैं। वे कला नहीं केवल वासना के भक्त हैं।"[79] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किस प्रकार आर्थिक रूप से सम्पन्न लोगों के द्वारा इन वेश्याओं का शोषण प्रारम्भ हुआ। उपन्यास में देवदासी मीनाक्षी के अनुसार देवदासी नौकरानी, बेगार करने वाली श्रमिक कन्या, तथा धर्म के नाम पर स्त्री का शोषण करने वाले गिद्धों के बीच फेंकी गयी मांसपिण्ड की तरह होती है। देवदासियों के संबंध में इतना तो स्पष्ट है कि इनके शोषण में सामंतों, जमींदारों, समाज के उच्च पदों पर आसीन लोगों का महत्वपूर्ण हाथ होता है। वे अपने स्वार्थ के लिए कन्याओं को धर्म के भ्रमिक जाल में फँसाकर, उन्हें देवदासी बनाकर उनका शारीरिक शोषण करते थे। देवदासियाँ मठ या मंदिर के पुजारियों के आनंद का साधन होती थीं।

उपन्यास में कई ऐसे स्थलों का वर्णन भी किया गया है जहाँ अप्रत्यक्ष रूप से वेश्यावृति का धंधा किया जाता था। ऐसे स्थलों में यात्रियों के लिए बनाये गये विश्रामालय प्रमुख थे। इनके भीतर देह-व्यापार का कार्य चलता था। इसके साथ ही उपन्यास के एक पात्र बिस्सू मिस्सर ने अपने ही घर में वेश्यालय खोल रखा था। इस पूरी प्रक्रिया से काशी के तत्कालीन समय में भोग-वासना की प्रवृति का पता चलता है। आज के समय में भी वेश्याओं की आर्थिक स्थिति बदहाल है। उनके रख-रखाव के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाये जाते हैं। उन्हें अछूत की तरह देखा और उनसे उसी प्रकार बर्ताव किया जाता है। आज बीसवीं शताब्दी के इस दौर में वेश्याएं परम्परागत ढंग से थोड़ा अलग हटकर डांस बार में काम करने लगी हैं, लेकिन उनके शारीरिक शोषण का सिलसिला उसी तरह जारी है। आज जरूरत है उनके बेहतर पुनर्वास की और आर्थिक रूप से उन्हें सम्पन्न बनाने की ताकि वह इस गंदगी भरे वातावरण से बाहर निकल सकें और अपना बेहतर भविष्य बना सकें।

'नीला चाँद' उपन्यास में तद्युगीन समाज की अछूत समझी जाने वाली जातियों का स्पष्ट चित्रण किया गया है। उपन्यासकार इन जातियों के अस्पृश्यता के खिलाफ दिखाई देता है। इसके लिए वह धार्मिक ग्रंथों पर भी चोट करने से नहीं कतराता है। यह वह जातियाँ हैं जिन्हें सदियों से अपमान और तिरस्कार का दंश झेलना पड़ा है। "पूरे विश्व में तिरस्कार और घृणा को वहन करने वाली ऐसी जाति नहीं मिलेगी जैसी भारत में चांडाल, श्वपच अथवा डोम नाम से पुकारी जाने वाली जाति है। इनकी छाया पड़ जाने से ही धर्म नष्ट हो जाता है। संभाषण से घोर पाप होता है। अपमान, तिरस्कार, घृणा आदि से अलंकृत यह जाति धिक्कार और जुगुप्सा का पर्याय बन गयी है। गीता चिल्ला-चिल्लाकर कहती रही कि ब्रह्मविद् पंडित वही है जो कुत्ते, चांडाल आदि में सर्वत्र एक बुद्धि रखता है। यह समदर्शिता निश्चित ही श्लाघ्य है, किन्तु गीता जिस विराट विद्यारण्य का एक अंश है

यानी महाभारत का, वही चांडालों के बारे में क्या कहता है, 'शूद्र नापित और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न व्यक्ति चांडाल है। चांडाल परमोच्च और निम्नोच्च का सम्मिश्रण है।' आपस्तम्ब ऋषि ने तो यहाँ तक धर्मोपदेश दे दिया कि चांडाल का स्पर्श करना ही पाप नहीं, बल्कि उससे संभाषण करना, उसका दर्शन करना भी पाप है। इनमें से कोई भी पाप हो जाये तो उसका प्रायश्चित करना आवश्यक है।"[80] धार्मिक ग्रंथों में इस प्रकार के वाक्य घृणित मानसिकता से ग्रस्त लोगों के द्वारा लिखे गये हैं। ब्राह्मणवादी सोच यहाँ अभिव्यक्त हुई है। आज भी उत्तर आधुनिक कहे जाने वाले दौर में असमानता से पूर्ण समाज से क्या हम मुक्त हो पाए हैं ? शायद नहीं। जाति व्यवस्था की दीवारे कहीं न कहीं कमोबेश जस की तस उसी प्रकार बनी हुई हैं जैसी पहले थी। थोड़ा बहुत परिवर्तन दिखाई देता है लेकिन यह उतना अधिक नहीं है जिसे हम रेखांकित कर सकें। हजारों सालों से शूद्रों तथा अन्य निम्न कोटि की जातियों को विद्या अर्जन से वंचित रखा गया। अब स्थितियाँ बदल रही हैं। उपन्यास का पात्र 'महेसुवा' पढ़ना चाहता है। उसने निश्चय किया कि चाहे जो हो पढूंगा जरुर। इस प्रकार के आत्मसम्मान और आत्मनिर्भर बनने की भावना आज हर व्यक्ति में होनी चाहिए।

डोम, चांडाल तथा अश्पृश्य समझे जाने वाली जातियों की समस्याओं से उपन्यासकार पाठक को अवगत कराता है। यह एक सजग उपन्यासकार की सजगता ही है जो तद्युगीन समाज की ज्वलंत समस्याओं से होड़ लेता है। डोम जाति के दुख-दर्द को भरत डोम और उसके भाई सूरत डोम के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। भरत के भाई सूरत ने काशिराज चन्द्रदेव के कोट्टपाल से कह दिया कि वह मरे हुए बैल, अश्व अथवा मनुष्य के शव को उठाने नहीं जाएगा। वह कहता है कि नगर के गणमान्य व्यक्तियों को हमारी याद तब आती है जब शव सड़ने लगता है। कौवे, गिद्ध और चील मंडराने लगते हैं। चारों ओर विचित्र प्रकार की दुर्गन्धि से रास्ता चलना कठिन हो जाता है। वह आगे बताता है कि "हम

अपने कार्य से नगर में जाते हैं तो आपके धर्मोपदेशक यह कहते हैं कि चौड़ी लकड़ियों का झंझ बजाते हुए नगर में प्रवेश करना चाहिए, ताकि किसी से शरीर छू न जाए, किसी पर घिनौनी छाया न पड़ जाय। संभाषण से अपवित्र न हो जायं लोग। तो उन्हीं धर्मोपदेशकों से कहिए कि लावारिस शव, मरे हुए जानवर आदि स्वत: उठाकर वे गंगा तक ले जायं। हम बांस की टोकरियाँ बनाकर किसी तरह अपनी जीविका पा लेंगे। आप बहुत करेंगे, यहाँ से उजाड देंगे। हम स्थायी देशवासी हुए कब ? हम अपनी जीर्ण-क्षीण गृहस्थी के सामानों को कंधों पर लादकर कहीं और चले जायेंगे।"[81] आज भी तमाम ऐसी घुमंतू जातियाँ हैं जिनको भारत का नागरिक होने का अधिकार प्राप्त नहीं है। तद्युगीन डोम जाति समाज में रहते हुए, वहाँ के सबसे घृणित कार्य को करते हुए भी देश का नागरिक नहीं हो पाया है। एक जाति का सबसे बड़ा दु:ख इससे ज्यादा और क्या हो सकता है ?

उपन्यास में नट जाति का विस्तृत वर्णन मिलता है। उपन्यासकार ने बताया है कि दो प्रकार के नटों की श्रेणियाँ थी एक भैंसवार नट तथा दूसरी भेरिया नट। भैंसवार नटों की आजीविका का साधन भैंस थी तथा भेरिया नट भैंसवार नटों से निम्न कोटि के माने जाते थे। यह अपनी स्त्रियों से वेश्यावृति भी करवाते थे। इनकी लड़कियाँ अत्यंत रूपवती होती थीं। क्योंकि "नटों के बारे में कहा जाता था कि ये जहाँ डेरा डालते हैं, वहाँ किसी सेठ-साहूकार के घर में सेंध मारकर धन दौलत लूटने में उतना अभिनिवेश नहीं दिखाते, जितना छोटी बच्चियों को चुराने में दिखाते हैं। परिणामत: जवानी में वर्णशंकर बच्चे-बच्चियाँ बहुत ही आकर्षक लगती हैं।"[82] हठयोगियों के समक्ष शारीरिक करतब से इनका जीवन यापन चलता था। "नटों के अदभुत देह-संतुलन का उपयोग करते हुए कीरत ने राजा लक्ष्मीकर्ण के विरुद्ध युद्ध में लक्ष्मीकर्ण की विशाल सेना के छक्के छुडा दिये थे। नटों की लड़कियाँ और स्त्रियाँ गुरियों की माला, लाख-राल, गोंद, गुग्गुल, शहद, साँपों के चमड़े आदि एकत्र करके बड़े-बड़े घरों के अंत:पुर में जाकर बेचती थीं। ये स्त्रियाँ गोदना गोदने में कुशल होती थीं।

घर के भीतर तक प्रवेश होने के कारण ये घरों की अंदरूनी बातों तक की जानकारी प्राप्त कर लेती थीं। कीरत ने इन स्त्रियों की इस क्षमता का भी लाभ उठाया था।"[83] इस प्रकार उपन्यासकार ने नटों की जीवन शैली, उनकी बोली-भाषा, लोकगीत इत्यादि का उपयोग करके वर्णन को अत्यंत सहज बना दिया है। काशी और उसके समाज का यह चित्रण एक व्यापक फलक को विस्तार देता है।

इस उपन्यास की महत्वपूर्ण स्त्री पात्र महायोगिनी शीलभद्रा है। वह अत्यंत शांत और जाति-पाँति का भेदभाव न मानने वाली स्त्री है। वह भरत डोम को कहती है कि किसी के आगे हाथ मत फैलाना। उन्हीं की शिष्या कौमुदी चट्टोपाध्याय कहती है कि "हम ब्राह्मणों और शुद्रों में भेद नहीं करते।"[84] शीलभद्रा समाज की अनैतिक कुप्रथाओं मसलन जातिप्रथा, छुआछूत जैसी समस्याओं को दूर करके एक नया प्रभात लाने की बात करती हैं। वह कहती है कि "शूद्र तो हम हैं जो अपने शरीर को आडम्बर से सजाते हैं, हालाँकि शरीर-बुद्धि के लिए जो-जो खट्कर्म हम करते रहते हैं उसके लिए सामग्री लाने का कार्य शूद्र ही करते हैं। दूध लाने वाला ग्वाला, स्नान करने वाला नापित, केशों को सुगन्धित करने वाली सैरंध्री, माला लाने वाला माली, गोधूम चणक को पीसने वाली शूद्र कन्याएं, नाव से घाटों को दिखाने वाला केवटपुत्र, मंदिरों के बाहर की कीचड़-कर्दम को उठाने वाला महत्तर (मेहतर), बर्तन-बासन धोने वाली चेरी या दासी सब तो शूद्र ही हैं, भाभी। काश ! तुम लोग तथाकथित श्रेष्ठ वर्णों को तिलांजलि दे सकती तो वह नये युग का प्रकाश देने वाला प्रभात होता।"[85] यहाँ पर शीलभद्रा जाति व्यवस्था को मानने वाली मानसिकता को त्यागने की बात कर रही है ताकि एक स्वच्छ और सुन्दर समाज का निर्माण हो सके, जहाँ किसी भी तरह का भेदभाव नहीं हो। उपन्यास का मुख्य पात्र कीरत सिंह भी शोषण मुक्त और जाति के नाम पर भेदभाव से भरे समाज की निंदा करते हैं। वह अपने व्यक्तिगत जीवन में इस तरह की व्यवस्था को शामिल नहीं करते हैं। कीरत सिंह के बारे में उपन्यासकार लिखता हैं

कि "वे एक नया प्रभात लाना चाहते हैं। वे राजकीय औपचारिकता को तोड़कर प्रजा के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर चलते रहने का व्रत ले चुके हैं। आदिवासी सूरज गोंड को वे 'काका' कहते हैं, बब्बर नट को 'चाचा' कहते हैं। लोचन गोंड को 'वत्स' कहते हैं। उनको देखकर लगता है कि अब नाना ढंग से प्रजा से चूसने वाली सामंती-व्यवस्था की मृत्यु का समय आ गया है।"[86] काशी में नया प्रभात लाने की यह सोच बहुत सुखद है। आज बीसवीं सदी में सामंती-व्यवस्था तो नहीं है परंतु संकट और भी गहरा हो गया है। पूँजीवाद, बाजारवाद जैसी शक्तियाँ विविध प्रकार से लोगों का शोषण कर रही हैं। जाति प्रथा के टूटने का संकेत उपन्यास में तो कर दिया गया है परंतु आज भी वैसी स्थिति नहीं है। शहरी संस्कृति में यह व्यवस्था कुछ तो टूट रही है परंतु आज भी गाँवों में खानपान के स्तर पर छुआछूत का भेदभाव निरंतर जारी है।

'नीला चाँद' उपन्यास में धर्म के नाम पर जनता को ठग रहे ढ़ोंगी साधु-महात्माओं पर भी कटाक्ष किया गया है। उपन्यास का एक पात्र चांडाल कहता है कि "अनेक लोग संन्यासी का वेश बनाकर गृहस्थों को ठगा करते हैं। वे हाथ में दंड धारण किये हुए, कमंडलु लिये, गेरुवा वस्त्र पहने, चतुरता के वचन बोलते हैं, पर उनमें ज्ञान का लेशमात्र भी नहीं होता।"[87] आगे एक और स्थान पर इन ढोंगी चरित्रों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "इस नगर में मैंने सैकड़ों ब्राह्मणों, क्षत्रियों और श्रेष्ठियों को देखा है, जो अपने को धर्म का आश्रय स्थल मानते हैं। वे दरिद्रों, दासों, शूद्रों, चर्मकारों, चांडालों के उद्धार के उद्देश्य से आत्मप्रचार में तल्लीन रहते हैं। स्वयं उनकी अंतरात्मा में सड़ी-गली परम्परा के कीड़े कुलबुलाते रहते हैं। जब अपने भीतर के जंवाल (कीचड़) को दूर नहीं कर सकते तो दूसरों के लिए क्या कर पायेंगे।"[88] यह पूरा प्रसंग कहीं न कहीं काशी के उस परिवेश को भी दर्शाता है जहाँ धर्म के नाम पर लोग एक-दूसरे को ठगने का कार्य भी करते थे। धर्म का आतंक दिखाकर सामान्य प्रजा को मूर्ख बनाने का कार्य आज भी अनवरत रूप से जारी है।

उपन्यासकार ने काशी के समाज के बारे में जो भी बातें की हैं; वह आज के संदर्भ में भी प्रासंगिक हैं। जातिप्रथा, वेश्या समस्या, धर्म के नाम पर स्त्रियों का शोषण, धर्म का आवरण डालकर भोली जनता को ठगने जैसा कार्य तब भी मौजूद था और आज भी मौजूद है। जाति व्यवस्था की जड़े टूटी जरूर हैं, पर उतनी नहीं जितनी होनी चाहिए। अत: ऐसे समय को पहचानने का कार्य एक सजग उपन्यासकार ही कर सकता है।

'वैश्वानर' उपन्यास का आरंभ ही जनपदोध्वंसक तक्मा रोग से ग्रस्त काशी के समाज से होता है। काशी में इस संक्रामक रोग से पिछले तीन महीने से पूरे नगर में अराजकता का माहौल व्याप्त हो गया था। इस रोग के निवारण के लिए काशी के मुंडा और किरात आदिवासियों द्वारा धन्वन्तरि का आवाहन किया जाता है जिससे तक्मा रोग से काशी को मुक्त कराया जा सके। इस सन्दर्भ में उपन्यासकर लिखता है कि "काशी नगर जनपदोध्वंसक तक्मा रोग से ग्रस्त है, नाना प्रकार के संकट प्रतिदिन हमारा पथ रूँध दे रहे हैं। हे पितृव्य आपके पुत्र विष्णु देवांश भिषक् धन्वन्तरि को मैं तीन महीनों से पुकार रहा हूँ। तीन महोनों में तीन सौ से अधिक आर्य, और एक सहस्र से अधिक मुंडा और किरात जन मृत्यु की गोद में समा चुके हैं। तीन महीनों में पूरा नगर कुत्सित, दुर्गंधित पदार्थों से भाराक्रांत है। आर्त जनों के शरीर को छूने में भी डर लगता है। इनके शरीर बड़े-बड़े मुक्ता के दानों जैसे फफोलों से भरे हैं। कई के नेत्रों की ज्योति चली गयी। दूसरी ओर प्रबल शीतकंप जगाता ज्वर वेग जब व्यक्तियों पर चढ़ता है तो भवन में प्राप्त सभी तूलपट, मसृण उर्जा के रॉकाब (कंबल) भी उढ़ाये जायें तो भी वह शीतकंप ज्यों का त्यों बना रहता है।"[89] धन्वन्तरि काशी आते हैं और तक्मा रोग से काशी को मुक्त करने के लिए अपने अपने प्राणों को भी दाव पर लगाने की प्रतिज्ञा करते हैं।

काशी के समाज में उस समय ऊँच-नीच का भाव विद्यमान था। मुंडा और किरातों को अछूत समझा जाता था। इन अछूत जातियों को मंदिर में प्रवेश नहीं करने दिया जाता

था। आज बीसवीं सदी में भी वैदिक कालीन समाज से बहुत ज्यादा अंतर नहीं दिखाई देता है। आज भी समाज के अलग-अलग हिस्सों में शूद्रों का मंदिर में प्रवेश वर्जित है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को मानने वाली इस भारतीय संस्कृति में आज भी इस तरह के अनाचार होते रहते हैं। उपन्यास में धन्वन्तरि समानता के पक्षधर के रूप में उपस्थित होते हैं। वह जाति-पाँति के भेदभाव को नहीं मानते हैं। वह खुद स्वीकार करते हैं कि सभी भगवान् के रूप हैं। विधाता की सृष्टि में कोई स्पृश्य और कोई अस्पृश्य नहीं होता है। धन्वन्तरि हमेशा जनता की सेवा की ओर तत्पर रहते हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य है कि प्रत्येक व्यक्ति आरोग्यपूर्ण अपना जीवन-यापन कर सके। यही कारण है कि वह तत्कालीन काशी की जनता को तक्मा रोग से मुक्त कर सके।

काशी में उस समय यज्ञ संस्कृति में प्रचलित नर-बलि तथा पशु-बलि का विधान प्रचलित था। दीर्घतमा के वंशज और उपन्यास के मुख्य पात्र प्रतर्दन तथा विश्वामित्र दोनों यज्ञ संस्कृति में बलि प्रथा का विरोध करते हैं। वैदिक कालीन समय में इन स्थितियों को चुनौती देना साहस का कार्य था। युवराज प्रतर्दन ने वह साहस दिखाया। वह यज्ञ संस्कृति के विरोध में खड़ा दिखाई देता है। आज भी पशु-बलि की प्रथा का चलन कई समाजों में व्याप्त है। अंधविश्वास और धर्म के नाम पर निरीह पशुओं की बलि चढ़ा दी जाती है। बीसवीं सदी के समाज में इस तरह की पूजा-पद्धतियों का होना हमें शर्मसार करता है। आज हमें उन सड़े-गले मूल्यों को त्यागने की आवश्यकता है ताकि हम विकास के नये पथ पर आगे बढ़ सके।

साहित्य का समाज से गहरा संबंध होता है। कोई भी साहित्य समाज से कटकर नहीं रचा जा सकता है, उसमें कहीं न कहीं समाज अवश्य प्रतिबिम्बित होता है। सामाजिक सरोकारों से जुड़कर रचा गया साहित्य ही उच्च साहित्य होता है। साहित्य में सामाजिक सरोकारों को व्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम उपन्यास है। उपन्यासकार सामाजिक

प्राणी है और वह समाज के सारे सम्बंधों को अपने उपन्यास में वर्णित करता है। महान उपन्यासकार प्रेमचंद समाज और उपन्यास के अंतर्संबंधों को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं कि ''मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मानता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।''[90] इस प्रकार उपन्यास समाज और सामाजिक जीवन की व्यापक झाँकी प्रस्तुत करता है।

इस दृष्टि से देखे तो उपन्यास 'काशी का अस्सी' एक सफल कृति है। स्वयं काशीनाथ सिंह का मानना है कि साहित्य समाज से पैदा होता है, बिना समाज के अनुभव के रचना नहीं हो सकती। इसलिए 'काशी का अस्सी' के माध्यम से आज के उस बनारस का चित्रण किया गया है जो समय के साथ अपने आप को बदल रहा है। समाज में हो रहे सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव का चित्रण करना ही उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है। इसके लिए वह अस्सी के समाज को चुनते हैं।

'काशी का अस्सी' में लेखक समाज की उस तल्ख सच्चाई को उजागर करता है जो अस्सी के समाज को गहरे तक प्रभावित कर रहा है। अस्सी बदल रहा है और वहाँ के लोग बदल रहे हैं। भूमंडलीकरण, बाजारवाद, नवपूँजीवाद, नवउपभोक्तावाद ने लोगों को अपनी गिरफ्त में ले लिया है जिसके कारण अस्सी का समाज गहरे तक प्रभावित हुआ है। टूटती संवेदनाओं, बिखरते जीवन मूल्यों पर इन सब का अत्यधिक गहरा प्रभाव है जिसके कारण अस्सी की मस्ती को ग्रहण लग रहा है। जो अस्सी वर्गहीन समाज का सबसे बड़ा जनतंत्र था, उसके ऊपर वैश्विक प्रभावों का असर होता जा रहा है। हँसी और फक्कड़पन से प्रारम्भ हुआ उपन्यास अंत तक आते-आते हाहाकार में बदल जाता है।

'काशी का अस्सी' में काशीनाथ सिंह ने राजनीति के टुच्चेपन, भ्रष्टाचार, विदेशियों के आगमन से वहाँ के लोगों के जीवन में हो रहे बदलाव, बनारस के घाटों पर रहने वालों मल्लाहों के जीवन स्तर में हो रहे बदलाव इत्यादि का चित्रण किया है। स्वयं लेखक कहता

है कि ''अस्सी को बदलते हुए देख रहा था, लोग बदल रहे थे।....कारण चाहे भूमंडलीकरण का रहा हो या और। विदेशी आ रहे थे, घाट के किनारे मकान, लॉज बनने शुरु हो गये थे, वे हमारे बीच रह रहे थे, हमारे जीवन को प्रभावित कर रहे थे।''[91] अस्सी पर हो रहे सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक बदलाव के माध्यम से देश की स्थिति की पहचान की गयी हैं। इस विषय में काशीनाथ सिंह का कहना है कि ''देखिए कहने को तो यह मुहल्ला है, लेकिन रिफ्लेक्ट कर रहा है पूरे देश को। विदेशियों में आस्ट्रेलिया, नाइजेरिया, हंगरी से थे जो अपनी संस्कृति के साथ हमारे बीच में थे। इस वजह से हम सांस्कृतिक धरातल पर एक दूसरे से मिल रहे थे। मुझे लग रहा है कि वस्तुतः यह है एक मुहल्ला, लेकिन है नहीं मुहल्ला, यह है पूरा देश।...भूमंडलीकरण के दौरान अस्सी सूचक है देशी विदेशी परिप्रेक्ष्य में। बड़ा फलक है। अस्सी को एक मुहल्ला मानकर न देखा जाय।''[92] इस प्रकार अस्सी के समाज में हो रहे बदलाव को पूरे वैश्विक परिदृश्य में रखकर देखा गया है और अस्सी पूरे देश का प्रतिनिधित्व करता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

'काशी का अस्सी' में लेखक ने अस्सी चौराहे पर स्थित पप्पू चाय की दुकान को केन्द्र में रखकर पूरे उपन्यास का ढाँचा खड़ा किया है। इसी दुकान पर लोगों द्वारा समाज, देश, विश्व की प्रत्येक चिंताओं के बारे में विचार व्यक्त किए जाते हैं और उनका समाधान भी प्रस्तुत किया जाता है।

इस उपन्यास में 90 के दशक में हो रहे राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को दिखाया गया है जो अस्सी के लोगों को बदल रहा है। इस बदलाव के केन्द्र में अस्सी का समाज है। यह समाज अस्सी चौराहे के आस-पास घाटों के किनारे पर स्थित है। इनके जीवन में होने वाले बदलाव और इस बदलाव के कारणों को इस उपन्यास में बखूबी दर्शाया गया है।

'काशी का अस्सी' में अस्सी के लोगों के जीवन स्तर में हो रहे बदलाव को दिखाया गया है। अस्सी के पोशाक के संबंध में कथाकार लिखता है कि "कमर में गमच्छा, कन्धे पर लँगोट और बदन पर जनेऊ- यह 'यूनिफार्म' है अस्सी का।"[93] हाँलाकि समाज में हो रहे बदलाव तथा महानगरों में हो रहे विकास के प्रभाव के फलस्वरूप अस्सी के जीवन-स्तर में भी परिवर्तन हो रहा है। फैशन की दुनिया में अस्सी कैसे अलग रह सकता है। फैशन का यह प्रभाव अस्सी के नई पीढ़ी के लोगों के पोशाकों को देखकर लगाया जा सकता है। लेखक उपन्यास में इसके बारे में लिखता है "हालाँकि बम्बई-दिल्ली के चलते कपड़े-लत्ते की दुनिया में काफी प्रदूषण आ गया है। पैंट-शर्ट, जीन्स, सफारी और भी जाने कैसी-कैसी पोशाकें पहनने लगे हैं लोग।"[94] महानगरों के रहन-सहन में हो रहे बदलाव से अस्सी कैसे अछूता रह सकता है। वह भी अपने को बदल रहा है।

अस्सी के समाज के बारे में लेखक लिखता है कि यहाँ पर कोई जाति-पाँति नहीं है। सब लोग आम है खास कोई नहीं। "वर्गहीन समाज का सबसे बड़ा जनतंत्र है यह"[95] यहाँ पर सबके लिए एक ही सम्बोधन है गुरु ! अस्सी के लोग भी मस्ती और फक्कड़पन के साथ एक-दूसरे से मिलते हैं, हँसी मजाक करते हैं। किसी का किसी के प्रति कटुता का भाव नहीं है। "पूरा मुहल्ला पीढ़ियों से इसी शैली में जीता चला आ रहा था- गाता, बजाता, झूमता, मदमाता। किसी के पास डिग्री नहीं, रोजगार नहीं, नौकरी नहीं, व्यवसाय नहीं, काम नहीं, परलोक सिधारते समय पंडित महाराज ने पत्रा-पोथी लपेटे एक लाल बेठन खोंस दिया बेटे की काँख में बस। वे तख्त पर बेठन रखे हुए जनेऊ से पीठ खुजा रहे हैं और जजमान का इन्तजार कर रहें हैं।"[96] यह फक्कड़पना-सी मस्ती अस्सी के लोगों के बीच हमेशा मौजूद रही है जो उन्हें सभी प्रकार के तनावों से मुक्त रखती है। "चौके में कुछ नहीं, मगर जिये जा रहे हैं- ताव के साथ। चेहरे पर कोई तनाव नहीं कहीं कोई फिक्र नहीं...."[97] इसी अस्सी की अलमस्त दुनिया पर एक दिन आस-पास के जिलों के लोगों का हमला होता है।

यह वह लोग हैं जो बेरोजगार हैं और रोजगार की तलाश में गाँव से शहरों की ओर पलायन करते हैं। ''भारत पर तो बेशक हमले हुए- यवनों के, शकों के, हूणों के, कुषाणों के, लेकिन अलग-अलग और बारी-बारी, मगर अस्सी पर एक ही साथ कई राज्यों और जिलों से हमले हुए- आरा, सासाराम, भोजपुर, छपरा, बलिया, गाजीपुर, आजमगढ़, जौनपुर, गोरखपुर, देवरिया जाने कहाँ-कहाँ से 'जुवा' लकड़े यूनिवर्सिटी में पढ़ने आये और चौराहे पर डेरा-डंडा गाड़ चले।''[98] इस कथन की ओर संकेत करते हुए हीरालाल नागर लिखते हैं ''यह बात सन् 1970 के बाद देश में हो रहे सामाजिक एवं सांस्कृतिक बदलाव का संकेत भर नहीं देती है, यह आभास भी कराती है कि गरीब और मजदूर वर्ग रोजी-रोटी की तलाश में गाँवों से शहर की तरफ पलायन कर चुका है और यहाँ पर देश की नई संस्कृति निर्मित कर रहा है।''[99]

बनारस आस-पास के जिलों के लिए एक बड़ा शहर है इसलिए लोगों का आगमन भी यही पर होता है। वह अपनी बोली-बानी के साथ अस्सी आते हैं और अपना डेरा-डंडा डाल देते हैं। वह अपनी संस्कृति और परम्परा से अस्सी के समाज और संस्कृति को प्रभावित भी करते हैं। आदमी बदल रहा है, समाज बदल रहा है, इतना ही नहीं पूरा देश बदल रहा है। बनारस को मिनी भारत कहा जाता है। यहाँ पर विभिन्न प्रदेशों से लोग आकर बसे हैं। इसलिए यहाँ के जीवन स्तर में भी बदलाव स्वाभाविक है। चूँकि बनारस पूरे देश का प्रतिनिधित्व कर रहा है इसलिए यहाँ के सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव को पूरे देश के स्तर पर देखा जा सकता है।

सन् 1980 के आस-पास अस्सी पर चार नस्लें आती है। पहली फाइन आर्टस वालों की जो पेंसिल और स्केच बुक लिए लोगों के चित्र बनाया करते हैं। दूसरी गायक वादकों की- ''ये कढ़ाई किए हुए रंग-बिरंगे कुर्ते और चुड़ीदार पाजामा पहने, कन्धे पर झूलते लम्बे बाल बढ़ाए किसी गुरु या चेली के साथ बगल में तानपूरा दबाए इधर-उधर आते-जाते नजर आते हैं।''[100] तीसरी नस्ल पत्रकारों की ''ये मालिकों को गरियाते हैं लेकिन छापने वहीं हैं

जो वह चाहता है।''[101] चौथी नस्ल गोवर्धन धारियों (नेताओं) की- ''जो कानी उँगली पर 'राष्ट्र' उठाए किसी चेले के 'हिरों होंडा' पर दस-बारह साल से मुस्की मार रहे हैं।''[102]

पूरे उपन्यास में इन्हीं चार नस्ल के लोगों के माध्यम से देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। अस्सी चौराहे पर स्थित पप्पू चाय वाले की दुकान इनकी बहसों का केन्द्र है। यही पर देश की समस्याओं के साथ ही साथ वैश्विक स्तर की समस्याओं पर भी अपने-अपने ढंग से विचार व्यक्त किए जाते हैं और उनका समाधान भी प्रस्तुत किया जाता है।

इस उपन्यास में लेखक ने राजनीतिक स्थिति का चित्रण किया है। इसके माध्यम से अस्सी में रहने वाले लोगों के व्यवहारिक जीवन में आने वाले परिवर्तनों को भी दिखाया गया है तथा राजनीति में आयी मूल्यहीनता, भ्रष्टाचार इत्यादि की शिनाख्त भी की गयी है।

''कमंडल मंडल पर भारी पड़ रहा है।''[103] यह वाक्य उस समय की तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य को विश्लेषित कर रहा है। 1990 में वी.पी. सिंह द्वारा लागू की गयी मंडल आयोग की रिपोर्ट सामाजिक एवं शैक्षिण रूप से पिछड़े लोगों के हित में थी। वी. पी. सिंह ने सामाजिक परितर्वन की बात की थी इसलिए उन पर सवर्ण जाति के लोगों द्वारा कटु टिप्पणियाँ की जाती हैं। तन्नी गुरु द्वारा कहा गया वाक्य उस समय की सवर्णों की मानसिकता को बखूबी दर्शाता है- ''जब वह विपिया भोसड़ी के हर जगह से दुरदुराया और लतियाया जा रहा था तो यही अस्सी-भदैनी है जिसने उसका तिलक किया और कहा- राजर्षि ! राजा नहीं फकीर है, देस की तकदीर है !..... और ससुरा दिल्ली गया तो हमारे ही 'उसमें' डंडा कर दिया।''[104] मंडल आयोग के लागू होने से उच्च वर्ग की जातियों में खलबली मच गयी। वह यह नहीं स्वीकार कर पा रहे थे कि पिछड़ी और दलित जातियाँ समाज के मुख्य दायरे में आ सके। पिछड़ी और दलित जातियाँ हजारों साल से गरीबी,

अशिक्षा, बेरोजगारी का दंश झेलते आ रहे थे और साथ ही साथ सवर्णों द्वारा शोषित भी किए जा रहे थे। इन्हीं शोषण और असमानता को दूर करने के लिए मंडल आयोग की रिपोर्ट लागू की गयी थी। परिणामस्वरूप इसका पर्याप्त विरोध हुआ। उस समय अयोध्या में मंदिर-मस्जिद का मुद्दा भी जोर पकड़ता जा रहा था। पूरा देश एक उथल-पुथल की स्थिति में था। चारो तरफ मंडल-कमंडल के झगड़े हो रहे थे। उस समय की राजनीतिक स्थितियाँ अपने अराजकता के दौर से गुजर रहीं थी। स्वयं लेखक इन स्थितियों का ब्यौरा प्रस्तुत करता है "देश जल रहा था उसके पहले से। उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक। सिर्फ दिल बचा था। दिल माने उत्तर प्रदेश ! मंडल-कमंडल के झगड़े ने इसे भी लपेट लिया। दिल्ली की सरकार अब गई की तब गयी-यही लगा हुआ था। पप्पू की दुकान के सामने, कहना वीरेन्द्र श्रीवास्तव का कि 'पी.एम. मंडल आयोग में फँस गया, सी.एम. बाबरी मस्जिद में और डी.एम. दोनों की व्यवस्था में- देश भोंसड़ी के जहाँ का तहाँ है।"[105]

पूरे देश का घटना परिदृश्य बदल रहा है। इस बदलाव को रेखांकित किया गया है उपन्यास 'काशी का अस्सी' में। सामाजिक परिवर्तन के पक्ष में कुछ पार्टियों ने अपने कदम बढ़ाए जरुर पर आगे चलकर वह भी अवसरवादी होते गये। स्वार्थ सिद्धि के लिए वह सामाजिक परिवर्तन के मुद्दे को भुनाते रहे। इसके बारे में लेखक लिखता है "रामवचन पांडे ने घोषणा की कि कम्युनिस्ट पार्टियों और डोम में कोई फर्क नहीं है। जिस तरह डोम घाट (मसान) पर लकड़ी वगैरह जुटाकर मुर्दे का इन्तजार करता रहता है, उसी तरह ये पार्टियाँ भी टकटकी लगाए बैठी रहती हैं कि सरकार कब गिरे।"[106] सत्ता का जोड़-तोड़ इन सामाजिक मुद्दों के आड़ में खेला जा रहा है। राजनीति अवसरवादी होती जा रही है। कोई उनकी बातों को तवज्जों नहीं देता है। उनकी हर बात को शक की निगाह से देखा जाता है। कोई इनकी बातों का विश्वास नहीं करता है। रामवचन पांडे अस्सी के बड़े-बुजुर्ग नेता है। उनकी समाज में क्या स्थिति है इसको लेखक ने पात्र के मुँह से ही कहलवाया है- "इस

देश में बुद्धिजीवी से बेकार कुछ भी नहीं है जी। अब यही देखिए, मैं एम.एस.सी. हूँ। पीएच.डी. हूँ। नेता हूँ, बुद्धिजीवी हूँ लेकिन गाँव जाता हूँ तो कोई मुझ पर विश्वास नहीं करता। जहाँ गाँव घर की किसी गंभीर समस्या पर बात होती है, लोग सीधे-सीधे कह देते हैं, अरे इनसे क्या पूँछ रहे हैं, ये तो नेता हैं। यहीं नहीं जब हमारे दरवाजे का बनिहार हमारे ही काम में घंटे भर के लिए बाहर जाने लगता है चाहे वह खलिहान का काम हो, चाहे कोई और- संदेह से मेरी ओर देखता है और पूछता है- नेताजी ! अभी तो यहाँ बैठे रहिएगा न ! जरा नजर रखिए, आ रहे हैं। वह चला तो जाता है लेकिन उसके भीतर बराबर डर रहता है कि कहीं मैं उठकर चला न जाउँ।''[107]

अस्सी की राजनीतिक गतिविधियाँ समय के साथ बदलती रहती हैं। पार्टियों के मूल्य और सिद्धान्त कहने भर की चीजें हैं। समय आने पर वह बदल जाते हैं। इस पर हरिद्वार पांडे कहते हैं ''यहाँ हफ्ते भर के भीतर सारा समीकरण बदल जाता है और सिद्धान्त धरा रह जाता है। क्यों नहीं देखते लोग कि 3 अगस्त 1990 को देवीलाल के निकाले जाने पर जो लोग 'वी.पी. सिंह जिन्दाबाद' और 'देवीलाल मुर्दाबाद' बोल रहे थे। वहीं लोग 15 अगस्त 1990 को मंडल आयोग की घोषणा के बाद 'वी.पी. सिंह मुर्दाबाद' बोलने लगे।''[108] यह सिर्फ अस्सी की स्थिति नहीं बल्कि पूरे उत्तर भारत की यही स्थिति है।

घटना परिदृश्य में बदलाव हुआ। यह वही समय था जब भारतीय जनता पार्टी राममंदिर के मुद्दे पर लोगों को एकजुट करने में लगी थी। इसका असर भी अस्सी की दिनचर्या पर पड़ा। लोगों की आस्था को आधार बनाकर एक व्यापक आंदोलन का रूप दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि हजारों की संख्या में लोग रामभक्त हो गये। लेखक ने अस्सी पर इसके प्रभाव को दिखाया है ''इसी बीच 'हर हर महादेव' की जगह 'जय श्री राम' ने ले ली। पप्पू की दुकान में भाँग और चाय की खपत बढ़ गई। अस्सी के सभी 'आदिवासी' रामभक्त हो गये और कारसेवा की तैयारी में लग गये। 23 अक्टूबर को

आडवानी की गिरफ्तारी ने सनसनी पैदा कर दी ! शंख, घड़ियाल, आतिशबाजी, मशाल, नारे अस्सी की दिनचर्या बन गए।"[109]

23 अक्टूबर को आडवानी की गिरफ्तारी के बाद अस्सी के साथ ही साथ पूरे देश की व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी। हर तरफ भय का माहौल दिखायी दे रहा था। लोग एक-दूसरे को शक की निगाह से देख रहे थे। अस्सी जो वर्गहीन समाज का सबसे बड़ा जनतंत्र था वहाँ भी जातिगत राजनीति घर कर गयी थी। हिन्दू-मुस्लिम के आपसी संबंध खराब हो रहे थे। यह सारा परिदृश्य मिलकर उस समय के समाज को अशांति से भर रहा था। इसके बारे में रामवचन पांडे कहते हैं "पूरा देश एक भयानक हादसे से गुजर रहा है ! आप यहाँ खड़े है कौन जाने, कोई आतंकवादी आपकी ताक में कहीं छिपा हो ! आप यहाँ बैठे हुए हैं, कौन जाने आपकी सीट के नीचे बम रखा हो, आप यादव के समर्थन में बोलिए, बाभन मार देगा। बाभन के समर्थन में बोलिए, यादव मार सकता है। आप दाढ़ी रखे हुए हैं, हो सकता है मदनपुरा या नई सड़क से गुजरते हुए बच जाएँ, मगर हिन्दू मुहल्ले से भी बच निकलेंगे- इसकी कोई गारंटी नहीं !... देखिए उस पटरी पर केसरिया पट्टा बाँधे चीखते-चिल्लाते लोगों का जुनून।"[110]

हिन्दू आस्था का आधार लेकर खड़ा किया गया यह आंदोलन एक व्यापक रूप लेता जा रहा था जिससे समाज और समाज के लोग प्रभावित हो रहे थे। हिन्दू समाज के अधिक से अधिक लोग इसमें शामिल हो रहे थे। इसके पीछे कहीं न कहीं कारण रूप में धार्मिक आस्था और विश्वास ही रहा है। अस्सी पर कारसेवकों की भीड़ और उस भीड़ से उछलता हुआ नारा "राम लला हम आएगें।'...राम लला तुम मत घबराना हम तुम्हारे साथ हैं।"[111] इसका परिणाम यह हुआ कि मस्जिद के ऊपर भगवा झंडा लहराया, सरयू की जगह अयोध्या में खून की नदी बही और अस्सी पर कर्फ्यू लागू हुआ जो बाद में हट गया। मंदिर-मस्जिद के मुद्दे ने समाज को दो भागों- हिन्दू और मुस्लिम में विभक्त कर दिया।

उस समय का समाज एक भयानक दौर से गुजर रहा था। हर तरफ हिंसा, मारपीट का माहौल हो गया था। इन सारी स्थितियों से अस्सी का समाज व्यापक रूप से प्रभावित हो रहा था। इन स्थितियों का लाभ राजनीतिक अपने-अपने ढंग से उठा रहे थे। राजनीति किस कदर अपने स्वार्थ के लिए धार्मिक आस्था, विश्वास को आधार बनाकर लोगों के बीच कटुता पैदा कर रही है इसकी पूरी बानगी देखी जा सकती है।

राजनीति का कोई आदर्श और सिद्धान्त नहीं होता है। उनके लिए "आदर्श बालपोथी की चीज है।"[112] काशीनाथ सिंह ने राजनीति के सारे पहलुओं को उजागर करते हुए उसकी धज्जियाँ उड़ा दी हैं। वह लिखते हैं कि राजनीतिक लोगों का सिद्धान्त रहा है "आदर्श उच्चतम रखो लेकिन जियो निम्नतम यही परम्परा रही है अपनी।"[113] सिद्धान्त के बारे में लिखते हैं "हजार बार कह चुका हूँ सिद्धान्त सोने का गहना है। रोज-रोज पहनने की चीज नहीं। शादी ब्याह, तीज-त्यौहार में पहन लिया बस। सिद्धान्त की बात साल में एक आध बार कर ली, कर ली, बाकी अपनी पालिटिक्स करो।"[114]

राजनीति अब केवल भ्रष्टाचार का अड्डा भर रह गयी है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। "भ्रष्टाचार लोकतंत्र के लिए आक्सीजन है, है कोई ऐसा राष्ट्र जहाँ लोकतंत्र हो और भ्रष्टाचार न हो ? जहाँ नजर दौड़ाइए पूरी दुनिया पर ये छोटी-बड़ी राजनीतिक पार्टियाँ क्या है ? अलग-अलग छोटे-बड़े संस्थान, भ्रष्टाचार के प्रशिक्षण केन्द्र, सिद्धान्त मुखौटे हैं जिसके पीछे ट्रेनिंग दी जाती है।"[115] स्वतंत्रता के बाद आज राजनीति किस कदर भ्रष्ट हो चली है इसका यथार्थ रूप यहाँ दिखाया गया है। चुनाव लड़ने के लिए टिकट उसी को दिया जाता है जो पन्द्रह-बीस लाख खर्च कर सके। स्वयं कथाकार ने लिखा है "आप क्या समझते हैं, जो आदमी चुनाव लड़ने में पन्द्रह-बीस लाख खर्च करेगा वह विधायक या सांसद बनने पर ऐसे ही छोड़ देगा आपको ? देश को ? चूतिया है क्या ?"[116] भ्रष्टाचार लोकतांत्रिक समाज में किस कदर व्याप्त हो गया है इसका पूरा खाँका काशीनाथ सिंह द्वारा इस उपन्यास में

खींचा गया है। जिस देश की लोकतांत्रिक प्रणाली ही भ्रष्ट होगी उसका भविष्य क्या हो सकता है, इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। अब राजनीति केवल बेरोजगारों, माफियाओं, बाहुबलियों का अड्डा बनता जा रहा है।

राजनीति किस प्रकार जाति आधारित हो गयी है उसके विषय में काशीनाथ सिंह ने लिखा है "राजकिशोर मेरी ओर मुखातिब हुए- 'यह है जाति का नया चेहरा। मुलायम जिसे टिकट दें, वह अहीर, कांसीराम जिसे टिकट दें, वह चमार, नितीश कुमार जिसे टिकट दें, वह कुर्मी, ठाकुर, बाभन, बनिया, लाला, चाहे जो हो। कांसीराम का टिकट मिला नहीं की चमार हुआ।"[117] यह जातिगत भावना सिर्फ राजनीति तक ही सीमित न होकर बल्कि अन्य क्षेत्रों में भी फैल जाती है। शिक्षा के क्षेत्र में भी इसका विस्तार होता है। प्रदेश के मुख्यमंत्री किस तरह विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर अपनी जाति के लोगों को बैठाते हैं, उसे चौथीराम यादव के प्रसंग में दिखलाया गया है। "जब उत्तर प्रदेश में मुलायम और बिहार में लालू यादव सत्ता में आये तो दोनों इस भारतभूमि पर ऐसे यादव शिरोमणि की खोज शुरु की जो विद्वान भी हो और समझदार भी। और दोनों की नजर आकर चौथीराम पर टिकी। उन्हें अपने-अपने राज्य के विश्वविद्यालय के लिए कुलपति की जरूरत थी। ऐसा कुलपति जो अपना भी भला करे, उनका भी और बिरादरी का भी।"[118]

इस प्रकार समाज के हर क्षेत्र में जातिवाद और घूसखोरी का बोलबाला है। प्रत्येक आदमी अपने-आप तक सीमित होता जा रहा है। सामाजिकता समाज से गायब होती जा रही है। इस संबंध में प्रो. चौथीराम यादव ने लिखा है- "आज मूल्यहीनता की चुनावी राजनीति का चेहरा इतना विकृत हो गया है कि उसके दर्पण में आदमी की आदमियत धुंधली पड़ गई है, उसकी विचारधारा निरर्थक हो गयी है और आदमी का सारा वजूद उसकी जाति तक केंद्रित होकर रह गया है। हर आदमी दूसरे के निगाह में संदिग्ध है।

विश्वसनीयता का ऐसा घोर संकट इससे पहले भारतीय राजनीति में कभी नहीं आया था।''[119]

मुस्लिम समाज आज अपने-आप को अलग-थलग महसूस कर रहा है। वह अगर हिन्दूओं से साथ रहता है तो भी लोग उन पर विश्वास नहीं करते हैं। मुस्लिम समाज की इस तकलीफ का चित्रण काशीनाथ सिंह बखूबी ढंग से करते हैं। नईम कहता है ''साहब बुरा मत मानिएगा, एक बात कहता हूँ। मेरी सारी जिंदगी इसी मुहल्ले में बीती, थोड़ी बहुत पढ़ाई लिखाई भी यहीं की, इसी मुहल्ले के बच्चों के साथ खेला, हर कोई जानता भी है मुझे। रोजी-रोटी भी उन्हीं से चलती है। पूरा परिवार चलता है। मैं उनसे बाहर नहीं हूँ, औरों की बात नहीं कहता। मैं वोट उसे ही देना चाहता हूँ जिसे मुहल्ला देना चाहता है। लेकिन यह भी जानता हूँ कि मैं उसे वोट दे भी दूँ तब भी कोई विश्वास नहीं करेगा। तकलीफ बस इसी से होती है।''[120] आज भी लोग मुस्लिम समाज को शक की निगाह से देखते हैं, उन पर विश्वास नहीं करते हैं। यह किसी भी समाज की जाति के लिए कष्टदायक स्थित होती है।

कथाकार अस्सी के चरित्र को उजागर करता है और उसे औघड़ संस्कृति की जायज-नाजायज औलाद मानता है। तुलसीदास, कीनाराम के बारे में मनगढ़ंत कहानियों से यह सिद्ध होता है कि अस्सी के चरित्र भी उन्हीं से मेल खाता है। यह औघड़ संस्कृति ही अस्सी के नागरिकों के लिए मौलिक अधिकार है। लेखक लिखता है ''धक्के देना और धक्के खाना, जलील करना और जलील होना, गालियाँ देना और गालियाँ पाना औघड़ संस्कृति है। अस्सी की नागरिकता के मौलिक अधिकार और कर्तव्य।''[121]

काशीनाथ सिंह इसके माध्यम से समाज के उस चरित्र को उजागर करते हैं जो आधुनिक मनुष्य से मेल खाती है। आज आदर्श नाम की कोई चीज नहीं रह गयी है। मनुष्य के अंदर तमाम बुराइयाँ घर करती जा रही हैं। यह पूरा प्रसंग इसी बात की ओर

संकेत कर रहा है कि समाज के प्रत्येक चरित्र के अंदर बुराई पैठती जा रही है। यहाँ पर लेखक आधुनिक मनुष्य के चरित्र के हर पहलू को उजागर करता है।

उपन्यासकार ने देश की संसदीय व्यवस्था के बारे में प्रतीकात्मक ढंग से अपने विचारों को व्यक्त किया है। जातकावलि की एक कथा के माध्यम से संसद में पक्ष-विपक्ष का यथार्थ चित्रण किया गया है। कौआ बोला "आप उसे राजा चुनने और बधाइयाँ देने से पहले यह सोच लें कि जब इतनी खुशी का समाचार सुनने पर उसका चेहरा ऐसा है, तो क्रोध करेगा तब कैसा होगा ?

इसके बाद तो उल्लू ने कौए को दौड़ा लिया।"[122] यहाँ उल्लू और कौआ देश की संसदात्मक प्रणाली के पक्ष-विपक्ष के प्रतीक हैं। वह सिर्फ विरोध के लिए विरोध करते हैं, जनता उनके लिए गौण हो चुकी है। वह सिर्फ अपने हित के लिए जनता को ठगते हैं, गुमराह करते हैं। उनका अपना हित सर्वोपरि है। जिसके लिए वह किसी हद तक जा सकते हैं। उपन्यासकार ने यहाँ पूरी संसदीय प्रणाली के चेहरे को नंगा कर दिया है। जिस देश की संसद में इस तरह के लोग बैठे हो वहाँ की शासन व्यवस्था कैसी होगी इसका अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता है। चारों तरफ भाईचारे की राजनीति, घूसखोरी, बेईमानी, जाति-पाँति का वैमनस्य व्याप्त होता जा रहा है। जोड़-तोड़ की राजनीति से लोग उच्च ओहदों पर पहुँचने लगे हैं। लेखक इन सब स्थितियों के प्रति अपनी झुझलाहट व्यक्त करता है "मित्रों, त्रेता के जमाने से उड़ते हुए इस कलिकाल में दोनों भोसड़ी के दिल्ली पहुँच रहे हैं।"[123] 'काशी का अस्सी' में राजनीति के हर पहलू को उजागर किया गया है। राजनीति समाज को किस प्रकार प्रभावित कर रही है, इसका पूरा ब्यौरा इस उपन्यास के प्रथम दो अध्यायों में दिखाया गया है।

अस्सी के लोगों के पास पर्याप्त समय है और पप्पू के चाय की दुकान उनका अड्डा। वह देश-विदेश की समस्याओं पर अपनी बेबाक राय से उसका लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं।

उनके पास शब्दों की खेती है जिसमें से तीन शब्द उगाये हैं- कार्यक्रम, व्यवस्था और गँड़ऊ गदर। वह लोकतंत्र को गँड़ऊ गदर से संबोधित करते हैं। गड़ऊ गदर अर्थात् गंडुवों की क्रांति। इस क्रांति का कोई नतीजा नहीं निकलता है अर्थात् आज की राजनीति में इन्हीं गंडुवों की भरमार हो गयी है जिनसे न देश चल सकता है न समाज।

'काशी का अस्सी' में सामाजिक परिवर्तन को अपनी तरीके से दिखाया गया है। अस्सी का समाज धीरे-धीरे अपने को बदल रहा है। उपन्यासकार ने मंदिर-मस्जिद, जाति-धर्म के मुद्दों पर बँटते समाज का चित्रण किया है। ''रामजी राय ने पीक थूँकी और कहा- 'जानते हैं यह लुंगी किसकी दी हुई है जो पहने हूँ ? सुलेमान की ! बुनकर था ! मेरा दोस्त था ! बजरडीहावाले दंगे में उसे मार डाला सालों ने ! तो यह कैसे भूल सकता हूँ मैं ?''[124] गंगा यमुनी तहजीब जहाँ की शान का प्रतीक रहा हो वहाँ इस तरह के साम्प्रदायिक दंगों से समाज में कटुता फैलती है और समाज दो भागों में बट जाता है।

उपन्यासकार ने बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद अस्सी और देश की बदली हुई परिस्थितियों को भी दिखाया है। 6 दिसम्बर 1992 में अयोध्या में बाबरी मस्जिद को गिरा दिया गया। इस घटना से समाज का व्यापक तबका प्रभावित हुआ। इसके संबंध में उपन्यासकार लिखता है ''6 दिसम्बर की अयोध्या की घटना की देन क्या है ? जो मुसलमान नहीं थे या कम थे या जिन्हें अपने मुसलमान होने का बोध नहीं था, वे मुसलमान हो गये रातों रात। रातों रात चंदा करके सारी मस्जिदों का जीर्णोद्धार शुरु कर दिया। देश की सारी मस्जिदों पर लाउड स्पीकर लग गये। मामूली से मामूली टुटही मस्जिदों पर भी लाउड स्पीकर लग गया। जिस मस्जिद में कभी नमाज नहीं पढ़ी जाती थी, उससे भोर और रात में अजान सुनाई पड़ने लगी। जो नमाज में नियमित नहीं थे, वे नियमित हो गये।''[125] यह इस बात की तरफ संकेत कर रहा है कि लोग अपनी सुरक्षा के प्रति सतर्क हो गये। वहीं मुस्लिम जो कभी हिन्दूओं के साथ-साथ मिल-जुल कर बिना

किसी भेद-भाव के रहते थे, आज परिस्थितियों के बदलने से बदल गए। हिन्दू और मुस्लिम समाज के बीच एक गहरी खाईं बनती जा रही है। मुस्लिम लोगों के बारे में कथाकार लिखता है ''वे एक जमाने से ठाकुरों-भूमिहारों के यहाँ बिना किसी भेद-भाव के आते-जाते थे। न्योता-हँकारी, तीज-त्योहार साथ मनाते थे। एक ही खटिया-मचिया थी, जिस पर बैठा करते थे। कभी फर्क ही नहीं मालूम पड़ता था दोनों के बीच। लेकिन चीजें बदल गईं उस घटना के बाद।''[126]

बाबरी ध्वंस के बाद हिन्दू और मुस्लिम दोनों अपने-अपने धार्मिक स्थलों के प्रति सतर्क हो गये। जिसका परिणाम यह हुआ कि रोड के किनारे मंदिर, मस्जिद, मजार बनाकर जमीन हड़पने का खेल शुरु हो गया। इस काम में हिन्दू सबसे आगे थे। इसकी तरफ इशारा करते हुए कथाकार लिखता है ''कम्पटीशन शुरु हो गया है जी.टी. रोड के किनारे मंदिर, मस्जिद, मजार बनाकर जमीन हड़पने का। वे भी हड़प रहे हैं लेकिन तुम्हारे मुकाबले में वे कहीं नहीं हैं। मस्जिद खड़ी करने में तो समय लगता है, यहाँ तो ईंट या पत्थर फेंका, गेरु या सेनुर पोता, फूल-पत्ती चढ़ाया और माथा टेक दिया- जै बजरंगबली।''[127] धार्मिक आड़ में किये जा रहे छद्म आचरणों को काशीनाथ सिंह ने इस उपन्यास में नंगा कर दिया है। क्या हिन्दू क्या मुस्लिम दोनों की बुराइयों को कथाकार दिखाने में सफल रहा है।

धर्म की आड़ में कुछ लोग भोली-भाली जनता को बेवकूफ बना रहे हैं। इस स्थिति का चित्रण 'काशी का अस्सी' में किया गया है। लेखक लिखता है ''नगर के हर गली मुहल्ले में दो-दो चार-चार व्यास और मानस-मर्मज्ञ पैदा हो गये हैं भोंसड़ी के। जिन जजमनिया निठल्लों को कल तक पादने का भी सहूर नहीं था, वे घूम-घूम कर रामकथा कह रहे हैं और एक-एक-दिन के पच्चीस-पच्चीस हजार लूट रहे हैं। ये वाणी के तस्कर चूतिया बना रहे हैं बूढ़ी-विधवाओं और सेठों-मारवाड़ियों को।''[128] यह सब परिस्थितियाँ बाबरी ध्वंस के बाद

से उपजी हैं जिससे समाज गहरे तक प्रभावित हुआ। इस प्रभाव को उपन्यास में बखूबी दिखाया गया है।

कथाकार ने अस्सी घाट का प्रशस्ति वाचन महाकवि कौशिक के मुँह से करवाया है। इस प्रशस्ति वाचन में अस्सी के विविध रंग एक साथ उभर कर आते हैं। ''ऐसे तो घाट ही घाट है नगर में, इन्हीं में से कोई एक 'राजघाट' भी है लेकिन सच मानिए तो घाटों का राजा एक ही है- अस्सी घाट.....। रागों, रंगों और रेखाओं और चिड़ियों की चह-चह का अद्भुत कोलाज है यह घाट। सुबह से शाम तक यहाँ पेंसिल, ब्रश और कैनवस लिए चित्रकार भी बैठे मिलेंगे, कैमरा लटकाए छायाकार भी, रियाज मारते गायक वादक भी, पुजैया के गीत गाती औरतें भी, धुनी रमाते जोगी भी। बाकी तो मल्लाह हैं, अखाडिए पहलवान हैं, साधु सन्यासी हैं, कीर्तनियाँ हैं, भिखमंगे हैं...। धूप अगरबत्ती और गाँजे की गंध में रची-बसी रहती है यहाँ की ठंड और हवा। और इसी में शामिल रहती हैं मंदिर की घंटियों और चप्पुओं और पानी के हिलकोरों की आवाजें और मछलियों की उछाल की चमक !''[129]

यहाँ पर अस्सी घाट का पूरा समाज चित्रित किया गया है। इन सब लोगों से मिलकर बना है अस्सी घाट का सम्पूर्ण परिवेश। अस्सी घाट पर जब अंग्रेजों का आगमन होता है तो यहाँ के समाज में परिवर्तन दिखाई देने लगता है। अंग्रेज घाटों पर अपना अड्डा जमाते हैं और देर रात तक वही जमें रहते हैं। ''जग्गू मल्लाह के शब्दों में पिछले कुछ वर्षों से वह घाट 'अँगेरज-अँगेरजिनों' का परमामिंट एग्जाई जमीनी हाउसबोट हो गया है। रोज शाम को ढाई-तीन सौ अंग्रेज जोड़ों में अकेले सीढ़ियों पर बैठते हैं और देर रात तक बैठे रहते हैं''[130]

यहीं पर महाकवि कौशिक बनारस की उत्पत्ति की कथा भी सुनाते हैं ''सन्तों, जहाँ पानी, वहाँ प्रानी ! जहाँ घाट, वहीं हाट ! इतिहास यही कहता है ! इतिहास कहता है कि गंगा के गर्भ से पैदा हुआ है यह नगर ? वह इसकी माँ है।''[131] शहर की एक बड़ी जनसंख्या किसी न किसी रूप में गंगा पर ही निर्भर हैं। लेकिन हमारे देश के राजनेताओं

और ठेकेदारों ने गंगा को भी नहीं छोड़ा। गंगा स्वच्छता अभियान के नाम पर करोड़ों-अरबों रूपये आते हैं परन्तु गंगा की स्थिति जस की तस बनी हुई है। यह हमारे देश की विडम्बना ही कही जाएगी।

उपन्यास में कैथरीन उर्फ कैथी का वर्णन मिलता है जो बनारस के वर्तमान स्वरूप को उद्घाटित करती है। बनारस के पंड़ों, पुरोहितों, मठों, संन्यासियों, विधवाश्रमों की वास्तविकता का वर्णन किया है। उसकी चिंता के केन्द्र में बनारस का वह समाज है, जो सदियों से आध्यात्मिक कहा जाता रहा है। कैथरीन विधवाओं की वर्तमान स्थिति का विश्लेषण करती है और पाती है कि "...मैं अशोक जी के साथ उन आठ-दस आश्रमों और मठों में गयी जिनमें विधवाएँ रहती हैं। हर जगह पचास-साठ विधवाओं के नाम थे रजिस्टर में।...पता चला हर एक को समाज-कल्याण विभाग से पेंशन मिलती है, कई के लिए उनके घर से मनीआर्डर आते हैं। ...लेकिन मैंने घूमकर देखा तो चार-पाँच कमरों को छोड़कर सारे कमरे बंद। किसी भी आश्रम या मठ में दस-पाँच से अधिक विधवाएँ नहीं मिलीं। जो हैं भी, वे या तो घरों में झाड़ु-बुहारू करती हैं या खाना पकातीं हैं, या बर्तन माँजतीं हैं या आया का काम करती हैं। मंदिरों और घाटों पर भीख माँगने वाली भी इन्हीं में से हैं। हो सकता है, उनकी मदद करने वाली धर्मादा संस्थाएँ आज भी हो लेकिन...मेरी दिलचस्पी इसमें नहीं है कि वह सरकारी-गैरसरकारी रकम कहाँ जा रही है, इसमें जरूर है कि विधवाएँ कहीं-न-कहीं हैं लेकिन कहाँ है ? किस हाल में हैं ? कहीं-कहीं तो जिन्हें 'विधवा' कहकर परिचय कराया गया, वे कहीं से भी 'विधवा' नहीं लगीं।"[132] यहाँ उपन्यासकार ने कैथरीन के माध्यम से मठों, आश्रमों में व्याप्त भ्रष्टाचार को दिखाया गया है। ये मठें सामाजिक कार्य के नाम पर सरकारी रकम को खा रही हैं।

वहीं दूसरी तरफ संन्यासियों की स्थिति तो और भी चिंताजनक है। कैथरीन कहती है "कौन है संन्यासी- वह जो धूनी रमाए बैठा है और पैदल चलता है या वह जो मारुति,

सूमो, सैंट्रो, मैटीज जैसी गाड़ियों में घूमता है- तरह-तरह के देशी-विदेशी असलहों के साथ, मुस्टंड चेलों के साथ ? पूजे तो वहीं जा रहे हैं जो गाड़ियों में घूम रहे हैं, आश्रम और मठ भी उन्हीं के हैं, चेले-चाटी और भक्त भी उन्हीं के हैं। जो धूनी रमाए बैठे हैं, भिखमंगे से ज्यादा उनकी वकत नहीं है।...शायद ही कोई ऐसा संन्यासी या साधु हो जिस पर कत्ल के दस-पाँच मुकदमें न हों, जिसके पास ढेरों वैध-अवैध असलहें और हथियार न हों, जो आश्रम या मठों के नाम पर दस-पंद्रह एकड़ जमीन न कब्जियाए हो ? संन्यासी किसे कहेंगे आप ?''[133] संन्यासी हमारे देश में पूजनीय थे लेकिन आज के समय में उनका चेहरा विकृत हो गया है। आज संन्यासी वहीं है जिस पर दस-पाँच मुकदमें हों। मठ और आश्रम बदमाशों और हथियारों का अड्डा बनता जा रहा है। धार्मिक स्थल होने के कारण यहाँ रहना सुरक्षित है इसलिए इसे लोग अपनी शरणगाह बना रहे हैं।

कैथरीन इस सारी स्थितियों का विश्लेषण करने के उपरान्त पाती है कि ''वाराणसी इज डाइंग ! बनारस जिसे लोग पढ़ते, सुनते, जानते थे- मर रहा है आज।''[134] इसके संबंध में आलोचक बच्चन सिंह लिखते हैं कि ''कैथी ने अपनी डायरी में यहाँ के पंडों, पुरोहितों, मठों, संन्यासियों, विधावाश्रमों की रामनामी उतारकर रख दी है।''[135]

वहीं अस्सी के पात्र गया सिंह के लिए भी बनारस मर रहा है लेकिन उसके कारण दूसरे हैं। अमेरिका के नवउपनिवेशवाद के चलते देश की स्थिति में परिवर्तन हो रहा। अमेरिका की नीति तो सबको लुभाने वाली है लेकिन इसका परिणाम उससे कहीं ज्यादा खतरनाक है। गया सिंह बताते हैं कि अमेरिका हर जगह अपना उपनिवेश बनाता जा रहा है। बनारस का अस्सी भी उसकी चपेट में है। वह अस्सी पर विदेशियों के आगमन से उस समाज में क्या परितर्वन हो रहे हैं उसके दुष्परिणाम को उजागर करते हैं। वह कहते हैं ''बनारस तो मर रहा है लेकिन वहाँ से नहीं जहाँ के आँकड़े देवी जी दे गई हैं। देवी जी, तुम्हारे पास तो पूरे नगर के हैं लेकिन मेरे पास तो सिर्फ अस्सी के ही हैं। और उन्हीं के

बिना पर मैं बता सकता हूँ कि सीढ़ियों पर कितने किलो हेरोइन, कितने किलो ब्राउन शुगर, कितने किलो चरस और कितने डिब्बे मार्फीन की खपत हुई है इस बीच ? घाटों पर वियाग्रा, पेनाग्रा, नियाग्रा और किन-किन चीजों के पाउडर बिक रहे हैं पुड़ियों में ?"[136] अस्सी का समाज किस प्रकार नशे के चपेट में आता जा रहा है, इसकी ओर संकेत किया गया है। अमेरिका के नवउपनिवेशवाद के दुष्परिणाम को भी कथाकार ने गया सिंह के माध्यम से उजागर किया है। वह लिखते हैं "डालर अमेरिका की जीभ है। वह शुरू में ऐसे ही किसी मुल्क को चाटना शुरू करता है जैसे गाय बछड़े को चाटती है- प्यार के साथ ! बाद में जब चमड़ी छिलने लगती है, खाल उधड़ने लगती है, दर्द शुरू हो जाता है, जीभ पर काँटे उभरते दिखाई पड़ने लगते हैं, जबड़े चलने की आवाज सुनाई पड़ने लगती है तक पता चलता है कि यह जीभ गाय की नहीं किसी और जानवर की है।...जो देखते देखते देश का देश चबा गया हो और उसमें भी सोवियत रुस जैसा देश- उसके लिए नगर का मुहल्ला क्या चीज है ?"[137]

यही अमेरिकी जब अस्सी पर आते हैं तो अपनी सुविधा के लिए साइबर कैफे खुलवाते हैं, जाने कितने स्थानीय आदमियों के नाम पर मकान खरीदते हैं। इस सारी नीति के पीछे उनका स्वार्थ छिपा हुआ है। अमेरिका की नीति किस प्रकार सर्वग्राही है इसका पता चलता है। गया सिंह अमेरिका को एक मिथकीय प्रसंग से जोड़ते हैं और बताते हैं कि अमेरिका मनुष्य भक्षी राजा है जो कलयुग में अमेरिका का राष्ट्रपति हुआ। अमेरिका की उपनिवेशवाद की नीति तीसरे देशों के लिए कितनी खतरनाक है इसका पूरा लेखा-जोखा काशीनाथ सिंह ने इस उपन्यास में दिखाया है।

काशी का अस्सी में कथाकार ने अस्सी मुहल्ले पर विदेशी संस्कृति के अतिक्रमण का विश्लेषण किया है। बनारस धर्मों और संस्कृतियों का केन्द्र रहा है। उपन्यास के चौथे खण्ड 'पांडे कौन कुमति तोहें लागी' में इसी बनारसी संस्कृति के क्षय की कथा कही गयी है। साथ

ही साथ काशी नगरी के आधुनिक स्वरूप का चित्रण भी किया गया है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद का समाज पर पड़ रहे प्रभाव का भी विश्लेषण किया गया है।

भूमंडलीकरण और बाजारवाद से प्रभावित होकर विदेशी अस्सी पर अपना अड्डा जमाना शुरू करते हैं। "चले आ रहे हैं दुनिया के कोने-कोने से अँग्रेज-अंगरेजिन ! हालैंड से, फ्रांस से, हंगरी से, आस्ट्रिया से, स्विट्जरलैंड से, स्वीडेन से, आस्ट्रेलिया से, कोरिया से, जापान से ! सैकड़ों नहीं, हजारों के तादात में इस घाट से उस घाट तक।"[138] इन्हें किराएदार बनाने के लिए अस्सी घाट के आस-पास के मकान लॉज या होटल में तब्दील होने शुरु हो गये। "और इस छोटे से शहर में घर-घर मंदिर, वास्तुकला-मूर्तिकला के हजारों नमूने ! देखने-ताकने को सैकड़ों जगहें। शहर में भी, शहर से बाहर भी।"[139] चारों तरफ उपभोक्ता को रिझाने और उसे मूर्ख बनाकर पैसा कमाने का धंधा शुरु हो गया। लोग अपने घरों में तरह-तरह के प्रशिक्षण केन्द्र खोलना शुरु कर दिए।

विदेशियों के आगमन से अस्सी के समाज में व्यापक परिवर्तन होता है। अस्सी की नीची जातियों ने अपने घरों में विदेशियों को पेइंग गेस्ट के रूप में जगह दी जिससे उनके जीवन स्तर में बदलाव हुआ। इस बदलाव को 'काशी का अस्सी' में देखा जा सकता है। कथाकार लिखता है "किसी विदेशी को पेइंग गेस्ट रखने में मल्लाहों के जीवन स्तर में कितना फर्क आया है- इसे बाभनों-ठाकुरों की औरतें-बच्चे देखते रहते हैं- खाना-कपड़ा-लत्ता छोड़ भी दें तो देखते रहते हैं कि कानों में 'वाकमैन' लगाए उनके बच्चे घूम रहे हैं, 'कैलकुलेटर' लिए जोड़-घटा रहे हैं, औरतें दरवाजे के बाहर बैठी छोटा सा ट्रांजिस्टर बजा रहीं हैं और उनकी मैक्सी पहने सूप में चावल बीन रही हैं !"[140]

'कौन ठगवा नगरिया लूटल हो' उपन्यास का अंतिम भाग है। उपन्यास का यह खण्ड काशी नगरी के परिवर्तित होते, समाप्त होते एवं उसके स्थान पर बनते नये मूल्यों एवं संरचना की गाथा है। इसमें अस्सी मुहल्ले के माध्यम से पूरे देश पर पड़ने वाले

भूमंडलीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद के प्रभाव को दिखाया गया है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप समाज के बनते-बिगड़ते स्वरूप को भी चित्रित किया गया है। आज के समय में मनुष्य के अस्तित्व पर भी संकट छाता जा रहा है। पूरे देश की परम्परा और संस्कृति खतरे में दिखाई पड़ रही है। इस खण्ड में बदलते जीवन मूल्यों, टूटती संवेदनाओं के दुःख, घृणा, भेदभाव एवं मनुष्य के अपने तक सीमित होने की कहानी है। इन समस्याओं को व्यक्त करने के लिए कथाकार अस्सी घाट पर होने वाले बिरहा दंगल के माध्यम से ईश्वर, राजा, वजीर, सेठ साहुकारों का रूपक तैयार करता है। वर्तमान में होने वाले परिवर्तन की ओर संकेत करते हुए कथाकार लिखता है- "आज की फिल्मी धुनों ने काफी कुछ बर्बाद किया है परम्परागत बिरहा को।"[141]

कथाकार संकेत कर रहा है कि "यह उस साल की बात है जब देश स्वाधीनता की पचासवीं सालगिरह मना रहा था।"[142] किस प्रकार सेठ-साहूकारों ने केवल सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक वरन् धार्मिक क्षेत्र में भी कब्जा किया है। अब सारा कुछ पूँजीपतियों के हाथ में चला गया है। देश की आम जरुरत की चीजों पर भी इनका कब्जा हो गया है। इस हालात में आम आदमी की स्थिति का पता चलता है। देश के वजीर का भाषण पंचसितारा होटल में होता है। इस भाषण का स्वागत तो होता है परन्तु यह सिर्फ खोखला और निराधार बनकर रह जाता है। वजीर को सेठों से समझौता करना पड़ता है। पूँजीपति हमारे देश की पूरी अर्थव्यवस्था पर कब्जा कर चुके हैं। उनके दिमाग में देश की नयी तस्वीर बन रही थी "जबकि इंसान को इस धरती पर जिन्दा रखने वाली चीजें- यही हवा, यही पानी, यही दूध, यही ठंड- उसी तरह पैकेटों, डिब्बों, बोतलों, पोलीथिन में बेची जाएँगी जैसे कि नमक, जैसे कि मसाला, जैसे कि दूध जैसे कि आटा, चावल, दाल। जिसे जीना होगा, झक मारकर मुँह माँगे दाम पर खरीदेगा, वरना मरे इसके बगैर।"[143]

बाजारवाद किस प्रकार आम आदमी की जिंदगी को प्रभावित कर रहा है, इसका संकेत कथाकार सेठ के माध्यम से व्यक्त करता है। सेठ वजीर से कहता है "बाजार वह नहीं जो सड़क पर है, दुकान में है, नुक्कड़ पर है, शोकेस में है। बाजार वह है जो तुम्हारे दरवाजे पर है, पोर्टिको में है, ड्राइंगरुम में है, बेडरुम में है, आलमारी में है, किचेन में हैं, टायलेट में है और यही क्यों तुम्हारे बदन पर है, सिर के बालों से लेकर पैरों के नाखून तक है। ऐसा कि जो तुम्हारे घर जाए या तुम्हें देखे, उसके लार टपकने लगे, उसकी नींद और उसका चैन छिन जाए, तड़प उठे कि यह चीज, जो तुम्हारे पास है, उसके पास सुबह नहीं तो शाम तक आ जाए। और जब तक न आए तब तक न खाना अच्छा लगे, न पीना, न जीना।"[144] पूरा देश इस बाजारवादी संस्कृति के चपेट में आता जा रहा है। लोगों की जीवन पद्धति दिखावें को अपनाती जा रही है। इसके उनकी अमन-चैन की जिंदगी पर संकट घहराता जा रहा है। चारों तरफ दुःख, संत्रास, एक दूसरे के प्रति स्पर्धा का भाव दिखने लगा है।

सेठ-साहूकार सरकार से उसके सिरदर्द का कारण तलाशने को कहते हैं। यह समय शाम का समय है। जब लोग खाली होते हैं और अपनी समस्याओं पर चर्चा करते हैं और सरकार के काम में दखल देते हैं। अतः सरकार शाम के समय में भी लोगों को व्यस्त रखने के लिए तरह-तरह के उपाय करती है।

सर्वप्रथम बच्चों के मस्तिष्क को गुलाम बनाने की प्रक्रिया शुरु होती है। उनके दिमाग को मल्टीनेशनल कंपनियों की चकाचौंध दुनिया की तरफ मोड़ा जा रहा है। "देखो और सोचो तो ये बच्चे नहीं, भविष्य हैं और इसके लिए एक ही रास्ता है- मल्टीनेशनल। भरो उनके दिमाग में कि यह रही तुम्हारी मंजिल। पहुँचना है वहाँ। पाना है इसे ? दूसरे पहुँचे या पाँए, उससे पहले।"[145] आदमी कुछ सोचना शुरू करें इससे पहले ही दिमाग को कुंद बनाया जा रहा है ताकि उसके विचार करने की शक्ति समाप्त हो जाए। मल्टीनेशनल

कंपनियों के मायाजाल में सामान्य जन को फँसाकर पूँजीपति वर्ग अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहा है, क्योंकि यह मल्टीनेशनल कंपनियाँ इन्हीं वर्ग द्वारा चलायी जाती हैं।

लड़कियों के लिए सुझाव दिया जाता है कि "अगर पढ़ते पढ़ते ऊब गयी हो, स्टेनो, प्राइवेट सेक्रेटरी, रिसेप्शनिस्ट, प्रोबेशन अफसर नहीं बनना चाहती, डॉक्टर, इंजीनियर, एयर होस्टेस बनना अपने वश में नहीं तो निराश न हो, शहनाज हुसैन से सम्पर्क करो और अपने नगर में मुहल्ले में ब्यूटी पार्लर खोल लो।...किस ऐश्वर्या राय, सुष्मिता सेन या लारा दत्ता से कम हो तुम ? न 'माड़लिंग' की दुनिया कहीं गई है, न 'फैशन शो' की कमी है... टी.वी. के चैनलों पचासों हैं- अगर वीजे नहीं तो खूबसूरत 'फिगर' और 'क्यूट' चेहरे चाहिए। गौर से देखो अपनी फिगर। किससे कम स्मार्ट और क्यूट हो ? कोई कमी रह गयी है तो उसे पूरा करने के लिए सारे सामान भरे पड़े हैं बाजार में।"[146] पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में सारा कुछ बिकाऊ हो गया है। इस बाजार में स्त्री का भोक्ता रूप दिखाई दे रहा है। वह सिर्फ उपभोक्तावादी वस्तु बन कर रह गयी है। इन सबके पीछे कहीं न कहीं बाजारवाद और फैशन शो का प्रभाव है। बाजारवाद ने पूरे समाज को अपने चपेट में ले रखा है। घर में बैठी औरतों को बताया जाता है कि बाहर होटल और रेस्तराँ उनके किचेन की मोनोटनी को तोड़ने के लिए है। वह उनसे जो चाहे मंगा सकती हैं। बाजार में इन औरतों के सौन्दर्य प्रसाधन के सारे साजो-सामान मौजूद हैं। वह चाहे तो इनसे अपना झुँझलाया हुआ चेहरा सँवार सकती हैं। इसके विषय में कथाकार लिखता है "होंठ, दाँत, नाक, कान, आँख, बरौनी, भौं, माथा, चमड़ी, बाल- इन सबके लिए एक नहीं, बीस तरह की- बीस रंग की- बीस साइज की, सस्ती-से-सस्ती-मँहगी-से-मँहगी चीजों से पाट दिया है बाजार।"[147]

बूढ़ों-बूढ़ियों को सलाह दिया जाता है कि वह मंदिर में पूजा-पाठ करें क्योंकि "यह रास्ता उन्हें शान्ति की ओर, चैन की ओर, स्वर्ग की ओर, मुक्ति की ओर ले जाएगा।"[148] सरकार की इन सब चीजों में सिर्फ एक ही स्वार्थ छिपा है कि कोई उनके खिलाफ आवाज

न उठायें। इसलिए वह लोगों को तरह-तरह के कार्यों में व्यस्त रहने के लिए सलाह देता है। अंत में बचते हैं जवान और अधेड़। यह सरकार के कामों में हस्तक्षेप करके उसके लिए समस्या उत्पन्न करते हैं। अतः सरकार ऐसे लोगों को पहचानने का आदेश देती है। ''कौन हैं ये लोग ? पहचानों इन्हें। ये वही चौराहे के लोग हैं जिनके पास फुर्सत ही फुर्सत है चाय की दुकानों और काफी हाऊसों में बैठने की, गुमटियों, सड़कों और फुटपाथों पर खड़े होने की, सरकार और तुम्हारी छीछालेदर करने की। ये वही लोग हैं जो भूखे रहकर भी-आधा पेट खाकर भी आपस में हँसी-मजाक करते हैं, ठिठोलियाँ करते हैं, ठहाके लगाते हैं।''[149] सरकार ऐसे लोगों के खिलाफ अभियान चालू करती है कि लोग अपने-अपने घरों में कैद हो जाए। एक दूसरे से मिल न सकें, शाम की मौज-मस्ती न कर सकें। अतः इनके लिए मनोरंजन की व्यवस्था की गई ताकि ये अपने घरों से नकल न पायें। ''इसके बाद भी अगर कुछ बचा रहता है तो चाँप दो मँहगाई से। घिघिया उठेगें और शाम की तफरीह भूल जाएँगे।''[150]

किस प्रकार अस्सी की मस्ती पर ग्रहण लगता है और वह पस्ती में बदल जाती है इसको कथाकार ने बखूबी ढंग से दिखाया है। सन् 80 के आस-पास शहर में टेम्पो का आगमन होता है। अस्सी के लोग उसे आश्चर्यजनक दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि यह उनके बीच की मस्ती में खलल डालने वाला प्रतीत होता है। टेम्पो अस्सी के लोगों से कहता है कि तेज चलो नहीं तो पीछे ही छूट जाओगे। दुनिया तेजी से बदल रही है और तुम वहीं के वहीं हो। समय के साथ अपने-आप को बदलो। इसके साथ ही नगर में टी.वी. का आगमन होता है। काशीनाथ सिंह लिखते हैं ''नगर टी.वी. देख रहा था। दुकानों पर, अपने घरों में, पड़ोसियों के ड्राइंगरूमों में- टी.वी. देख रहा था, पर्दे पर लजाती, लहराती, इठलाती, बलखाती, मुस्कुराती, हँसती, लुभाती, औरतें और लड़कियाँ देख रहा था।''[151] इसी टी.वी. ने अस्सी के गुरुओं की मस्ती भरी जिंदगी में खलल पैदा कर दी। इसकी तरफ संकेत करते हुए कथाकार लिखता है ''गुरुओं के लिए न बेंचों पर बैठने की जगह रही, न दुकान के

अंदर खड़ा होने की। उसे दखल कर दिया था टी.वी. के पर्दे से निकलने वाले कलाकारों और फूटनेवाली नकली हँसी ने।''[152] डॉ. गया सिंह इसे पूरे अस्सी के मस्ती के खिलाफ एक साजिश मानते हैं। वह कहते हैं ''गुरु ! मैंने पढ़ ली है टी.वी. के पीछे की भाषा। बताएँ, क्या लिखा है ? यह एक अभियान है हमारी हँसी और मस्ती के खिलाफ। कि हँसों मत। हँसते हुए आदमी को देखो।''[153]

इसके बाद अस्सी की हँसी पर अतिक्रमण किया जाने लगा। धीरे-धीरे लोगों के चेहने से हँसी गायब होती जा रही है। महाकवि कौशिक कहते हैं ''अमेरिका ने एक टीका ईजाद किया है। टीका क्या है, ड्रॉप है। हँसी निरोधक ड्रॉप। पैदा होते ही किसी बच्चे को एक बूँद दे दी जाए तो हँसी जीवन-भर के लिए खत्म। फिर वे मनहूस के मनहूस ही रह जाएँगे हमेशा के लिए।''[154] अमेरिका जैसे देशों में एक दूसरे के संबंधों में अलगाव हो गया है। व्यक्तिवाद लोगों के जेहन में घर करता जा रहा है। जिससे लोग अपने-आप अजनबी होते जा रहे हैं। अमेरिका इस पूरी संस्कृति को तीसरे देशों की दुनिया में भी फैलाना चाहता है।

धीरे-धीरे नगर में हँसी खत्म हो चुकी है। ऐसी स्थिति में सिर्फ एक आदमी है जिसके होंठों पर बच्चों सी हँसी बची है और वह लोगों को हँसना सिखा रहा है। वह आदमी सरकार के लिए खतरनाक घोषित किया जा चुका है- ''हाँ एक सूचना और थी- टी.वी. पर भी और अखबारों में भी उस बूढ़े के बारे में- अपनी धुन में मस्त। चेहरे पर संतोष की खनक और होंठों पर बच्चों की सी हँसी। इसका सुराग देने वाले को एक लाख रूपये का इनाम।''[155] इस बूढ़े तन्नी गुरु की खोज के लिए शहर में कर्फ्यू लगाया जाता है। उसके इनाम की राशि को बढ़ाकर एक करोड़ कर दी जाती है। इस एक करोड़ के लालच में उनका ही बेटा कन्नी अपनी पिता को पकड़वाने निकल पड़ता है। बाद में पता चलता है कि उस बूढ़े की हत्या की जा चुकी है। यह जन सरोकारों से संबंध रखने वाले व्यक्ति की हत्या है। तन्नी गुरु के रहन-सहन को देखा जाय तो एक गाँधीवादी व्यक्ति का आभास होता है। तन्नी गुरु

ने गरीबी में भी गर्व के साथ जीना सीखा था। किसी से कुछ लेने की अपेक्षा देना सीखा था। वह अपने ही बेटे कन्नी की महत्त्वाकांक्षा को सहन नहीं कर पाते हैं। "और इस पूरे मामले में सबसे हास्यास्पद बात यह थी कि सरकार कम्प्यूटर से तैयार किया हुआ जो भी चेहरा टी.वी. पर दिखा रही थी वह महात्मा गाँधी जैसा लगता था।"[156] सरकार के पास भी महात्मा गाँधी के बाद कोई ऐसा राजनेता नहीं है जिसके चेहरे पर स्वस्थ हँसी हो। तन्नी गुरु का पूर्ण चरित्र गाँधीवाद से प्रभावित न भी हो तो एक वाह्य साम्य तो बनता ही है।

इस पूरे प्रसंग में कथाकार ने पिता-पुत्र के रिश्तों में आ रहे बदलाव को दिखाया है। किस प्रकार पुत्र कन्नी पैसे के लालच में अपने पिता को ही पकड़वाने निकल जाता है। बाद में पता चलता है कि उस बूढ़े की हत्या कर दी जाती है। आज दुनिया से हँसी खत्म होती जा रही है। वैश्विक पूँजीवाद के चपेट में आकर व्यवस्था ज्यादा क्रूर हो गयी है। जिसमें मानवीय संवदेना टूटते हुए नजर आ रही है। यह पूरा परिदृश्य मानसिकता के आमूल-चूल बदलाव को दिखा रही है।

कथाकार ने अस्सी से तुलसी नगर बनने तक की कथा को भी दिखाया है। आज अस्सी अपने पात्रों के साथ गायब होता जा रहा है और उसकी जगह 'तुलसी नगर' ने ले ली है। अस्सी चौराहा के बारे में लेखक लिखता है कि "जी था तो वही, लेकिन अब 'तुलसी नगर' कहते हैं। 'अस्सी' यहाँ से उठकर-ज्यों-का-त्यों उठाकर कहीं और ले जाया गया है उन गुरुओं समेत। अब वह मुहल्ला नहीं, 'म्यूजियम' है। अँगरेज-अँगरेजिनों के लिए। जो देखना चाहते हैं कि बनारस कैसा था, वे वहाँ जा सकते हैं।"[157] ऐसा कैसे हुआ ? उसके कारणों की तलाश की जाती है तो पता चलता है कि हँसी ही उसका मूल कारण है। यह सरकार के विकास कार्यों में बाधा पहुँचा रही थी। अतः ऐसे लोगों को अस्सी समेत शहर से बाहर 'बाहरी अलंग' में फेंक दिया जाता है। "वे खतरनाक लोग थे। उन्हें एक रोग था- बड़ा संक्रामक ! जैसे कि हैजा, जैसे कि प्लेग। वह दूसरे मूहल्ले और दूसरे इलाकों में भी फैलने

लगा था और उसका असर हमारे विकास कार्यों पर पड़ रहा था।''[158] इसलिए ऐसे लोगों को शहर से बाहर भेज दिया जाता है। पंकज सिंह ने लिखा है ''यह हँसी और इसका सारा संदर्भ साम्राज्यवादी प्रसार और बाजारवादी वैश्वीकरण के प्रतिरोध का रूपक हैं यह पश्चिमी आधुनिकता की अधूरी कार्य सूची के उन अवशेषों के प्रतिरोध का रूपक है, जो तीसरी दुनिया के समाजों में लोक संस्कृति के बरक्स जानलेवा चुनौतियों की तरह अड़े हैं।''[159]

अस्सी के परवर्ती तुलसी नगर के बारे में कथाकार लिखता है ''क्या कहना 'तुलसी नगर' का, अब न वहाँ आलसी थे, न निठल्ले, न निकम्मे। सब व्यस्त, सब परेशान। कोई किसी को नहीं जानता, कोई किसी को नहीं पहचानता। किसी को इतनी फुर्सत नहीं कि दूसरे को पहचाने।...तो भइया, यह था तुलसी नगर जहाँ सब जल्दी में थे। कारें, बसें, टैम्पो, स्कूटर, साइकिलें, लोगों की टाँगें- सब जल्दी में। जल्दी किसी को ऑफिस की, किसी को घर की, किसी को रोजगार की।''[160] यहाँ उपन्यास के प्रारम्भ का 'अस्सी' और अंत का 'अस्सी' अर्थात् तुलसीनगर के परिदृश्य में हो रहे बदलाव को दिखाया गया है। वह 'अस्सी' का समाज जिसके पास फुर्सत ही फुर्सत था। लोगों का आपस में मिलना, हँसी-मजाक करना उनकी दिनचर्या में शामिल था। आज वहीं पर लोग एक दूसरे को पहचानते तक नहीं। व्यक्तिवाद पूरी तरह लोगों को अपने चपेट में ले रखा है। जिससे लोग अपने तक सीमित होते जा रहे हैं।

इस प्रकार से उपन्यास में उपभोक्तावाद, बाजारवाद, ग्लोबलाइजेशन, मल्टीनेशनलाइजेशन के माध्यम से समाज में जो विकृति पैदा की जा रही है उसका यथार्थ चित्रण किया गया है। साथ ही साथ अंतिम दो दशक जो राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक बदलाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, उन्हें देखते हुए अगली सदी में जाने के लिए तैयार देश की स्थिति का वर्णन है। समीक्षक प्रफुल्ल कोलख्यान ने लिखा है कि ''काशीनाथ सिंह के मन में गूँज रही इक्कसवीं सदी की अनुगूँज, वर्तमान और भविष्य की आहटों और

इन परिवर्तनों से जूझ रहे हिंदी समाज के मन की पीड़ा को (और आह्लाद को भी) काशी का अस्सी की गवाही में कलात्मक स्वीकार्यता के साथ आत्मसात किया जा सकता है।"[161]

अजय मिश्र द्वारा लिखा गया 'पक्का महाल' 1956 से लेकर 1986 ई. तक के बनारस की कथा कहता है। बनारस का तत्कालीन समाज, उनकी मस्ती, उनकी संस्कृति, साम-दाम-दंड-भेद को हमारे सामने लाने में 'पक्का महाल' सफल हुआ है। 'पक्का महाल' का तात्पर्य है- गंगा के किनारे बसे हुए मुहल्ले। अर्थात अस्सी से लेकर राजघाट तक गंगा के किनारे बसे मुहल्लों को पक्का महाल कहा जाता है। "शहर दक्षिणी मूलतः पक्के महालों की दुनिया है। अस्सी से राजघाट तक गंगा से सटे मुहल्लों का जाल पंडे, पुजारियों, तीर्थ-पुरोहितों, नाउओं, घाटियों और भड्डरों का मेला। संस्कृत पाठशालाओं, क्षेत्रों, मठों की सत्ता। विधवाश्रमों, भजनाश्रमों और वृद्धाश्रमों की बहुलता। हर गली में गूंजता वेद-पाठ। बंगालियों का बंगाली टोला, ब्राह्मणों की सकरकंद गली, मद्रासियों एवं दक्षिण भारतीयों का हनुमान घाट, पंजाबियों का लाहौरीटोला, मारवाड़ियों की रानीभवानी गली, कन्नड़ियों का अगस्तकुंडा। यहाँ मल्लाह हैं, डोम हैं, नाऊ हैं। इतना सब होते हुए भी मुख्यतया ब्राह्मणों का गढ़।"[162] यह बनारस की अपनी विशेषता है कि आज भी विभिन्न समुदायों के लोग एक साथ मिलजुल कर रहते हैं। इसी 'पक्का महाल' के मुसद्दीमल, कट्टू गुरु, खेमटा तिवारी, भैरव पाण्डेय, महादेव साव, शिवनाथ, रघुनाथ, रघुपति, पूरनपति, लेखराज, तापस चौधरी, रमाशंकर, मंगला, गौरीबाई, पुन्नी, अनसूया जैसे तमाम पात्रों की कथा को उपन्यास में जगह दी गयी है। इन पात्रों के माध्यम से काशी के विभिन्न स्वरूप को देखा जा सकता है।

'पक्का महाल' उपन्यास आज के समय के उस विषम परिस्थितियों पर प्रकाश डालता है जिसके कारण के रूप में हम स्वयं को जिम्मेदार मानते हैं। विधवाश्रमों और वृद्धाश्रमों में रहने वाले लोग कहीं न कहीं परिस्थिति वश इस तरह का जीवन यापन करने के लिए

अभिशप्त हैं। काशी, मथुरा या वृन्दावन इस तरह के आश्रमों का अड्डा बनता जा रहा है। मोक्षकामी वृद्ध स्त्रियों और पुरुषों को परिवार वाले इन आश्रमों में छोड़ कर चले जाते हैं। इसके अनेक उदाहरण उपन्यास में देखे जा सकते हैं। "मुसद्दीमल के पिछवाड़े का खण्डहरनुमा मकान, जिसमें काशीवास के लिए आए बाबा रहते थे, अचानक बिक गया। दरअसल अपने वृद्ध पिता को काशीवास के लिए रानीभवानी गली छोड़ने वाले पुत्र कुछ वर्ष तक तो वार्द्धक्य की ढलान पर रपटते पिता का खर्च इस उम्मीद से भेजते रहे की साल-डेढ़ साल के अंदर उन्हें उनकी मृत्यु का शुभ समाचार मिल जाएगा। हुआ सर्वथा विपरीत। कुछ गंगा-स्नान का असर, कुछ विश्वनाथ जी की कृपा और कुछ वृद्ध के पिछले कर्मों का फल कि काशी आ वृद्ध पिता का स्वरूप निखरने लगा। शायद इसीलिए पुराने समय में माता-पिता तथा परिवार की सद्य:विधवा को काया-कल्प के लिए उनके पारिवारिक जन काशी में छोड़ देते थे।"[163] काशी में बना मुमुक्षु भवन या अन्य ऐसे भवन जहाँ विधवाएं और वृद्ध लोग आकर रहते हैं, इसका सफल उदाहरण है। प्राचीन समय में तो इसका तात्पर्य सिर्फ मोक्ष की कामना रहती थी परंतु आज बीसवीं सदी के दौर में इसका तात्पर्य भिन्न है। आज हम अपने माता-पिता को अपने साथ रखने में कतराते हैं। इसका परिणाम यह होता जा रहा है कि आए दिन वृद्धाश्रमों और विधवाश्रमों की संख्या बढ़ती जा रही है। विधवाश्रमों में रह रही औरतें भीख मांगने के साथ ही अपना शरीर बेच खर्च चलाने पर विवश हो रही हैं। मंगला जिस आश्रम में रहती है वहाँ की स्त्रियाँ वेश्यावृति का धंधा करती पायी जाती हैं। "सामान्यतः बंगाल, बिहार, उड़ीसा, पूर्वी उत्तर प्रदेश और नेपाल की तराई से सर्वाधिक संख्या में विधवाएं काशी आती थीं और आज भी यही स्थिति है। आज से लगभग 45-46 वर्ष पूर्व रेलगाड़ियों द्वारा प्रतिदिन कुछ न कुछ स्त्रियाँ शरण स्थल की तलाश में देश के विभिन्न भागों से वाराणसी पहुँचती थीं। विधवा आश्रमों तथा कुछ अन्य सामाजिक संगठनों के स्वयं सेवक ऐसी महिलाओं को अपने साथ चलने के लिए फुसलाया करते थे। सन् 1952-53 में यहाँ लगभग एक दर्जन आश्रम में महिलाओं की संख्या 150 से 200 तक

रहती थी। ऐसी अधिकांश संस्थाओं द्वारा विवाह के नाम पर औरतों का विक्रय किया जाता था और कुछ अनाथालय तो प्रच्छन्न वेश्यालय ही थे। इसके अतिरिक्त घाटों के समीपस्थ मुहल्लों में कुछ प्रौढ़ महिलाएँ भी युवती विधवाओं को अनैतिक व्यापार में नियोजित करती थीं।"[164] आज इन सब परिस्थितियों के जिम्मेदार हम स्वयं हैं। बीसवीं सदी का यह दौर तमाम सुख-सुविधाओं के साथ ही विकट परिस्थितियों को भी हमारे सामने ला रहा है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता है।

इसके साथ ही 'पक्का महाल' काशी की वेश्याओं की स्थिति पर भी प्रकाश डालता है। वह बताते हैं कि "नाचने-गानेवाली, गोविंदपुरा, नारियल बाजार, दालमंडी और हड़हा में हैं। दुबली, पतली, नाटी, लंबी, मोटी, थुलथुल बदन की औरतें जो एक पेटीकोट और चोली में दिन भर सोतीं, जभाई लेतीं या एक-दूसरे के ग्राहकों के बारे में गंदे मजाक करतीं, शाम को रंगीन कपड़ों में सज, मुँह को सजा छज्जे, खिड़की या बाजरों में बैठ नैन नचातीं और मुस्कातीं।"[165] दालमंडी की रहने वाली वेश्या गौरीबाई के माध्यम से पूरे समाज का चित्र खींचा गया है। समय के बदलने के साथ ही इन वेश्यालयों को शहर से बाहर फेंक दिया जाता है। उनके रख-रखाव पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। आज वेश्यावृति को रोकने के लिए कानून तो है लेकिन उस पर अमल ठीक से नहीं किया जाता है। यह सब आज के समय की क्रूरतम सच्चाई है जिनसे हमें गुजरना ही पड़ेगा।

काशी के समाज में ठगों का अपना विशेष महत्व रहा है। बनारसी ठगों के बारे में कट्टू गुरु कहते हैं कि "वे उस बनारसी ठगी को बुरा नहीं मानते जिसमें हाथ-पाँव चलाए बिना, यानी, बिना किसी शारीरिक यंत्रणा, नुकसान के, धन प्राप्त किया जाता है। सहज मिले तो दूध है, मांगि मिले सो पानी।"[166] कट्टू गुरु ने इस जीवन आदर्श को स्वयं के जीवन में भी उतारा है। वह स्वयं मुसद्दीमल से उनकी गाय के खोने का 110 रूपये ऐठ लेते हैं। बनारसी ठगों के बारे में यह कहा जाता है कि, चूँकि बनारस धार्मिक और

व्यापारिक दृष्टि से अत्यंत सम्पन्न रहा है, इसलिए यहाँ पर बड़े-बड़े सेठ-साहूकारों का आना-जाना लगा रहता था। इन धनी व्यापारियों को ठगने और लूटने का व्यापार चल निकला। बनारसी ठगों का यही कार्य व्यापार धार्मिक व्यक्तियों के साथ भी होता था।

उपन्यासकार ने समय के साथ बदलते काशी के स्वरूप को भी उद्घाटित किया है। बनारसी पान देश भर में प्रसिद्ध है। पान घुलाना और गलचौर करना यहाँ के लोगों का सगल था। आज के समय में इसका स्वरूप बदल गया है। "एक समय था जब पान-दुकानों पर हमेशा दस-बीस का जमावड़ा रहता था। लगता था बनारस के लोगों को मस्ती की जिंदगी बिताने और पान खाने के सिवाय तीसरा काम नहीं आता।

बनारसी मस्ती चली गयी है- 'बेढब', 'रूद्र' काशिकेय और 'चोंच' के साथ।"[167] इसके साथ ही बनारसी पहनावे में भी परिवर्तन हुआ। लंगोट की जगह अंडरवियर आ गया और धोती की जगह जींस, पैंट। बनारस का नाम बदलकर वाराणसी कर दिया गया। बनारस की गालियों, चबूतरों पर बैठकर, लेटकर जो बतकही होती थी अब वह खत्म हो गयी है। अब वहाँ दुकाने खुल गयी हैं। दालमंडी से वेश्यालयों को हटा दिया गया है। "माताप्रसाद को दुख है कि बनारसी रंग बदरंग होता जा रहा है। बोले, "थोड़िके दिन बाद बनरसे में बनारसी न रह जइहें। सट्टी उठे के बाद जइसे एक ठे आलू ऐहर रह जाला, एक ठे पियाज ओहर। एक तोरई तखता क नीचे, एक काना भंटा खंचिया क पीछे, ओइसेहीं जे बचल-खुचल रहिहें दुई चार जन, ओन्हें बनारसी मउज-मस्ती क परछइयों नसीब न होई। अब का बचल हौ बनारस में ?" माताप्रसाद ने पूछा और खुद ही जवाब दिया, "ई बीतल बनारस क परेत हौ। आउर हमहने कुल ओकर परछाई हईं। थोरिके दिन बाद ई परछइयो न रह जाई। तब परछाइन क परेत दंड पेलिहैं।"[168] माताप्रसाद बनारस के पंडितों, वैद्यों, वेश्याओं की समाप्ति पर चिंता जाहिर करते हुए कहते हैं कि " "बनारस क पंडित, इहां क रंडी अउर भांड बनारस क झंडा फहरउले रहलन। ई पंडित आउर बैदन से बनारस रहल। तौन तीन ठे पंडित, दुई ठे बैद

बचल हउअन। रंडियों तौन बिलाय गइलन।"[169] वह आगे बताते हैं कि " "अब कहाँ वह काशी जिसने श्रीहर्ष, श्रीधर स्वामी, हरिन्यास देव, नारायण भट्ट, पंडितराज जगन्नाथ, शिवकुमार शास्त्री, बापूदेव शास्त्री और प्रभुदत्त गौड़ जैसे विद्वान दिये। हर युग में, हर शताब्दी में काशी के विद्वानों ने अपना डंका बजाया। उनकी विद्वता निर्विवाद रूप से अभिनंदित हुई, पूजी गयी। इससे बनारस महिमामंडित हुआ, गौरवान्वित हुआ। मीमांसा, वेदान्त, शैवमत, न्याय, धर्मशास्त्र, संहिता, व्याकरण, काव्य, वैशेषिक, अलंकार, दंडनीति, आन्वीक्षिकी, तंत्रशास्त्र आदि की पताका फहरी। यह परम्परा अपने अवसान पर है। नयी पीढ़ी पाणिनी को नहीं जानती। नाम भी नहीं सुना।"[170]

पंडित माताप्रसाद की चिंता बनारस की उस विशाल और समृद्ध परंपरा के खत्म होने की है जिसके लिए काशी जानी-पहचानी जाती रही है। बीसवीं सदी के सूचना और तकनीकी युग में धर्मशास्त्र के अध्ययन की परंपरा खत्म हो गयी है। कम्प्यूटर, इंटरनेट, विज्ञान की तरफ लोगों का ध्यान बढ़ता जा रहा है। जिसका एक बहुत बड़ा कारण है कि युवा पीढ़ी इन विषयों से दूर होती जा रही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

---

[1] गुलेनार, जैनेन्द्र किशोर, पृ. 13

[2] वही, पृ. 13

[3] वही, पृ. 6

[4] वही, पृ. 31

[5] वही, पृ. 32-33

[6] प्रेमचंद-पूर्व के हिंदी उपन्यास, ज्ञानचंद जैन, पृ. 269

[7] गुलेनार, जैनेन्द्र किशोर, पृ. 49

[8] वही, पृ. 45

[9] वही, पृ. 54

[10] वही, पृ. 55

[11] वही, पृ. 34

[12] वही, पृ. 44

[13] अपना मोर्चा, काशीनाथ सिंह, पृ. 5-6

[14] वही, पृ. 30

[15] वही, पृ. 33

[16] वही, पृ. 36

[17] वही, पृ. 38

[18] वही, पृ. 38-39

[19] वही, पृ. 40

[20] वही, पृ. 40

[21] वही, पृ. 23

[22] वही, पृ. 25

[23] उपन्यास की शर्त, जगदीश नारायण श्रीवास्तव, पृ. 125

[24] अपना मोर्चा, काशीनाथ सिंह, पृ. 98

[25] गली आगे मुड़ती है, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 13-14

[26] वही, पृ. 188-189

[27] वही, पृ. 289-290

[28] वैतरणी से वैश्वानर तक की यात्रा, आनंद कुमार पाण्डेय, पृ. 43

[29] गली आगे मुड़ती है, शिवप्रसाद सिंह, 'नुक्कड़ सभा' से उद्धृत

[30] गली आगे मुड़ती है, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 30

[31] वही, पृ. 31

[32] वही, पृ. 164

[33] वही, पृ. 165

[34] वही, पृ. 59-60

[35] वही, पृ. 58

[36] वही, पृ. 123-124

[37] वही, पृ. 124

[38] वही, पृ. 124

[39] वही, पृ. 130

[40] वही, पृ. 132-133

[41] वही, पृ. 268

[42] वही, पृ. 158-159

[43] उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा, डॉ. परमानंद श्रीवास्तव, पृ. 118-119

[44] गली आगे मुड़ती है, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 163

[45] वही, पृ. 291

[46] वही, पृ. 348-349

[47] वही, पृ. 349

[48] वही, पृ. 349-350

[49] झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. 10

[50] वही, पृ. 11

[51] वही, पृ. 11

[52] वही, पृ. 66

[53] वही, पृ. 15-16

[54] The practice of katauti (cut) or illegal deductions by middlemen has existed throughout, but was exaggerated in the 1950s. No cash payment was made to the weaver until his sari was sold, and at the end of the designated period it could be returned to him as unsellable, thus ruining the "shine" of his produst, as well as losing him money. Worse, even when sold, the price paid by the middlemen for the sari was minus a certain cut claimed by manufacturers and purchasers alike to be arbitrary. The weavers went to strike on this issue in the 1950s. The Artisans of Banaras, Nita Kumar, P. 24-25

[55] झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. 105

[56] वही, पृ. 13

[57] वही, पृ. 18

[58] वही, पृ. 30

[59] उपन्यास की शर्त, जगदीश नारायण श्रीवास्तव, पृ. 206

[60] झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. 114

[61] वही, पृ. 151-152

[62] वही, पृ. 152

[63] वही, पृ. 192-193

[64] वही, पृ. 193

[65] वही, पृ. 115

[66] वही, पृ. 116

[67] 'There have been two major periods of decline in the silk industry over the last hundred years, in the 1880s and the 1950s. In 1984 ten to twelve thousand Muslims of Banaras were reported to have gathered for special prayers, as their work was at a standstill (Bharat Jivan, 15 Dec, 1884, 3). In December 1891 one thousand weavers went to the house of the District Magistrate, Banaras, witch a petition asking for lower grain prices and complaining of no work. The industry was so depressed that the government considered diverting all the weavers to a new industry of weaving carpets (GAD 155B 1891, Ind 110 1910, Ind 253 1911). Weavers in this period were supposed to be full discontent'. Culture and Power in Banaras, Edited by Sandria B. Freitag, Article- 'Work and Leisure in the Formation of Identity : Muslim Weavers in a Hindu City- Nita Kumar, P. 148-150

[68] झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. 184

[69] वही, पृ. 194

[70] वही, पृ. 123

[71] वही, पृ. 184-185

[72] साहित्य का नेपथ्य, भारत भारद्वाज, पृ. 108

[73] नीला चाँद, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 191

[74] वही, पृ. 365

[75] वही, पृ. 365

[76] वही, पृ. 365

[77] वही, पृ. 450

[78] शिवप्रसाद सिंह, सं. डॉ. अरुणेश नीरन, पृ. 109

[79] नीला चाँद, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 452-453

[80] वही, पृ. 259

[81] वही, पृ. 260

[82] वही, पृ. 93-94

[83] शिवप्रसाद सिंह, सं. डॉ. अरूणेश नीरन, पृ. 111

[84] नीला चाँद, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 153

[85] वही, पृ. 296

[86] वही, पृ. 448

[87] वही, पृ. 154

[88] वही, पृ. 155

[89] वैश्वानर, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 15-16

[90] कुछ विचार, प्रेमचंद, पृ. 69

[91] मैं कहता आँखिन देखी, काशीनाथ सिंह, रामकली सराफ, रविवार, जनवरी 18, 2009, साभार, इन्टरनेट

[92] वही, इन्टरनेट

[93] काशी का अस्सी, काशीनाथ सिंह, पृ. 11

[94] वही, पृ. 11

[95] वही, पृ. 12

[96] वही, पृ. 14

[97] वही, पृ. 14

[98] वही, पृ. 17

[99] परिकथा, हीरालाल नागर, मार्च-अप्रैल, 2006, पृ. 95

[100] काशी का अस्सी, काशीनाथ सिंह, पृ. 18

[101] वही, पृ. 18

[102] वही, पृ. 18

[103] वही, पृ. 20

[104] वही, पृ. 23

[105] वही, पृ. 23

[106] वही, पृ. 23

[107] वही, पृ. 24

[108] काशी का अस्सी, काशीनाथ सिंह, पृ. 25

[109] वही, पृ. 26

[110] वही, पृ. 27

[111] वही, पृ. 29

[112] वही, पृ. 34

[113] वही, पृ. 34

[114] वही, पृ. 34

[115] वही, पृ. 34-35

[116] वही, पृ. 35

[117] वही, पृ. 41

[118] वही, पृ. 42

[119] कहन, प्रो. चौथीराम यादव, अगस्त, 2000, पृ. 360

[120] काशी का अस्सी, काशीनाथ सिंह, पृ. 51

[121] वही, पृ. 38

[122] वही, पृ. 73

[123] वही, पृ. 73

[124] वही, पृ. 88

[125] वही, पृ. 93-94

[126] वही, पृ. 94

[127] वही, पृ. 94

[128] वही, पृ. 94

[129] वही, पृ. 98

[130] वही, पृ. 99

[131] वही, पृ. 99

[132] वही, पृ. 109

[133] वही, पृ. 109

[134] वही, पृ. 110

[135] तद्भव, बच्चन सिंह, अक्टूबर-दिसम्बर, 2002, पृ. 248

[136] काशी का अस्सी, काशीनाथ सिंह, पृ. 112

[137] वही, पृ. 112

[138] वही, पृ. 118

[139] वही, पृ. 118

[140] वही, पृ. 119

[141] काशी का अस्सी, काशीनाथ सिंह, पृ. 134

[142] वही, पृ. 134

[143] वही, पृ. 138

[144] वही, पृ. 142

[145] वही, पृ. 143

[146] वही, पृ. 144

[147] वही, पृ. 144

[148] वही, पृ. 145

[149] वही, पृ. 145

[150] वही, पृ. 146

[151] वही, पृ. 149-150

[152] वही, पृ. 150

[153] वही, पृ. 151

[154] वही, पृ. 151

[155] वही, पृ. 160

[156] वही, पृ. 162

[157] वही, पृ. 155

[158] वही, पृ. 156

[159] जनसत्ता, पंकज सिंह, 26 मई, 2002, दिल्ली, कोलकाता

[160] काशी का अस्सी, काशीनाथ सिंह, पृ. 159

[161] आलोचना, प्रफुल्ल कोलख्यान, अक्टूबर-दिसम्बर, जनवरी-मार्च, 2002, पृ. 45

[162] पक्का महाल, अजय मिश्र, पृ. 30

[163] वही, पृ. 35

[164] भोग-मोक्ष समभाव, वैद्यनाथ सरस्वती, पृ. 192

[165] पक्का महाल, अजय मिश्र, पृ. 74

[166] वही, पृ. 51

[167] वही, पृ. 233

[168] वही, पृ. 247

[169] वही, पृ. 248

[170] वही, पृ. 252

चतुर्थ अध्याय

काशी का मिथकीय स्वरूप, संस्कृति एवं आध्यात्मिकता

काशी की संस्कृति में कुछ रचे-बसे तत्व हैं जिन्हें उस परिवेश विशेष से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। उनमें से एक है प्राचीन समय में काशी में बने मकानों की बनावट। उपन्यासकार ने पुराने जमाने में काशी के मकानों की बनावट का विशिष्ट कारण बताते हुए लिखा है कि उस समय "दिन दहाड़े डाकू आकर माल-जाल लूट लेते थे और किसी से कुछ नहीं बन आती थी...यही कारण था कि प्राचीन समय में लोग नीचे-नीचे छोटे-छोटे द्वार बनाया करते थे; इस उपाय से एक अकेला सौ पर भरी होता था। द्वार के एक छोर तलवार खीच कर खड़े हो जाने से द्वार की तंगी से दो डाकू भी एक संग नहीं घुस सकते थे और तानकर भी घुसना कठिन ही था फिर क्या था झुक कर एक घुसा और दो टूक होकर, भंटे के ऐसा सर धरती पर काटकर नाच रहा है। यदि तानकर किसी ने घुसने का साहस भी किया तो ठोकर लगी और मस्तक गर्माया तिरमिराकर मुंह के बल हो गया।"[1] यह बात तो थी उस समय की जब डाकू आए दिन डकैती डालते थे और आम जनमानस के लिए परेशानी का सबब बन चुके थे।

अंग्रेजों के आगमन के साथ ही स्थितियाँ बदली। अब काशी के घरों की बनावट और उसकी आंतरिक बुनावट में भी तबदीली दिखाई देने लगी। अंग्रेजों ने फैशन और तेजी से होने वाले बदलावों को तवज्जो दी, इसीलिए "अंग्रेजी अमलदारी शुरू होने पर रईसों के घरों में अंग्रेजी ढंग की सजावट का फैशन चला।"[2] बनवारीलाल का मकान इसका सुन्दर उदाहरण था। "दरवाजों में शीशे और झिलमिली के किवाड़, दरों में जालिलेट आइने, झालरदार पंखे, बीच में गोल संगमरमर की मेज, चारों ओर फैशनदार कुर्सियाँ, मेज पर बीच में सुन्दर फूलदान, इधर-उधर कलम दावात, ब्लाटिंग पैड, पेपरवेट आदि सुन्दरता से धरे थे, एक ओर हिंदी, अंग्रेजी और बंगला की पुस्तकें भी पड़ी थी; कमरे की दीवारों में

फोटो की बड़ी-बड़ी तस्वीरें, छत्त में लटकन के लम्पी झाड़ इत्यादि।"[3] वस्तुतः संस्कृति कोई ठहरी हुई अथवा किसी एक विशिष्ट समय में निर्दिष्ट कर दी गई नियमों की श्रृंखला नहीं है। वह तो सतत् परिवर्तित और परिवर्धित होती रहती है। भारत में समय-समय पर विभिन्न धर्मों और समुदायों के तथा विदेशी लोगों ने आकर भारतीय संस्कृति को कई रूपों में समृद्ध किया है।

यद्यपि सांस्कृतिक संक्रमण के दौर को आसानी से पार कर लेने और उससे प्राप्त तत्वों को सहज अपना लेने की प्रवृत्ति अधिकांशतः रईस लोगों में देखी जा सकती है। रईस बनवारीलाल के मकान के "भीतर सजावट हिन्दुस्तानी ढंग की थी, कमरे की लम्बाई-चौड़ाई इतनी थी कि एक संग डेढ़ सौ आदमी चैन से बैठ सकते थे, नमाम कालीन की बिछावन थी, एक ओर बीच में मखमली जरी के काम के गद्दा तकिये मसनद सुन्दरता से धरे थे, दीवारों में रंग रंग के बम्बई काट की दिवारगीरें शीशे के कलकतिया डालों में सजे थे; दीवारों में पूना तथा फ़्रांस की अच्छी-अच्छी तस्वीरें अपनी अनोखी छटा दिखा रही थी, आमने-सामने दो बड़े-बड़े हलब्बी आईने आदमकद लगे हुए थे, जिनसे एक कमरे में कई कमरे मालूम होते थे।"[4] अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी संस्कृतियों के मिश्रण को काशी के एक रईस बनवारीलाल के मकान की सजावट में स्पष्टतः देखा जा सकता है।

किसी क्षेत्र विशेष का पहनावा भी वहाँ की संस्कृति का अभिन्न अंग होने के साथ ही उस संस्कृति विशेष का परिचायक भी होता है। पुराने समय से ही काशी अपने वस्त्र व्यापार के लिए प्रसिद्ध रही है। यहाँ की बनी साड़ियों अथवा अन्य वस्त्रों की पहुँच देश-विदेश तक रही है। जहाँ तक उस जमाने में काशी के अमीर लोगों के पहनावें का प्रश्न है उपन्यासकार ने एक स्थान पर बनवारीलाल के पहनावे का वर्णन किया है। जो कुछ इस प्रकार है- "चार अंगुल चौड़ी रेशम कोर की चुनी हुई शान्तिपुरी धोती, ढीले बांह का रेशमी कुर्ता जिस पर काले साटन की जरीदार सदरी, सर पर तीस चालीस रूपये के लागत की

लखनौआ सुई काम की टोपी।"[5] वस्तुतः "उस जमाने में बहुत-से रईसों के घरों में देशी कारीगरी के पुराने कपड़े जोगाये हुए धरे रहते थे जो देखने में चमकीले और दमकीले होते थे जैसे अभी खूंटी पर से उतारे गये हों। इनको देखने से मालूम होता था कि उस समय की टूटी-फूटी दशा में भी विलायती कारीगरी देशी कारीगरी की बराबरी नहीं कर पाती थी।"[6] समय के साथ हुए अनेक परिवर्तनों के बावजूद धोती और कुर्ता आज भी काशी के लोगों का विशिष्ट पहनावा है।

उपन्यासकार ने पारसी थियेट्रिकल कंपनियों का विस्तृत वर्णन उपन्यास में किया है। अल्फ्रेड थियेटर कम्पनी की विशेष चर्चा उपन्यास में देखी जा सकती है। 'गुलेनार' इसी नाटक कम्पनी के नाटकों की प्रधान नायिका थी। वस्तुतः पारसी रंगमंच एक समय में काशी की संस्कृति का हिस्सा हुआ करते थे। इन कंपनियों ने वहाँ के सांस्कृतिक वातावरण को काफी हद तक प्रभावित भी किया था। "उपन्यास में उस काल की नगर-नगर में घूम कर नाटक दिखानेवाली पारसी थियेट्रिकल कंपनियों के कुछ दुर्लभ चित्र मिलते हैं। प्राप्त जानकारी के अनुसार लन्दन से आने वाली अंग्रेजी थियेट्रिकल कंपनियों की व्यावसायिक सफलता देख कर, उन्हीं की तर्ज पर हिन्दुस्तानी भाषा में नाटक खेलने के लिए सबसे पहली पारसी थियेट्रिकल कम्पनी बम्बई में 1837 में बनी। उस जमाने की एक दर्जन से अधिक पारसी थियेट्रिकल कंपनियों में अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी बहुत मशहूर हुई जिसकी स्थापना 1871 में हुई। इसकी आकर्षक रंग-बिरंगी सीन-सीनरी, तड़क-भड़कवाली पोशाक, मंच पर चमत्कारी दृश्यों का प्रस्तुतीकरण, जैसे दूध की नहर, पृथ्वी का फटना, आकाश से देवी-देवताओं का उतरना या अंतर्ध्यान हो जाना, नेपथ्य का आकर्षक चित्र-दृश्यों को प्रस्तुत करने में प्रयोग- ये सब बातें उस युग के दर्शकों के लिए सर्वथा नवीन थीं और इसीलिए उनके नायकों को देखने के लिए भीड़ टूट पड़ती थी।"[7] इस प्रकार संस्कृति का संबंध "उसके

सर्जनात्मक क्रिया-कलापों तथा तज्जन्य सौंदर्यबोधात्मक अभिरुचियों से है।"[8] इस रूप में काशी की सांस्कृतिक विरासत बहुत समृद्ध रही है।

'बहती गंगा' की पहली कहानी 'गाइए गणपति जगबन्दन' में महारानी पन्ना के विद्रोह और चेतसिंह के उत्पन्न होने का आख्यान रचा गया हैं। राजा बलवंत सिंह और उनके चचेरे भाइयों के द्वारा चेतसिंह के पैदा होने पर मंगल गान को बंद करा दिया जाता है। राजनीतिक उपेक्षा और उत्पीड़न के बीच पिसती महारानी पन्ना का चरित्र पितृसत्ता के नीचे रहने वाली स्त्री का चरित्र बन जाता है। राजा बलवंत सिंह राजनैतिक कारणों से मंगल गान को दुबारा शुरू नहीं करवा पाता है। राजा का पुत्र और राज्य का उत्तराधिकारी पैदा होने पर इस तरह से मंगल गान के बंद होने से रानी पन्ना अत्यंत क्रोधित हो जाती है। काशी की जनता और राज महल की राजनीति वर्णसंकर चेतसिंह को स्वीकारने में असमर्थ होती है। इस पर रानी राजा बलवंत सिंह से कहती है कि "कब तक तुम लोग राजनीति के नाम पर नारी के गौरव और हृदय की बलि चढ़ाते हो।...रानी बड़े ही उद्दत स्वर में बोलती गयी, "मैं न डरूंगी। तुम्हारी राजनीति के गर्भ से राजकुमार के बधाई वादन रोक सकती है, परन्तु माता को अपने पुत्र के जन्मोत्सव पर मंगल गान करने से न तुम रोक सकते हो न तुम्हारे कुटुम्बी रोक सकते हैं और न तुम्हारी राजनीति रोक सकती है। समझे। मैं बधाई गाती हूँ। बुलाओ अपने भाइयों को, रोकें।'' कहते कहते जैसे किसी स्वजन के मृत्यु पर लोग छाती पीटते हुए रोते हैं वैसे ही दोनों हाथों से अपनी छाती धाड़-धाड़ पीटती हुई रानी चिल्लाकर विक्षिप्तों के समान गाने लगी। गाइए गणपति जगबन्दन !!"[9] यह सिर्फ एक स्त्री, माँ का मंगल गान नहीं है बल्कि यह वह विद्रोह का स्वर है जो सदियों से स्त्री अपने अन्दर बनाये हुए थी। काशी नरेश की पत्नी होने के बावजूद उसे अपमान का घूँट पीना पड़ता है। वह इस अपमान के घूट को अब नहीं पीना चाहती है। वह इसके खिलाफ अपना

स्वर बुलंद करती है। अत: यह स्पष्ट है कि यह एक स्त्री के स्वाभिमान की कहानी है साथ ही काशी के परवर्ती राजा चेतसिंह के इस संसार में आने की कहानी भी है।

'बहती गंगा' उपन्यास का दूसरा खण्ड या कहानी 'घोड़े पै हौदा और हाथी पै जीन' में 1780 ई. के आस-पास के बनारस का चित्र खींचा गया है। काशी के राजा चेतसिंह से कम्पनी बहादुर वारेन हेस्टिंग्स जुरमाना वसूल करने के लिए कलकत्ता से काशी आया। सारी प्रजा में असंतोष व्याप्त हो गया था। "राज्य की सेना अकर्मण्य होकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठी थी और नगर-निवासी निरुत्साह थे।"[10] ऐसे समय में राजमाता पन्ना ने अपनी बुद्धि का परिचय देते हुए काशी के प्रत्येक महाजनों के घरों में दस-दस, बीस-बीस सिपाही छिपा रखने को कहा। इस तरह की तैयारी की खबर सुनकर वारेन हेस्टिंग रातो-रात काशी छोड़ चुनार भाग गया। यह राजमाता थी, उनको राजनीति की समझ थी जिसके बल पर वह काशी की प्रजा को घोर संकट से बाहर निकाल सकी। इस कहानी में एक महाजन लबदन साब का भी प्रसंग आया है। रानी ने लबदन साब को अपने मुँह बुलावा भेजा कि वह भी अपने घर में स्थान दे। पर लबदन साव ने समझा कि राजमाता उसके पैसों को लूटना चाहती हैं। इसलिए लबदन साव अपने सारे पैसे जमीन में गाड़ कुछ पैसे और जेवर साथ ले अपनी पत्नियों के साथ काशी से भागने लगता है। "लबदन साव ने 'रामदाने' का लड्डुआ पैसा में चार' बानी बोलते हुए काशी की गलियों में घूम-घूमकर व्यापार आरम्भ किया था और कौड़ी-कौड़ी जोड़कर नखास पर हलवाई की दुकान खोली थी। ज्यों-ज्यों उसका उदर बढ़ता गया त्यों-त्यों बाजार में उनकी दर चढ़ती गयी और वह दमड़ी पर चमड़ी निछावर कर बैठे।"[11] यह दोनों प्रसंग काशी की उन दोनों व्यवस्थाओं को सामने लाता है जिसके चंगुल में वहाँ की जनता फँसी हुई थी। एक तरफ जहाँ वह अंग्रेजी शासन के दमन चक्र में पिस रही थी वहीं दूसरी तरफ लबदान साव जैसे अनेक महाजनों के दमन चक्र में

भी। यह दोनों व्यवस्थाएं कहीं-न-कहीं वहाँ की जनता के जीवन को नारकीय बना रही थी। महाजनी सभ्यता के चित्र को भी इस उपन्यास में अभिव्यक्त किया गया है।

जयशंकर प्रसाद ने 'गुंडा' कहानी में नन्हकू सिंह को मुख्य पात्र बनाया है तो शिवप्रसाद मिश्र ने 'बहती गंगा' के इस खण्ड में दाताराम नागर और भंगड़ भिक्षुक को गुंडा के रूप में स्थापित किया है। वह लिखते हैं कि "सन 1772 की काशी अपने गुंडों के लिए प्रसिद्ध थी।...राजा चेतसिंह की दुर्दशा देखकर जिस समय काशी अचेत होने लगी तब उनके नालायक बेटे जो गुंडे कहलाते थे, सचेत हुए और उन्होंने विदेशी 'मलिच्छों' के प्रति घृणा का व्रत लिया। ऐसे लोगों में दाताराम नागर और भंगड़ भिक्षुक प्रमुख थे।"[12] वस्तुत: काशी में गुण्डों की परम्परा बहुत प्राचीन है। "काशी में 'गुण्डा-परम्परा' तुलसीदास के समय में भी थी, अब भी है। काशी के 'गुंडा' का नाम आते ही आँखों में भय के भाव नहीं दिखाई पड़ते, घृणा नहीं होती, लेकिन सम्मान सूचक भाव और शब्द आप निकल जाते।...वर्तमान समय में 'गुण्डा' शब्द सरकार और कानून की दृष्टि में अपराध की श्रेणी में आता है। लेकिन तब 'गुण्डा' शब्द सम्मान सूचक, वीरता, समाज और देश का संरक्षणकर्ता, धर्म और संस्कृति का रक्षण, बाल, महिला, निर्बल असहायों के रक्षक के रूप में स्वीकार किया जाता था। काशी में गुंडा शब्द को वर्तमान के हत्यारों, लूट करने वालों, महिलाओं का उत्पीड़न करने वालों, बलात संपत्ति और धन अर्जित करने वाले, धर्म-संस्कृति और पर्यावरण से खिलवाड़ करने वाले, अपराधियों का पर्याय नहीं माना जा सकता। आज की गुंडई, लूट, यातना, भय, आतंक, अहंकार, पीड़ा देने, शोषण की हैं। तब की गुंडई, शक्ति की उपासना करने, और शारीरिक सौष्ठव को प्रदर्शित करने की थी।"[13] दाताराम नागर और भंगड़ भिक्षुक का मुख्य कार्य फिरंगियों और उनके साथियों को क्षति पहुँचना ही था। बनकट मिसिर अंग्रेजों के मुख्य सहायक और ठेकेदार थे। अत: ये नागर के दुश्मन थे। नागर और बनकट मिसिर में लड़ाई होती है और वह भी मर्यादित रूप में। इन दोनों को पता है कि जब एक व्यक्ति

निहत्था होता है तो दूसरे पर वार नहीं किया जाता है। काशी के गुंडे भी इस मर्यादा का पालन करते थे। नागर के कहने पर कि "मिसिर जी, तुम खाली हाथ हो और मैं हथियार बंद हूँ। कहीं पीछे से हमला कर दूँ, तब ?

मिसिर ठठाकर हँस पड़ा। फिर बोला, "मालूम है तुम गुंडे हो, ऐसा छोटा काम कभी नहीं कर सकते"[14] तत्पश्चात दोनों में साहसिक लड़ाई होती है। जिसमें मिसिर जी मारे जाते हैं और इस जुर्म में नागर को उम्र कैद हो जाती है।

अगर इस खण्ड के दूसरे पक्ष की ओर जाएँ तो सुन्दर के माध्यम से नागर के प्रेम को बड़ी ही मार्मिकता से उकेरा गया है। सुन्दर को नागर ने पुरूषों के चंगुल से बचाया था और शरण दी। जब सुन्दर को पता चलता है कि नागर को काले पानी की सजा हो गयी है तब वह नारघाट की सीढ़ियों पर बैठी गंगा के पानी में अपना पैर झुलाये एकटक देख रही है। सुन्दर को इतना पता है कि कालापानी वह जगह है जहाँ से कोई लौट के वापस नहीं आता है। वह अत्यंत भावुक हो जाती है और नागर की याद में एक गीत गाती है-

"अरे रामा, नागर नैया जाला कालेपानिवां रे हरी

सबकर नैया जाला कासी हो विसेसर रामा,...

घरवा में रोवें नागर माई औ बहनियाँ रामा,

सेजिया पै रोवें बारी धनियाँ रे हरी !"[15]

यह गीत सिर्फ सुन्दर के हृदय को ही विदीर्ण नहीं करता है बल्कि पाठक को भी चोट पहुँचाता है। प्रेम का ऐसा रूप बहुत कम ही देखने को मिलता है। सुन्दर के कलेजे का सारा दर्द इन पंक्तियों में व्यक्त हो गया है।

भंगड़ भिक्षुक की और उसकी पत्नी मंगला गौरी के प्रेम और त्याग की कहानी 'सूली ऊपर सेज पिया की' खण्ड में व्यक्त हुई है। नागर के कालेपानी के बाद भंगड़ भिक्षुक फरार हो गया था। सरकार की तरफ से घोषणा की जाती है कि जो भी भंगड़ भिक्षुक को पकड़वायेगा उसे ईनाम दिया जायेगा। परन्तु भंगड़ भिक्षुक 'काशीवासियों की वीर वृत्ति का प्रतीक' था। वह स्वयं प्रकट होता है और कोतवाल को ललकारता है। "भिक्षुक ने कुएँ की ऊँची जगत पर खड़े हो कोतवाली की ओर मुँह उठाकर आवाज लगायी, "हुजूर कोतवाल साहब ! भिक्षुक ड्योढ़ी पर आया। क्या हुकुम होता है ?" कोतवाल साहब मिनके तक नहीं और जो दो-एक बरकंदाज कोतवाली के फाटक पर थे, वे भी भीतर चले गये। भिक्षुक ने भैरव विषाण के वज्रनाद के समान भयंकर अट्हास किया। एकत्र जनसमूह का कौतूहल शांत हो गया, लोगों ने मान लिया कि सरकार भिक्षुक से पराजित हो गयी। उन्हें अचरज नहीं हुआ। वे जानते थे कि सदा से ही सरकार भिक्षुओं से हार मानती चली आई है और भविष्य में हार मानती जायेगी।"[16] यह काशी के गुण्डों की निर्भीकता और निडरता का परिचायक है।

मंगला गौरी भंगड़ भिक्षुक की पत्नी है। वह भंगड़ भिक्षुक की अनुपस्थिति में सदैव अपने शील और मर्यादा की रक्षा करती आई है। एक दिन भिक्षुक मंगला गौरी को अपने हाथों से हवलदार को दूध का कटोरा देते हुए देखता है तो उस पर शक करने लगता है। यहाँ पर उस पुरुष मानसिकता को देखा जा सकता है जो बिना कुछ सोचे-समझे स्त्री पर सारा दोषारोपण मढ़ देता है। पितृसत्तात्मक समाज का यह चरित्र काशी के समाज में भी व्याप्त है, यह इस बात का संकेत है। भिक्षुक उसके बाद अपनी पत्नी के पास नहीं जाता है और वापस लौटते समय सरकारी सैनिकों द्वारा जलाकर मार दिया जाता है। यह बात जब मंगला गौरी को पता चलती है तो वह अपने को कमरे में बंद कर अपने आप को आग लगा लेती है। "भीतर से चंडी के अट्हास की तरह गौरी का शब्द सुनायी पड़ा- "गेंदा, सूली

ऊपर सेज पिया की, एही विधि मिलना होय !" और फिर काठ-कबाड़ तथा जलते माँस की दुर्गन्ध बाहर निकलने लगी।"[17] जहाँ एक तरफ स्त्री की पवित्रता, सौम्यता और एकनिष्ठता की मूर्ति के रूप में मंगला गौरी एक प्रतिमान उपस्थित करती है वहीं दूसरी तरफ पितृसत्ता की जड़ों को अपने अंदर समेटे पुरुष की घृणित मानसिकता को भी देखा जा सकता है।

काशी की प्रसिद्ध वेश्या अमीरनजान के बचपन के प्रेम को इसमें स्थान मिला है। अमीरनजान (बचपन में इसका नाम किंकिनी था) ने हंस से प्यार किया था। परिवारवालों की वजह से इन दोनों को अलग होना पड़ा। हंस (रामदयाल) बाद में चित्रकार बनता है। एक दिन मिर्जा अस्करी के दरबार में उसे चित्र बनाने के लिए बुलाया जाता है। "नवाब ने कहा, "मैंने अपनी नयी बेगम की तसवीर बनाने के लिए आपको बुलाया है। आपने भी शायद उसका नाम सुना है। बनारस में क्या, दूर-दूर तक उनके नाचने गाने की धूम थी।"[18] नवाब की पत्नी और रामदयाल का आमना-सामना हुआ तो दोनों ने एक दूसरे को पहचान लिया। रामदयाल के मुँह से किंकिनी और अमीरनजान के मुँह से हंस निकला। वह वही अमीरनजान है जो तम्बाकू और टिकिया बनारस की गलियों में बेचा करती है और रामदयाल उसका आज भी बेसब्री से इंतजार करता है। मिर्जा अस्करी की बेगम की ऐसी दशा क्यों हुई ? रामदयाल मन ही मन इसका उत्तर खुद ही दे देता है। "तम्बाकू में अफीम का पुट देने वाली यह टिकिया वाली अमीरन तेरी बाल्यसंगिनी किंकिनी है। यही किसी समय काशी की प्रसिद्ध वेश्या अमीरनजान थी। अपने रूप और गुण के कारण वह नवाब अस्करी मिर्ज़ा की बेगम भी हो गयी थी। परन्तु पूस की एक अँधेरी रात में, जबकि बिजली चमक रही थी और मुसलाधार पानी बरस रहा था, वह झाड़ू मारकर नवाब के महल से निकाल दी गयी थी। उसका अपराध यही था कि उसने बचपन के एक साथी को पहचान लिया था; उसकी कला पर मुग्ध हो गयी थी।"[19] रकिया उर्फ मुलतानी रामदयाल के पास

पहुँची और बताया कि बूढ़ी अमीरन बुआ की तबियत बहुत खराब है और वह आपसे मिलना चाहती है। रामदयाल दंगों की परवाह न करते हुए अमीरन से मिलने जाता है। रास्ते में उसे उपद्रवियों से सामना भी करना पड़ता है। रकिया एक झोपड़ी के सामने रामदयाल को छोड़कर अपने घर चली जाती है। रामदयाल चौखट पर खड़ा रहा। "उसने सुना कि भीतर अमीरन वायु के प्रकोप में गाने का प्रयत्न कर रही है- मोरे मंदिर अजहूँ नहीं आये !

अमीरन के स्वर में तेज का प्रकाश नहीं रह गया है। उसकी जगह करुणा की आर्द्रता आ गयी थी। रामदयाल सुनने लगा-

मैं का हाय करूँ मोरी आली

किन सौतन बिललाये।

उसने अलाप लेने का प्रयत्न किया। गिटकरी भरना चाहा, किन्तु भीषण हिचकी आयी। केवल इतना ही सुन पड़ा- आये, आये, आये।...रामदयाल अब न रुका। वह लपककर भीतर घुसा। उसने पुकारा किंकिनी !" परन्तु किंकिनी मौन पड़ गयी थी। उसकी आँखें खुली थीं और उसके मुँख पर विजय-गर्व की मुस्कान थी। कोठारी में स्वयं गूंज रहा था- आये, आये, आये।"[20] प्रेम के ऐसे उदात्त रूप का वर्णन बहुत कम ही देखने को मिलता है। अमीरन-रामदयाल या हंस और किंकिनी के प्रेम का चरमोत्कर्ष है यहाँ पर।

दूसरे तरफ इस खण्ड में बनारस के नवाबों की जीवन संस्कृति को भी दर्शाया गया है। उनके दरबारों की शोभा का वर्णन तत्कालीन काशी के नवाबों का सजीव चित्र प्रस्तुत कर देता है। वह बताते हैं कि "नवाब अस्करी मिर्ज़ा का दरबार नित्य की तरह गुलों-बुलबुलों से महक-चहक रहा। अस्करी मिर्ज़ा एक मसनद पर टेक लिए अधलेटे-से थे। उनके गोरे-गोरे हाथ-पाँवों में कलापूर्ण ढंग से मेंहदी सजाई हुई थी। छल्लेदार जुल्फ़ें मनसद पर बिखरी पड़ी

थीं। सामने अफीम की पीनक में झूमते-बैठते ख्वाजा फ़सीह एक शेर का मतला माँजते जा रहे थे। उन्हीं के पार्श्व में मिरजई पहने और सिर पर भारी पगड़ी बाँधे 'दिव्य' कवि डटे थे।"[21] वस्तुतः इतना तो कहा ही जा सकता है कि काशी के नवाबों के जीवन पद्धति का तरीका अत्यंत विलासी और सामंती था। यह सिर्फ काशी के नवाबों तक ही सीमित नहीं था बल्कि भारत में जहाँ कहीं भी इनका शासन था, जीवन यापक का तरीका एक ही प्रकार का था।

'अल्ला तेरी महजिद अव्वल बनी' में लेखक ने रकिया और उसके प्रेम और अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोही चरित्र को सामने तो लाता ही है साथ ही बेकले के पत्रों से अंग्रेजी शासन के क्रूर चेहरे को भी पहचानने में मदद मिलती है। सितम्बर 1858 को बेकले के द्वारा अपनी पत्नी को लिखे गये पत्र से पता चलता है कि किस प्रकार 1858 के गदर को दबाया गया। बेकले बताता है कि "गदर बिलकुल दबा दिया गया। अब हम लोग विद्रोहियों को दंड देने के बहाने हिन्दुस्तानियों को ऐसी सीख दे रहे हैं कि वे सैकड़ों वर्ष तक सिर न उठा सकेंगे। सचमुच कर्नल नील बड़ा बहादुर आदमी है। उसने यहाँ सड़क की दोनों पटरियों पर पर सैकड़ों 'टाइबर्न' (लन्दन में वह स्थान जहाँ उन दिनों मृत्यु-दंड-प्राप्त अपराधियों की सजा सार्वजनिक रूप से कार्यान्वित की जाती थी) बना दिये हैं। वह अपने साथ फौज और रस्सियों के हजारों टुकड़े लेकर चलता है। सड़क पर जहाँ कोई नेटिव (भारतवासी) दिखाई पड़ा कि फिर उसकी खैर नहीं। वह बूढ़ा हो या जवान, तुरंत पकड़ लिया जाता है। रस्सी के एक टुकड़े से उसका हाथ पीछे बांध दिया जाता है और दूसरा टुकड़ा गले में बाँधकर सड़क के किनारे किसी वृक्ष की डाली से लटका देते हैं। यह वस्तुतः मजेदार चीज होती है- उपर हवा में पाँच मिनट अद्भुत नृत्य होता है और नीचे हम लोग 'इन ऑनर ऑफ इंग्लैण्ड' (वृद्ध इंग्लैण्ड की प्रतिष्ठा के लिए) 'थ्री चियर्स' देते (तीन बार हर्ष-ध्वनि करते) हैं।"[22] अंग्रेजी शासन भारतीयों के विद्रोह को सहन नहीं कर पा रहा था। इसलिए उनके ऊपर इस तरह के

अमानवीय कृत्य किये जा रहे थे। बेकले के पत्र के इस अंश से इतना तो स्पष्ट है कि भारतीयों पर अत्यंत क्रूर तरीके से अत्याचार किया जाता था।

बेकले काशी को किस रूप में देखता है उसका चित्रण भी किया गया है। वह लिखता है कि "हम लोग यहाँ एक खंडहर में रहते हैं, जिसे यहाँ वाले अब तक किला ही कहते हैं। यह शहर भी अजीब है, यहाँ के बहुत पुराने नगरों में हैं। मुसलमान जिस पूज्य दृष्टि से मक्का, यहूदी फिलस्तीन और ईसाई यरूशलम या रोम को देखते हैं, इस नगर के प्रति हिन्दुओं की दृष्टि उससे भी अधिक श्रद्धा-सम्पन्न है। मेरे एक सिविलियन दोस्त ने मुझे बताया है कि यहाँ के लोग बड़े ही 'टबुलेंट' (दुर्दान्त) हैं; वे गंभीर बातों पर विज्ञतापूर्ण दृष्टि से मुस्कराते हैं और छोटी-छोटी बातों पर लड़ मरते हैं।"[23] बेकले आगे काशी की गलियों का जिक्र करता है जो काशी की अपनी विशिष्ट पहचान है। "यहाँ पर यह बात जान रखनी चाहिए कि यहाँ की गलियाँ बड़ी ही तंग, गंदी और बड़ी ही चमकदार हैं।"[24] वह आगे बताता है कि "इस नगर की यह भी विचित्रता है कि यहाँ पर हमारा राज्य होते हुए भी एक दूसरा आदमी यहाँ का राजा कहलाता है।"[25] काशी अपनी मस्ती के लिए जानी जाती है, इसीलिए काशी के लोग किसी की भी पराधीनता स्वीकार नहीं करते हैं। यह काशी की अपनी विशेषता है।

'रोम-रोम में वज्रबल' में गोदावरी और उसके पति झालर उपाध्याय के माध्यम से संकटमोचन हनुमान के चमत्कारपूर्ण रूप को प्रस्तुत किया गया है। गोदावरी अपने जीवन के सूनेपन के कारण आत्महत्या करने के लिए गंगा की सीढ़ियों पर बैठी है। तभी मल्लाहों द्वारा अपने पति झालर गुरु के स्मरण को सुन कर वह गर्व से भर जाती है। हुआ यूं कि झालर गुरु अत्यंत दुबले-पतले इन्सान हैं। कोई भी कभी भी उन्हें मार-पीट देता है। झालर गुरु का नियमित कार्य था कि वह हनुमान जी का दर्शन किये बिना अन्न ग्रहण नहीं करते थे। एक दिन उन्हें दर्शन करना स्मरण नहीं रहा। स्मरण आने पर अमावस की रात में

चारों तरफ बदल घिरे हुए थे, दर्शन करने निकल पड़े। अस्सी नाले में पानी की रफ़्तार अत्यंत तीव्र थी। ज्यों ही झालर गुरु नाले में कूदने के लिए तैयार हुए पीछे से किसी ने उनका हाथ पकड़ा और पूछा कि कहाँ जा रहे हो ? झालर गुरु ने बताया कि हनुमान जी के दर्शन करने, तो उस व्यक्ति ने कहा कि समझो कि हनुमान के दर्शन हो गये। इस तरह झालर गुरु उस व्यक्ति में वह रूप देखते हैं जो रूप सीता जी को हनुमान ने दिखाया था। उस आदमी ने झालर गुरु से कहा कि तुम मुझसे क्या चाहते हो ? इस प्रश्न के उत्तर में झालर गुरु उनके एक उंगली का बल माँगा। क्षण भर में झालर गुरु के 'रोम-रोम में वज्रबल' का संचार हो गया। मल्लाहों की इतनी बातों को सुनते ही गोदावरी को अपने पति पर गर्व हुआ और उसने अपने आत्महत्या करने के निर्णय को त्याग कर घर की ओर वापस चली गयी। इस पूरी कहानी में स्त्री के अपने पति के सम्मान और अध्यात्म के उस रूप को दिखाया गया है जहाँ आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प के बल पर कुछ भी पाया जा सकता है। आज के सन्दर्भ में अगर देखा जाये तो इस तरह की चमत्कारिक घटनाओं पर सहसा विश्वास नहीं होता है, पर इतना तो स्पष्ट है कि अगर मनुष्य में दृढ़ इच्छाशक्ति है तो वह सबकुछ प्राप्त कर सकता है जो उसे वांछित है।

काशी में वीरता के मिशाल थे सिवनाथसिंह और बहादुरसिंह। "सिवनाथसिंह क्षत्रिय थे और नगर के विख्यात गुंडे। चौबीसों घंटे डंके की चोट पर सोलह परी का नाच करते थे- छमछम। छह और नौ की ध्वनि से उनका घर गूँजता रहता था।...नाम सुनकर लोगों का खून सरद होता था और खुद ऐसे तपते थे जैसा जेठ की दुपहरिया में सूरज तपता था। जैसे सूरज का जवाब चन्द्रमा है वैसे ही बाबू बहादुरसिंह सिवनाथसिंह के जोड़ीदार थे। उन्हीं की तरह बहादुर उन्हीं की तरह शेर। कहावत है कि घोड़े की लात घोड़ा ही सह सकता है। सो सिवनाथसिंह का बल बहादुरसिंह और बहादुरसिंह का तेज सिवनाथसिंह ही सह सकते हैं।"[26] लगभग 1880 के आसपास की ऐतिहासिकता का पुट लिए इस कथा में मिर्जा पाँचू और

सिवनाथसिंह और बहादुरसिंह के बीच उस लड़ाई को दिखाया गया है जिसमें अत्यंत पराक्रम के साथ लड़ते हुए सिवनाथसिंह मृत्यु को प्राप्त हुए। सिवनाथसिंह का सर धड़ से अलग कर दिया गया। इन्हीं सिवनाथसिंह के नाम से 'बड़े वीर का चौरा' नामक स्थान काशी में प्रसिद्ध है। काशी में इस तरह के तमाम वीरों की पूजा आज भी की जाती है। लोककथाओं में वीरों की अनेक कथाएं समाज में प्रचलित हैं। सिवनाथसिंह के बारे में काशी में प्रचलित हो गया की रात-बिरात जो उस रस्ते से गुजरता है उसका सामान गायब हो जाता है। इस तरह के अंधविश्वास का फायदा उसके आसपास रहने वाले लोग उठाते हैं। लोगों के हाथों से सामान छीनकर सिवनाथसिंह का नाम जोड़ देते हैं। काशी में इस तरह के चौरे जगह-जगह मिल जायेंगे जो उनकी वीरता और पराक्रम का परिचायक हैं।

'एहीं ठैयां झुलनी हेरानी हो रामा' में टुन्नु और दुलारी का प्रेम वैयक्तिक प्रेम तक सीमित न रहकर देशप्रेम में तब्दील हो जाता है। टुन्नु का अपनी प्रेमिका दुलारी को खादी की साड़ी भेंट करना तत्कालीन समय में चल रहे स्वाधीनता आंदोलनों की याद दिलाता है। 1921 ई. के काल को आधार बनाकर लिखी गई इस कहानी में विदेशी वस्त्रों के दहन और स्वदेशी वस्त्रों के अपनाने की बात कही गयी है। कहानी की शुरुआत में दुलारी टुन्नु के द्वारा दी है साड़ी को फेंक देती है। तत्पश्चात् साड़ी स्वयं उठाकर रेशमी साड़ियों के सबसे नीचे रख देती है। दुलारी एक वेश्या है। वह जानती है कि "पतित जीवन की अँधेरी घाटियों में पच्चीस वर्ष चक्कर लगा लेने के बाद अब दुलारी को यह समझने में तनिक भी देर नहीं लगी कि उसके शरीर के प्रति टुन्नु के मन में कोई लोभ नहीं है। वह जिस वस्तु पर आसक्त है उसका संबंध शरीर से नहीं, आत्मा से है।"[27] दुलारी का संबंध बनारस की वेश्या 'रसूलन बाई' से लगाया जाता है। स्वाधीनता आंदोलन में इन स्त्रियों की भूमिका भी अहम् होती थी। वस्त्रों के दहन के लिए लोग घूम-घूम कर विदेशी वस्त्रों का संग्रह कर रहे थे ताकि उनको जलाया जा सके। "एक बड़ी-सी चादर फैलाकर चार व्यक्तियों ने उनके चारों

कोनों को मजबूती से पकड़ रखा था। उसी पर खिड़कियों से धोती, साड़ी, कमीज, कुर्ता, टोपी आदि की वर्षा हो रही थी।...सहसा दुलारी ने अपनी खिड़की खोली और मैंचेस्टर तथा लंका शायर के मीलों की बनी बारीक सूत की मखमली किनारे वाली नयी कोरी धोतियों का बंडल नीचे फैली चादर पर फेंक दिया। चादर संभालने वाले चारों व्यक्तियों की आँखे एक साथ खिड़की की ओर उठ गयीं; कारण, अब तक जितने वस्त्रों का संग्रह हुआ था वे अधिकांश फटे पुराने थे। परन्तु यह जो नया बंडल गिरा उसकी धोतियों की तह तक नहीं खुली थी।"[28] यहाँ पर देशप्रेम की झलक दिखाई देती है। समूचा भारत इस आंदोलन में एक साथ खड़ा था। इसमें दुलारी जैसी स्त्रियों की भागीदारी भी कम न थी।

टुन्नु को अंग्रेजों ने मार गिराया, यह समाचार सुनते ही दुलारी अत्यंत व्याकुल हो गयी। उसने टुन्नु द्वारा दिए गये खादी की साड़ी को निकाला और अपने शरीर पर धारण किया। टुन्नु की लाश पर दृष्टि जमाये हुए दुलारी गा पड़ती है 'एही ठैयां झुलनी हेरानी हो रामा...कासों मैं पूछूँ ?...सास से पूछूँ, ननदियाँ से पूछूँ, देवरा से पूछत लजानी हो रामा ?' प्रेम का ऐसा उदात्त रूप काशी की वेश्या में ही देखा जा सकता है। 'बहती गंगा' में स्त्री के प्रश्न को बखूबी ढंग से उठाया गया है। चाहे वह 'एही पार गंगा ओहि पार जमुना' की गंगा हो जो अपने जीवन को आत्मसम्मान के साथ जीना चाहती है या 'इस हाथ ले उस हाथ दे' की सुधा जो एक आदर्श पत्नी के रूप में सामने आती है। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' का मुख्य पात्र रघुवीर नारी द्वेषी (विमेन हेटर) तो जरुर है परन्तु कहीं न कहीं उसके मन में स्त्रियों के प्रति प्रतिष्ठा का भाव भी है। इस कहानी में स्त्री से संबंधित कई प्रश्नों को सामने रखा गया है। रघुवीर का मित्र कहता है कि "वह जमाना गया कि औरतें पुरुषों द्वारा सताई जाती रहेंगी उनकी बेइज्जती होती रहे और सरम उनकी जबान न खुलने दे। यह समानता का युग है।"[29] जाहिर है आज बीसवीं सदी में स्त्रियाँ किसी भी मामले में पुरुषों से कम नहीं हैं। शिक्षा, रोजगार जैसे तमाम क्षेत्रों में उनकी भागीदारी बढ़ी है। रघुवीर

कुसुम से प्रेम करता है। वह अत्यंत मुखर है और सच्चाई को बड़ी ही मुखरता से व्यक्त भी करता है। वह कहता है कि "जब लड़कियाँ चमक-दमक, बनावट-सजावट, चलन और सभ्यता में यूरोप को आदर्श मानती हैं तो गौरव का इतना भारतीय भाव क्यों ? आधा तीतर और आधा बटेर, यह तो अच्छा नहीं।"[30] रघुवीर का इस प्रकार सोचना नारी के द्वैध पूर्ण स्थिति को उजागर करता है।

धर्म के नाम पर होने वाले दंगों का वर्णन 'राज-काज छनभंगु शरीरा' में किया गया है। कहानी की पात्र भिखारिन बताती है कि किस प्रकार धर्म के नाम पर दंगे भड़काये जाते थे। इसी प्रकार के दंगे में उसने अपने पति को खो दिया था। वह कहती है कि "श्री सीताराम का मंदिर टूटा, महंथ सीताराम ने गुहार मचायी और बाबू सीताराम लुट गये। बनारस में दो दिनों के लिए भूकंप आ गया, कितने ही नौनिहाल मिट्टी में मिल गये। अड़तालिस घंटे ऐसी आग जली कि मेरा सुहाग का चमन जल गया, मेरे अरमानों के फूल राख हो गये। उस बवाल को, उस जवाल को, उस तवारीखी हादसे को बनारस में राम-हल्ला कहते हैं।"[31] इसके साथ ही झींगुर के द्वारा उन पोगापंथी साधुओं पर कटाक्ष किया गया है जो बात-बात पर लोगों को श्राप देने लगते हैं। काशी में इस तरह के साधुओं की संख्या भी कम नहीं है। साधू के वेश में वह अनेक अनैतिक कार्यों में संलग्न रहते हैं। यह भारतीय धर्म और संस्कृति को गर्त में ले जाने का काम करते हैं।

काशी अध्यात्म की नगरी के रूप में प्रसिद्ध है। यहाँ चारों तरफ अध्यात्म की छटा दिखाई देती है। चूँकि अध्यात्म है तो इसके कारोबारी भी होंगे। काशी के पण्डे-पुरोहित अधिकतर धर्म के व्यापार का कारोबार ही करते दिखाई देते हैं। आम लोगों के जनमानस में धर्म का इतना महत्व है कि वह इन सब बातों को समझ ही नहीं पाते हैं। 'गली आगे मुड़ती है' उपन्यास में धर्म को अनेक रूपों में समझने का प्रयास किया गया है।

आमजन में धर्म की महती भूमिका है। वह राह चलते कोई भी पूजा स्थल हो या कोई पवित्र नदी मसलन गंगा, यमुना इत्यादि तो उनका सर अपने आप झुक जाता है। दोनों हाथ प्रणाम की मुद्रा में आ जाते हैं। गंगा जैसी पवित्र नदी के आते ही चढ़ावे के रूप में सिक्कों की बौछार होने लगती है। मान्यता यह है कि एक दोगे तो हजार वापस मिलेगा। ऐसी ही मान्यता के चित्र उपन्यास में दिखाई देते हैं। "गाड़ी अब भी लड़खड़ा रही थी। तभी एक साथ डिब्बे में बैठे मुसाफिर चिल्लाये--- "बोलो, बोलो गंगा मइया की जै, बाबा विश्वनाथ की जै ?" भेड़ कहीं के। आधे पुल तक सब चुप थे। एक बोला तो सब बोले।...तभी झन्न-झन्न कुछ पैसे पुल की मेहराबों से टकराकर गंगा में जाने से रह गये। कुछ के गये भी। पर खुश सब थे। पानी को पैसा चढ़ गया। गंगा को एक सिक्का भेंट कर दिया। वह काहे के लिए ? और इतनी खुशी क्यों ? गंगा शायद रिजर्व बैंक है, कभी लौटाती होगी अमानत...।"[32]

बनारस का अपना सौंदर्य है। गंगा के किनारे धनुषाकार रूप से बसा यह शहर अपनी खुद की मस्ती का दीवाना है। शिवप्रसाद सिंह 'गली आगे मुड़ती है' में इसी बात की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि "बनारस भी क्या अदा से बसा हुआ शहर है। गंगा को धनुषाकार होना था तो यहीं क्यों हुई; और यदि हुई ही तो उसने अपने सारे मरोड़ को एक शहर में क्यों बदल दिया ? इसे देखकर लगता है जैसे कोई तपस्वी कुमारी अपनी बलखाती कमर पर संस्कृति का कलश धरे चली जा रही है। हाय, यह छत्राकार ज्योति कितनी शाश्वत और अमर है !...ऋषि इसे देखकर पागल हो गया था।...वह तपाक से बोला "जल के ऊपर छत्राकर फैली वह कौन-सी ज्योति है जो प्रलय में सारी धरणी के निमग्न हो जाने पर भी ज्यों-का-त्यों बनी रहती है।" मेरी आँखों के सामने झुंड-के-झुंड संन्यासी-साधु खड़े हो जाते हैं। जो इस सवाल को सुनकर एक क्षण मौन रहते हैं, फिर समवेत स्वर में चिल्ला उठते हैं, बनारस ! बनारस !! बनारस !!!..गुड मार्निंग डियर बनारस...!"[33] आगे बनारस को

परिभाषित करते हुए उपन्यास के मुख्य पात्र रामानंद तिवारी कहते हैं कि "सामने गंगा की धार थी। गंगा पंचगंगा घाट आकर अपने कर्वेचर की इंतहा पर पहुँच जाती है। इसीलिए कभी कहा गया कि पंचगंगा के मध्मेश्वर से खड़े होकर देहली विनायक जो सुदूर पश्चिम में पंचकोशी रास्ते के मध्य पड़ता है, यदि एक रेखा खींच दी जाये तो यह लंब होगा और आदिकेशव से कर्मदेश्वर शिव तक की दूसरी आड़ी रेखा को काटती हुई जिस क्रास का निर्माण करती है उसकी परिधि ही वह अविमुक्त क्षेत्र है जिसे वाराणसी कहा जाता है और इसे शिव प्रलय काल में भी नहीं छोड़ते।..."[34] यह है बनारस की पूरी भौगोलिक रूपरेखा जिसके बीच यह शहर आकार लेता है। बनारस के बारे यह मिथक सर्वमान्य है कि यह शिव की नगरी है और प्रलय के साथ भी शिव इसे छोड़कर नहीं जाते हैं। इस बात पर सहमत और असहमत हुआ जा सकता है। काशी के सौन्दर्य का एक दूसरा उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है। रामानंद तिवारी गंगा के घाट के किनारे बैठा काशी को देख रहा है। "मैं कच्चे घाट पर बैठ गया। पीछे की प्रकृति शांत थी, खेत शांत थे। हल्का-हल्का कुहरा नदी के वक्ष पर तैर रहा था। मैंने आज थोड़ी दूर से काशी को देखा। कुहरे की कल्कि जालीदार चादर में लिपटी काशी किसी राजवधू की तरह अधलेटी थी। घाटों पर जलती कंदीलें-कुमकुमें आभूषण की तरह जगमगा रहे थे। धारा में उड़ता चक्रवाक पक्षियों का दल क्रेंक-क्रेंक की आवाज करता सन्नाटे को तोड़ रहा था।"[35]

गंगा के स्वरूप का वर्णन भी उपन्यास में किया गया है। चूँकि काशी गंगा के किनारे बसा हुआ शहर है अतः गंगा और काशी दोनों मिलकर एकमेक हो जाते हैं। गंगा की पवित्रतता तो जगत प्रसिद्ध है ही। रामानंद तिवारी उपन्यास में गंगा के बारे में कहता है कि "सुबह के अंधेरे में गंगा कितनी खूबसूरत लगती है ! कुछ हलकी लहरें उठने लगी थीं। पानी में हरकत हो रही थी। बड़ी प्यारी-प्यारी प्रभाती की आवाज- जैसे थिरकन किनारों पर झनझना रही थी। रामनगर की तरफ का पूर्वी आकाश हल्का ललछौंहा होने लगा था; पर

यह लाली काफी स्याह थी। इसकी छाया से गंगा का रंग कोई खास नहीं बदला। इसे सिर्फ गोर-उजले गालों पर भद्र मजाक से उठने वाली छुवन भरी लाली कह सकते हैं। सिंदूरी रंग में ढेर-सा सफेदी मिला देने पर जैसा रंग होता है, कहना चाहो तो इसे 'लाल ऐश कलर' कह लो; पर इस हल्के सिंदूरी रंग में बीच का पानी अपनी एक अलग लीक बनाने लगा था। गंगा अब सजीव मंजर थी, मल्लाह ठीक ही कहते हैं कि गंगा मैंया बारह बजे सो जाती हैं, तब पानी थिर हो जाता है, चार बजे उनके जागने के बाद ही धोने-नहाने का काम करना चाहिए।"[36] यहाँ पर गंगा के प्रातःकाल का चित्र खींचा गया है। प्रायः आमजन में यह मान्यता है कि गंगा में रात्रि 12 के बाद स्नान आदि क्रिया नहीं करनी चाहिए। यह वह समय है जब गंगा विश्राम करती है। सुबह चार के बाद ही इसमें हलचल करना चाहिए। इस तरह की मान्यताएं आज बीसवीं सदी में भी व्याप्त है।

काशी में पंचगंगा घाट के मिथक को उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है' में स्पष्ट किया गया है। प्रायः यह मान्यता है कि इस घाट का नामकरण पाँच नदियों के संगम होने के कारण पंचगंगा पड़ा। पंचगंगा घाट के मिथक को बताते हुए कहते हैं कि "किसी जमाने में वेदशिरा नाम के मुनि थे। उन्हें एक दिन अद्भुत रूप वाली अप्सरा दिख गयी। मुनि उस पर रीझ गये। नतीजा हुआ एक लड़की का जन्म, जिसे पिता ने धूतपापा नाम दिया। वह अनुपम सुन्दरी युवती के रूप में, किसी युवक को पाने के लिए तपस्या करने निकली। स्वयं धर्मराज उस त्रिभुवन-मोहिनी पर आकृष्ट होकर आये, किन्तु जल्दबाजी करने के कारण शापग्रस्त हो गये। धर्मराज फिर क्षमा क्यों करें। उन्होंने युवती को शाप दे दिया। धूतपापा नदी हो गयी। धर्मराज हुए धर्मानंद महानद। एक और युवती थी चन्द्रकान्ता मणि की तरह, नाम था किरण, वह भी चन्द्रमा के संस्पर्श से नदी में बदल गयी थी। इन तीनों के बीच एक अज्ञात सरस्वती भी हुआ करती थी, जहाँ धर्मराज हों, ऋषि-पुत्री धूतपापा हो, मंगला गौरी की प्रसाद से पवित्र किरण हो, वहाँ सरस्वती कैसे नहीं आतीं ! सो गंगा के

साथ ये चार नदियाँ बनीं पंचगंगा।"[37] इस तरह के मिथक धार्मिक ग्रंथों, पुराणों, वेदों आदि में वर्णित है। वैज्ञानिक दृष्टि की अगर बात करें तो यह सारे मिथक अपने-आप खंडित हो जाते हैं। लेकिन एक व्यापक जन-मानस इस तरह की वैज्ञानिक दृष्टिकोण को नहीं अपनाता है। वह इन्हीं मिथकों में जीना चाहता है। यही मिथक उनके आत्मसंबल हैं जिसके सहारे वह अपनी पूरी जिंदगी काट देता है। वह मिथकों को अपने जीवन का हिस्सा बना लेता है।

इसी पंचगंगा घाट पर तैलंग स्वामी की मूर्ति भी स्थापित है। इसके बारे में यह प्रचलित है कि वह बड़े ही चमत्कारिक व्यक्ति थे। जमुनादास रामानंद से बताता है कि "मैं गंगा नहाकर एक विशाल, काली, भयानक और बेडौल मूर्ति के पास रोज बैठता। मुझे इस मूर्ति में अजीब चुम्बक-सा आकर्षण लगता।"

"किसकी मूर्ति थी वह ?"

"तुमने देखी नहीं रामजी, तैलंग स्वामी की मूर्ति।"

"देखा है, के. 2/95, वही न ?"

"तुम नंदू भइया, पहले जन्म में जरुर से मर्दुमशुमारी के अफसर रहे होंगे। मैं बीसयों बार गया हूँगा तैलंग स्वामी मठ में, पर मैंने मकान का नंबर कभी नहीं देखा। जो हो, मैं वहीं मूर्ति के सामने बैठकर रोया करता। बाबा के बारे में बड़ी-बड़ी चमत्कारिक कहानियाँ प्रचलित थीं। मैं भी सोचता था की काश, मेरे भीतर भी ऐसी ताकत आ जाती कि मैं जहर पीकर पचा सकता ! बाबा ने पाँच सेर खौलता हुआ चूना पी लिया था।"

"खौलता हुआ चूना ?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

“हाँ भाई खौलता हुआ चूना ! उनका वजन तीन सौ पौंड था रामजी और वे गंगा में लकड़ी की तरह घंटों उतराये पड़े रहते। अक्सर भोजन नहीं करते। जब तट पर आते तो भक्त लोग दूध लेकर दौड़ते। सेरो दूध वह एक बार में पी जाते। एक आदमी ने उन्हें पाँच सेर पत्थर चूना घोलकर दे दिया।”

“राम, राम कितने नीच होते हैं लोग ! यह शहर भी अजीब है जमुना। यहाँ बुझी लुकाठी के पीछे जूलूस बनाकर उसका कीर्तन करने वाले हजारों हैं; पर सत्य की चिनगारी को सहने की क्षमता वाले बहुत कम हैं।”[38] इस तरह के तमाम मिथक और चरित्र काशी में मिल जाते हैं। काशी ही क्यों देश का कोई ऐसा हिस्सा नहीं है जहाँ ऐसे मिथक और अद्भुत चमत्कारिक व्यक्तियों का विवरण न मिल जाए।

काशी ने कुछ ऐसे चरित्रों की सृष्टि की है जिनसे जीवन में कुछ प्रेरणा ली जा सकती है। ‘सत्य’ बोलने की सीख हमें सत्य हरिश्चंद्र से मिलती है। सत्य बोलना और हमेशा सच्चाई का साथ देना ही जीवन का चरम उद्देश्य होना चाहिए। परन्तु आज इस नैतिक मूल्य का कोई महत्व नहीं रह गया है। रामानंद तिवारी को “आज हरिश्चंद्र की प्रतिमा पर निहायत गुस्सा आ रहा है। “राजर्षे ! तूने यह क्या किया ! सत्य की ऐसी अद्भुत परीक्षा दी कि देवता, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व सभी आश्चर्यचकित रह गये। बार-बार अपने कड़वे और तीखे शब्दों से तुम्हारे कलेजे को लहू लुहान करने वाले विश्वामित्र भी प्रसन्न थे। जब इन्द्र ने कहा कि राजन, तुम अपनी पत्नी और पुत्र के साथ सदेह स्वर्ग यात्रा करो, उस स्वर्ग की जिसे तुमने अपनी अद्भुत कर्मनिष्ठा से प्राप्त किया है--उस समय तूने अपने प्रति श्रद्धा रखने वाले सभी लोगों के लिए स्वर्ग में जगह माँगी। इन्द्र तो बार-बार असमर्थता जाहिर कर रहा था, पर तू अड़ा रहा कि नहीं, तुम्हारे सभी अनुयायी, परिजन, पुरजन, तुम्हारे साथ ही स्वर्ग जायेंगे। इन्द्र तैयार नहीं हुआ तो तुमने यहाँ तक कह दिया कि यदि मेरे अनुयायी

मेरे साथ स्वर्ग नहीं जा सकते तो हे इन्द्र, आप लौट जाएँ, मैं उनके साथ नरक जाने को तैयार हूँ।

"काश राजन ! तुम और तुम्हारे अनुयायी इस नरक में ही रह गये होते। काश तुम सबके साथ पृथ्वी छोड़कर स्वर्ग जाने की इच्छा से अपने को मुक्त कर लेते !-- तो शायद यह भूमि केवल एकमात्र झूठे और खुशामिदों का ही स्थान न रखती।"[39] इस मिथक को बड़ी ही सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है। आज सच्चाई का कोई मूल्य नहीं रह गया है। चारों तरफ झूठ, मक्कारी और खुशामिदों का ही बोल-बाला है। जीवन में जोड़-तोड़ की राजनीति एक अनिवार्य अंग बनती जा रही है। सत्य बोलने वाले हरिश्चंद्र की तरह दर-दर ठोकर खाते रहते हैं। आदर्श जीवन मूल्यों का ह्रास हो रहा है और उनके स्थान पर ठीक इसके विपरीत तत्व हावी होते जा रहे हैं। रामानंद की परिकल्पना कि काश ऐसा न होता तो जीवन कितना सुन्दर होता, निरर्थक हो गयी है।

धर्म से काशी का अद्भुत संबंध है। धर्म की शरणस्थली में जाकर लोगों को मानसिक तृप्ति मिलती है। उपन्यास का नायक रामानंद तिवारी को भी दुर्गामंदिर में जाने पर मानसिक तृप्ति मिलती है। वह कहता है कि "सामने दुर्गामंदिर था। मैंने जूते निकाले और भीतर हेल गया। मंदिर को बुरी तरह से गन्दा कर देते हैं, परिक्रमा के पत्थर टूट-फूट गये हैं। मैं यहाँ अक्सर आया हूँ। शायद अम्मा ने बचपन में जो कहानी सुनाई थी, वह मेरे रक्त के कीटाणुओं में घुल-मिल गयी है। जब कभी कष्ट पड़ता है दुर्गा याद आती है। देबू कहता है कि तुम अन्धविश्वासी हो। धातु-पत्थर के मूरतों के आगे माथा नवाने से कुछ नहीं मिलेगा। मैं देबू का प्रतिवाद नहीं करता। आप मुझे गलत न सोचें। मैं किसी की सलाह को माथा टेककर मान लूँ, ऐसा नहीं है; पर कुछ विषय ऐसे हैं जिसमें बहस अच्छी नहीं लगती। अब मैं कैसे बताऊँ कि पिछले दो वर्षों में अनेक बार जब भी मन को ठेस लगी, चित्त चंचल हुआ, बुद्धि विकल हुई, मैंने इस मंदिर में शांति पायी है।"[40] प्रायः धर्म जैसे

विषयों पर कोई बहस नहीं करना चाहता है। इसे आस्था और श्रद्धा से जोड़कर देखा जाता है। व्यक्ति जब हर कहीं से टूटता और बिखरता है तो वह ईश्वर के शरण में जाता है। वहीं उसे शांति मिलती है। वह उसी ईश्वर से अपने गिले-शिकवे कहता है। रामानंद तिवारी भी दुर्गा से ही अपनी शिकायत करता है। वह कहता है कि "माँ, तूने महासुरेन्द्र चंद्रमुंड का वध किया होगा। मैं जानता हूँ, जानता नहीं, सुनता रहा हूँ कि वज्र-पंजर स्तुति करने वाले को कोई क्लेश नहीं होता, वह असफल नहीं होता। कोई मानसिक पीड़ा नहीं होती। इस कवच को धारण करने वाला यम से भी नहीं डरता...। पर माँ, मैं आज अपनी छाया से ही डर रहा हूँ। अपने पीछे पड़ी अनामंत्रित कृत्या से तू भी मेरा उद्धार नहीं कर सकती ? क्या यह कृत्या मेरे कृत्यों का परिणाम है ? क्या मैंने जो कुछ किया था, उसी का वह ठीक-ठीक न्यायतः फल मिला है ? या मेरे दो वर्षों के खून-पसीने सने परिश्रम का यही नतीजा है...? तू मौनी है, मौनावालम्बी है, ठीक भी है, उसी में तेरा महात्म्य है। इसी से तेरी शक्ति का पर्दाफाश बचा रहेगा..बचा रहे..."[41] लोग इसी तरह के सम्बन्धों में अपना पूरा जीवन अर्पण कर देते हैं। ईश्वर के रागात्मक संबंध, मान-मनुहार उनके जीवन का एक अनिवार्य सा अंग हो जाता है।

काशी में जब-जब अध्यात्म के खण्डन की बात की गयी तो खण्डन करने वाले लोगों को पराजय का सामना करना पड़ा है। उपन्यास में धर्म के खण्डन की बात तो कम है परन्तु एक-दो जगहों पर इसकी चर्चा अवश्य हुई है। स्वामी दयानंद मूर्तिपूजा के विरोधी थे और इसी संबंध में उनका शास्त्रार्थ बनारस के पंडितों से हुआ था। "मेरे मन में छिपे उन्मत्त भैरव ने कहा : जानते हो तुम, जिस चबूतरे पर बैठे हो, वह क्या है ? नहीं जानते न ? यह दयानंद की पराजय की निशानी है। इसी स्थान पर दयानंद का काशी के ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ हुआ था। एक ब्राह्मण ने बिलकुल नकली आर्ष वाक्य बोलकर पूछा –'महाराज उपनिषद के इस वाक्य में तो साफ-साफ मूर्तिपूजा का समर्थन किया गया है ?"

'नकली को असली बनाने की कला में यह नगर विख्यात है। नंदू तिवारी, स्वामी दयानंद एक क्षण के लिए मौन हो गये। उनका मन कह रहा था कि यह वाक्य उपनिषद का नहीं है, पर झूठ भी जब हृदय की निर्भीक आन्तरिकता में डूबकर कहा जाता है, ऋषि के लिए भी उसे इनकार कर पाना कठिन हो जाता है। जब तक दयानंद निर्मम होकर कहते कि यह उपनिषद का वाक्य नहीं है तब तक समवेत कंठ से 'हर-हर महादेव' की आवाज उठी और काशिराज ने दयानंद की पराजय की घोषणा कर दी।"[42] चूँकि दयानंद सरस्वती ने इस तरह के मिथ्या-आडम्बरों के खिलाफ में आवाज उठायी थी। उनका मानना था कि तत्कालीन धर्म तमाम तरह के मिथ्याचारों की वजह से दूषित हो गया है। इस तरह के विचार को काशी के पंडित क्या स्वीकार कर पाते ? इसीलिए काशी के पंडितों ने धूर्तता का सहारा लेकर दयानंद को पराजित कर दिया। यह पराजय एक सत्य की पराजय थी और असत्य की जीत हुई।

'नकली को असली बनाने की कला में यह नगर विख्यात है'- यह वाक्य काशी की उस विशेषता की ओर संकेत करता है जिसके लिए भी वह जगत्प्रसिद्ध है। बनारस के ठगों और गुण्डों की चर्चा आमबात है। उपन्यास में एक स्थान पर इसकी चर्चा हुई है- "अजब शहर है साला ई भी। सामने एक खोमचा वाला निकला। सोचा मूंगफली खायें, पाकेट में हाथ डाला तो बैग ही गायब।"[43] इस उपन्यास में एक दूसरा प्रसंग भी है जिसमें जातक के माध्यम से काशी के राजा को धूर्त बताया गया है। " "काशीराज का घोड़ा ?" तो तुम शायद यह कहानी नहीं जानते हो ? जातक में एक कहानी आती है। एक बार उत्तरापथ के कुछ व्यापारी अच्छे किस्म के घोड़े लेकर काशी आये। उन्होंने काशी के राजा को वह घोड़े दिखाये। घोड़े बहुत अच्छे थे, इसलिए दाम भी ऊँचा था। राजा ने एक चाल चली। उसने रात को एक कटहा घोड़ा व्यापारियों के घोड़ों के बीच छुड़वा दिया। अब क्या था, उस घोड़े ने कुछ घोड़ों को काटा और घोड़ों में दंत-कटौवल चल पड़ी। सुबह व्यापारियों ने देखा कि

सभी घोड़े दागदार हो गये हैं तो उन्होंने बहुत कम दाम पर सभी घोड़े काशिराज को बेच दिये।"[44] इससे स्पष्ट होता है कि काशी और ठगों का संबंध काफी पुराना है। इसी संबंध में धर्मशील चतुर्वेदी लिखते हैं कि "सुप्रसिद्ध कवि हेमचन्द्र ने लिखा- वाराणसी ठगांना स्थानं। वाराणसी मुख्य नदी मार्ग तथा राजमार्ग पर अवस्थित जनपद रहा है। व्यावसायिक सम्पन्नता का भी उल्लेख मिलता है। जीवन भर का संचित धन लेकर काशीवास करने वाले भक्तों तथा व्यापारियों का आवागमन सामान्य बात थी। इसलिए ठगों की निगाह में यह एक अच्छा खासा चारागाह था। मध्य-प्रदेश, दिल्ली तथा दक्षिण भारत में जब ठगों के विरुद्ध व्यापक जन अभियान चलाया गया तब वे भागकर बनारस में शरण लेने के लिए गिरोह में आये। नृशंसता जैसे निंदनीय कर्म तो यहाँ नहीं चले लेकिन मोक्ष तथा मृत्यु की कामना से यहाँ आने वालों का सबकुछ लूटकर उन्हें मौत के घाट उतार देने का धंधा था।"[45] यह है ठगों का सामाजिक और आर्थिक सर्वेक्षण जिसका काशी के संबंध में ऐतिहासिक महत्व है। काशी के मठों में अपनी सत्ता जमाये मठाधीशों के चरित्र पर भी प्रकाश डाला गया है। चाहे वह राजेश्वर मठ के पुजारी रामकीरत दास हो या होटल फिलाडेल्फिया के मालिक बक्कड़ गुरु, दोनों धर्म के आड़ में गलत धंधा करते हैं। रामकीरत दास मंदिर के एकमात्र पुजारी हैं। उनका स्त्रियों के साथ अवैध संबंध है। वह मठ को अपनी निजी संपत्ति समझता है। बल्कि यह कहना चाहिए कि स्वयं पुजारी के छोले की आड़ में गुण्डा है। रामानंद तिवारी को किराया का पैसा नहीं देने पर रामकीरत दास कहता है कि "देखो बबुआजी, बनारस में रहते तीस-बत्तीस साल हो रहे हैं, हमने यहाँ खाली मंदिर की सफाई और ठाकुर की आरती ही नहीं की है। कुछ और भी किया है नंदू पंडित...!"[46] यह आज के साधु-संन्यासियों का चरित्र है। बीसवीं सदी के भारत में इस तरह के चरित्रों का और भी चारित्रिक पतन हुआ है।

काशी के सौंदर्य का अभूतपूर्व वर्णन किया जाता रहा है लेकिन उसके दूसरे पहलू पर किसी का ध्यान ही नहीं गया। एक दूसरा समाज भी काशी में निवास करता है जिसका काम भीख मांगना और यहीं काशी के घाटों पर सो जाना बदा है। रामानंद तिवारी के शब्दों में "मैं डोंगी में बैठा देख रहा था : गंगा का अपरंपार पाट। दायें तट पर फैली वृक्ष-पंक्ति की श्यामलता और वहाँ तक फैली हलके सिंदूरी रंग का अबाध विस्तार। जैसे किसी हलके-फुल्के मन के चित्रकार ने अपने ब्रश से हाथ की थकान मिटाने के लिए रंग इधर-उधर फैला दिया है। बायें तट पर काशी के घाट और शिवाले और महल कितने जड़ लगते हैं ! आनंदमयी माँ के गोपाल मंदिर के सुडौल लम्बे वर्तुल कलश पर कबूतर मंडरा रहे हैं। फ्रांसीसी कलाकार की कल्पना में काशी और कबूतर हैं, हिन्दुस्तानी कलाकार की कल्पना में भींख मांगकर खाना और सीढ़ियों पर सो जाना बदा है।"[47] यह एक भारतीय कलाकार की कल्पना में ही हो सकता है। उसे अपने समाज की उन अंदरूनी तत्वों की गहरी पहचान होती है जिसके माध्यम से वह सही और सटीक चित्र खींच सकता है। बनारस के घाटों और सीढ़ियों पर तमाम ऐसे लोग मिल जायेंगे जिन्हें दो वक्त की रोटी भी नसीब नहीं हो पाती है। बनारस के वैभव के गुणगान में इन बातों को भुलाया नहीं जा सकता है जो हमारे समाज का जटिल यथार्थ है।

प्रायः यह मान्यता है कि काशी में मृत्यु का वरण करने वाला व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त होता है। अतः देश-विदेश से लोग मोक्ष प्राप्ति के लिए, काशी में मरने के लिए आते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि काशी में मृत्यु का कारोबार चलता है। चूँकि मृत्यु है तो श्मशान भी होगा। "बनारस के श्मशान भी तीन हैं- मणिकर्णिका तथा हरिश्चंद्र घाट, कर देकर मृत्यु कर्म के लिए अनुमति देने वाले घाट हैं। सामने घाट के पहले एक मुर्दहवा घाट भी है जहाँ बिना कर दिए मृत्यु कार्य सम्पन्न हो जाता है। जैसे मणिकर्णिका अघोरियों से सम्बद्ध है, उसी तरह हरिश्चंद्र घाट कीनाराम अघोरी के गुरु कालूराम सहित अनेक

अघोरियों का घर है। इसी हरिश्चंद्र घाट की शव जलने के बाद बची हुई लकड़ी से 'क्रीकुंड' की धूनी दिन-रात जलती रहती है।"[48] प्रायः यह मान्यता है कि मणिकर्णिका घाट पर किसी का भी अंतिम संस्कार करने से वह सीधे स्वर्ग चला जाता है। डॉ. तुलसीराम अपनी आत्मकथा 'मणिकर्णिका' में इसकी उत्पत्ति और यहाँ होने वाले कारोबार का बड़ा सटीक वर्णन किया है। वह बताते हैं कि "यह भी कहा जाता है कि शिव की पत्नी पार्वती के कानों में पहनी जाने वाली मणि इसी जगह गंगा में खो गई थी, जिसके कारण इस घाट का नाम मणिकर्णिका पड़ा। इस घाट पर सदियों से जलती चिताएं कभी नहीं बुझीं। अतः मृत्यु का कारोबार यहाँ चौबीसों घंटे चलता रहता है। सही अर्थों में मृत्यु बनारस का एक बड़ा उद्योग है। अनगिनत पंडों की जीविका मृत्यु पर आधारित रहती है। सबसे ज्यादा कमाई उस डोम परिवार की होती है, जिससे हर मुर्दा मालिक चिता जलाने के लिए लकड़ी खरीदता है। यह डोम परिवार उस पौराणिक कथा का अभिन्न अंग बन चुका है, जिसमें उसके पूर्वजों के हाथों कभी राजा हरिश्चंद्र बिक गये थे। डोम के गुलाम के रूप में राजा हरिश्चंद्र की नियुक्ति मुर्दाघाट की रखवाली के लिए की गई थी। एक घाट आज 'हरिश्चंद्र घाट' के रूप में भी जाना जाता है। इसी मान्यता के कारण लोगों का विश्वास है कि जब तक उस डोम परिवार द्वारा दी गई लकड़ी से चिता नहीं सजाई जाएगी, तब तक स्वर्ग नहीं मिलेगा।"[49] इस प्रकार इन श्मशानों पर दिनरात चिताएं जलती रहती हैं। इसका बहुत ही सटीक चित्रण उपन्यास में किया गया है। वह लिखते हैं कि "श्मशान एक विचित्र जगह है। यह सब-कुछ को अपने मुँह में लील जाता है। कभी-कभार आने वालों को यह डरावना, चिरायंध गंध से भरा बीभत्स लगता है, पर यहाँ पर दिन-रात काम करने वाले मजदूरों, माझियों, धोबियों, डोमों से पूछिये, वे कहेंगे कि उनके शरीर में पड़ वस्त्र की तरह यह उनके लिए अपरिहार्य है। हम लोग हरिश्चंद्र मंदिर के चबूतरे पर बैठ गये थे। शाम हो गयी थी। गंगा के किनारे चिता जल रही थी। बूढ़े दद्दू चमकती लपटों के सामने निर्विकार भाव से खड़े थे। पुत्र से 'दाह' किये जाने की अंतिम कामना रखनेवाला बूढ़ा पुत्र को 'दाह' देकर चिता में रख चुका

था। पुरवा का जरा सा झोका सारे धुएं को मंदिर की ओर मोड़ देता है। आँखे कड़ुवाती और नमकीन आंसुओं से होंठ भींग जाते।"[50] इन्हीं कारणों से काशी को महाश्मशान भी कहा जाता है।

भाँग की संस्कृति को काशी की संस्कृति का अंग माना जाता है। भाँग पीकर मस्त रहना यहाँ के अधिकांश लोगों का स्वभाव है। टुन्नन गुरु उसी संस्कृति के वाहक हैं। "टुन्नन गुरु ने भाँग का गोला बना लिया था। बगल में दूध और जलेबी धरी थी। उन्होंने गोला निगला और बोले, "तू क्या जानेगा छोकरे, ई गोला नहीं है, भवानी है, भवानी ! गणेशी महाराज होते तो उनको सुनाता। न हो तो तू भी सुन ले, हाँलाकि पात्र नहीं है तू इसका। हमारे गुरु कह गये हैं कि कुपात्र को कभी मंत्र मत दो, पर गणेशी महाराज के नाम पर सुनाये देता हूँ तुझे।" पंडा जी ने सीधे गले से लगाया :

भीजत है जब रीझत है, और धोय धरी सब के मनमानी।

साफी सफा कर लौंग इलायची घोंट के त्यार करी रसघानी।।

संकर आय बिसम्भर ने जब ब्रह्म कमंडल के जल छानी।

गंग से ऊँची तरंग उठै जब हिर्दे में आवत भंग भवानी।।"[51]

यहाँ भाँग को भी ईश्वर के प्रसाद के रूप में ही ग्रहण करते हैं।

विभिन्न संस्कृतियों के समिश्रण का चित्र 'गली आगे मुड़ती है' में खींचा गया है। बंगला संस्कृति, गुजराती संस्कृति, भोजपुरी संस्कृति इत्यादि का विस्तृत वर्णन किया गया है। "उपन्यास के अंदर विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय करने में लेखक को अद्भुत सफलता मिली है। काशी में गुजराती, मराठी, बंगाली, राजस्थानी, सिन्धी, मुस्लिम, बिहारी, नेपाली एवं विदेशी सभी वेशभूषा, खान-पान, रहन-सहन, नृत्य, गीत, साहित्य, सबका न केवल

विवेचन हुआ है अपितु उनके बीच तादात्म्य स्थापित कराया गया है। हिन्दुओं की रामलीला, बंगालियों की दुर्गापूजा और गुजरातियों के गरबा-नृत्य की योजना एक साथ की गई है और यह महान कार्य गणेश तिवारी के वंशज रामानंद के जरिये होता है।"[52] इन्हें कुछ उदाहरणों के द्वारा समझा जा सकता है। "शारदीय नवरात्र के लिए अक्सर बंगाल और वहाँ भी खास तौर से कलकत्ते का नाम लिया जाता है। पर जिसने बनारस की दुर्गापूजा देखी है वह साक्षी देगा कि भाव, ज्योति और नृत्य की जो त्रिवेणी यहाँ बहती है; वह अन्यत्र कहीं शायद ही दिखे ! बंगालियों का दुर्गा-उत्सव, हिंदी भाषियों की रामलीला और गुजरातियों का गरबा का ऐसा संमोहक संगम कहीं नहीं मिलेगा।...उस दिन सप्तमी थी। दुर्गा प्रतिमाएं खड़ी हो गयी थीं और भेलूपुर से लेकर रामकृष्ण मिशन तक सोनारपुरा चौमुहानी से पीली कोठी तक और हरिश्चंद्र घाट की चौमुहानी से लेकर श्मशानघाट तक रंग-बिरंगे बिजली के लट्टूओं का जाल सड़कों पर सलमे-सितारों जड़े नील चंदोवा की तरह छा गया था। हरिश्चन्द्र घाट के सामने की मेन सड़क पर की चौमुहानी अद्भुत सौंदर्य के साथ समूची ज्योति-स्पर्धा को पछाड़ रही थी।"[53] रातभर रामलीला चलती है। पूरा काशी सौंदर्य के सागर में गोते लगा रहा होता है। "आजकल काशी की सड़कों पर गुलाब खेड़ी, गुड़ की पट्टी, रामदाने के लड्डू और मूंगफली बेचने वालों के ठेले सुनसान सड़क पर अपनी डिबरियों की नयी दीप-पंक्ति बनाते नजर आयेंगे। नवरात्र में काशी सचमुच देवनागरी बन जाती है। कंधों से कंधें छिलने लगते हैं। सौंदर्य का प्रकाशन है, विक्रय है, विनिमय है और न जाने क्या-क्या है जिसके कीचड़ को अपने गर्भ में छिपाए गंगा वैसे ही बहती चली जा रही है।..."[54] गुजराती संस्कृति और गरबा का मनमोहक चित्र भी उपन्यास में प्रस्तुत है। "तभी मंडप में बाहर गुजराती लड़कियाँ करीब-करीब एक ही ऊंचाई की, सभी सिंदूरी साड़ी और उसी के मेल की गहरे बादामी रंग का ब्लाउज पहने सर पर गेंडुर में गरबी धरे मंडप में प्रविष्ट हुईं। उनके आगे-आगे किरण थी। वह सचमुच केसरिया पहनकर मीरा-जैसी लग रही थी। उसका भी ड्रेस था, सिर्फ अंतर यह था कि उसने गरबी की जगह अपने शीश पर

सहत्र छिद्रोंवाला कोरेला गरबा उठा रखा था।"[55] इस तरह का पूरा कार्य-कलाप काशी की एक प्रमुख विशेषता है। विविध समिश्रण से बना है काशी। काशी में अनेक संस्कृतियों के दिपपुंज प्रकाशित होते रहते हैं। इसलिए काशी को विविध संस्कृतियों का समुच्चय कह सकते हैं।

काशी का अध्यात्म, वहाँ की संस्कृति, मिथक आदि के अनेक रूप उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है' में दिखाई देते हैं। अधिकांश रूप से इस उपन्यास में काशी की अमूल्य धरोहर को सहेजने औए संवारने का काम किया गया है। परन्तु एकाध जगहों पर धर्म, संस्कृति और मिथकों के उपर कटाक्ष भी किया गया है। बीसवीं सदी में काशी का स्वरूप वही नहीं रह गया है, उसमें कुछ परिवर्तन भी हुआ है। उन परिवर्तनों को पहचानने की जरुरत है तभी काशी का सही रूप में मूल्यांकन संभव है।

प्रारम्भ से ही भारतीय संस्कृति मौलिकता और एकता की परिचायक रही है। वास्तव में "हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।"[56] 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास में काशी की हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के समन्वयात्मक रूप का बखूबी वर्णन किया गया है। काशी की संस्कृति में मेलों का विशेष महत्व है। चूँकि उपन्यास में बुनकरों के रूप में विशेष रूप से मुस्लिम समाज का चित्रण किया गया है इसलिए मुस्लिम संस्कृति में मेलों की महत्ता को भी उपन्यासकार ने स्थान-स्थान पर उद्घाटित किया है। एक प्रसंग चंदन शहीद के मेले का है। "यह मेला हर साल चैत महीने के प्रत्येक बृहस्पतिवार को लगता है। गंगा और वरुणा के संगम पर एक मजार है जो चंदन शहीद के नाम से मशहूर है।...बसंत कॉलेज के भीतर से चलकर, ढाल उतरते बायीं ओर मुड़ जाइए तो चंद पेड़ों के झुरमुट में एक मस्जिद दिखाई पड़ेगी। चंदन शहीद का मजार उसी मस्जिद के पास है। वैसे तो हर बृहस्पतिवार को यहाँ भीड़ होती है और बारिश के दिनों में तो यह

स्थान एक सैरगाह ही बन जाता है, पर इन दिनों यहाँ बुनकरों का मेला लगा हुआ है। मर्द, औरतें, बूढ़े, जवान, बच्चे सभी चंदन शहीद की ओर भागे जा रहे हैं।"[57] मेले का अर्थ केवल मनोरंजन नहीं है बल्कि यह सामाजिक जनसमूह के लिए एक ऐसा स्थान भी है जहाँ लोग आपस में मिलते हैं, अपने दुख-सुख को साझा करते हैं और भविष्य की योजनाओं पर सलाह मशविरा करते हैं। उपन्यास में मतीन भी मेले के अवसर पर अन्य गाँव से आये लोगों और कम जान पहचान वालों के समक्ष सोसाइटी बनाने की बात रखना चाहता है तथा उनकी भी राय लेना चाहता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे मेलों के जरिये सांस्कृतिक एकता और एकजुटता को बढ़ावा मिलता है।

उपन्यास में एक स्थान पर काशी में 'गाजी मियाँ के बियाह' का वर्णन किया गया है। "बनारस में यह मेला जेठ महीने के प्रथम रविवार से आरम्भ होता है और अगर रविवार से एक दो दिन पहले ही जेठ लगा हो तो दूसरे रविवार से। शनिवार, रविवार और सोमवार की सुबह तक यह मेला काजी सादुल्लापुरा में लगता है। वहाँ बाकायदा गाजी मियाँ के बियाह का आयोजन होता है। स्त्रियाँ जुटती हैं और मन्नत के मुर्गे काटे जाते हैं। गाजी मियाँ पर उनका खून चढ़ता है। और उनका प्रताप देखिए, यहाँ एक मुहल्ले का नाम ही पड़ गया है- गाजी मियाँ।"[58] स्पष्टतः उपन्यासकार ने काशी के मुसलमान समाज में फैले धार्मिक अंधविश्वासों पर तीखा व्यंग किया है। एक तरफ जहाँ वैज्ञानिकता का प्रभाव बढ़ता जा रहा है वहीं दूसरी तरफ लोग रुढ़िवादी विचारों से मुक्त भी नहीं होना चाहते हैं। वे अंधश्रद्धा को अपनी परंपरा और संस्कृति से जोड़कर देखते हैं। इसीलिए "लोग गाजी मियाँ के मजार पर मुर्गा चढ़ाते हैं और मजार को गुसल (स्नान) कराते हैं। मजार के चारों ओर गड्ढा है जिसमें मजार के धुलने से पानी गिरता है उसे लोग अपनी आँखों से लगाते हैं और पीते हैं।"[59] क्या इस प्रकार का अंधविश्वास सतत् विकसनशील संस्कृति का हिस्सा हो

सकता है ? मेरे विचार से इसे संस्कृति और धर्म की परिधि से परे केवल अंध-अनुकरण की कहा जा सकता है।

बुनकर समाज में समुचित शिक्षा का अभाव होने के कारण धार्मिक अंधविश्वास अपनी गहरी जड़ें जमाये हुए है। बशीर की बेटी रेहाना बीमार है। लेकिन परिवार वाले बीमारी का परवाह किये बगैर भूत-प्रेत का साया समझ रहे हैं। इसीलिए वे उसे अस्पताल ले जाने के बजाय 'बहादुर शहीद के मजार' पर ले जाते हैं। "बहादुर शहीद का मजार कचहरी के पास है। बरना के इधर ही। वहाँ हर जुमेरात को बनारस और आसपास के गाँवों की स्त्रियाँ पहुँचती हैं और अपने-अपने भूतों से खेलती हैं। जुमेरात के रोज वहाँ अच्छा-खासा मेला लग जाता है। मजार के बाहर भैंस के कीमे की पकौड़ियाँ बिकती हैं और बेसन की फुलौरियाँ तथा मौसमी फल। बच्चों के लिए आइसक्रीम वाले भी अपना-अपना ठेला लेकर पहुँच जाते हैं।"[60] इस प्रकार मुसलमान संस्कृति के तहत ऐसे अंधविश्वासों को फलने-फूलने के खूब अवसर उपलब्ध रहते हैं जहाँ धर्म और अध्यात्म का आसानी से व्यापारीकरण किया जा सके।

त्यौहार किसी भी स्थान विशेष की संस्कृति को उजागर करते हैं। काशी में ईद का विशेष महत्व है। वहाँ ईद के महत्त्व को दर्शाने वाली तैयारियों का बेहद सजीव वर्णन उपन्यासकार ने किया है। ईद के पहले दिन "गोशबाड़ों और चिकवों की दुकानों में गोश्त खरीदने वालों की भीड़ लग गयी है। कल तो कोई दुकान खुलेगी नहीं। जो कुछ खरीदना है रात में ही खरीद लो। सबसे ज्यादा भीड़ गोशबाड़ों में है। उधर अलईपुर का और मछोदरी का गोशबाड़ा अंसारी भाइयों से भरा हुआ है। लोग लुंगी का टोंका उठाये, टोपियाँ लगाए, झोला लिए भीड़ में खड़े हैं और कसाइयों से झगड़ रहे हैं। किसी को दो किलो चाहिए, किसी को पाँच किलो और किसी को आठ किलो। किसी को साथ में कलेजी भी चाहिए और किसी को बट। भैंस का एक-एक हिस्सा आज महत्वपूर्ण हो गया है।"[61] मुसलमान तो जोर-शोर से

त्यौहार की तैयारी करते ही हैं हिन्दू भी सौहार्द और भाईचारे के प्रतीक इस त्यौहार के प्रति अपना सम्मान जाहिर करते हैं जिसका एक उदाहरण उपन्यास में देखा जा सकता है- "चौक थाने के सामनेवाले सेठ गुलजारीलाल ने शहर के सम्मान्य मुसलमानों को आज आखिरी रोजे की अफ्तारी भी करायी है।"[62]

उपन्यासकार ने काशी में एक तरफ जहाँ ईद के त्यौहार का वर्णन किया है वहीं दूसरी तरफ दशहरा और दुर्गा पूजा के महत्व का भी विस्तृत वर्णन किया है। "दशहरा नजदीक आ रहा है। बनारस शहर में बड़ी चहल-पहल है। मुहल्ले-मुहल्ले रामलीलाएं हो रही हैं। रामनगर की रामलीला तो बहुत पहले ही शुरू हो गयी है। वहाँ तो इकतीस दिन तक लीला होती है। राजा साहब खुद कराते हैं।...अपनी पुरानी परंपरा निबाहने के लिए अब भी वे 'भरत मिलाप' के रोज हाथी पर सवार होकर नगर में निकलते हैं और बनारस की जनता को अपना दर्शन देते हैं। मैंदागिन पर तो भीड़ लग जाती है उस रोज। एकदम जन-समुद्र।"[63] काशी में 'मदनपुरा' एक इलाका है जहाँ अधिकांश मुस्लिम परिवार रहते हैं। लेकिन हिन्दुओं के त्यौहार दुर्गापूजा के अवसर पर यहाँ भी खूब धूम-धाम देखी जाती है। उपन्यास में इस बात का वर्णन किया गया है कि "इधर मदनपुरा के इलाके में दुर्गापूजा की तैयारी जोरों से चल रही है। बंगाली टोला में जगह-जगह दुर्गा की प्रतिमाएं बन रही हैं। मिट्टी की खूबसूरत स्त्रियाँ। चतुर्भुजा। असुरों का दमन करती हुई।"[64] विभिन्नता प्रत्येक संस्कृति में देखी जा सकती है, चाहे वह हिन्दू संस्कृति हो, मुसलमान, ईसाई या फिर अलग-अलग स्थान से संबंध रखती हो। यह काशी की सांस्कृतिक एकता ही है कि चाहे ईद हो या दीपावली, दशहरा अथवा दुर्गा पूजा हिन्दू-मुसलमान एक साथ देखे जा सकते हैं।

उपन्यास में बुनकरों के एक महत्वपूर्ण पर्व 'सफर-महीने (मुहर्रम के बाद का अरबी महीना) के आखिरी बुध' का भी जिक्र किया गया है। इस 'आखिरी बुध' का बुनकरों के जीवन में विशेष महत्व है। "इनका विश्वास है कि हजरत मुहम्मद साहब ने इसी रोज

गुसले-सेहत किया था। उन दिनों वह लम्बी बीमारी झेल रहे थे और उनकी सेहत जब ठीक हुई तो जिस रोज बिस्तर से उठकर उन्होंने स्नान किया और बढ़िया-बढ़िया खाना खाया, वह 'सफर' महीने का आखिरी बुधवार था। उस रोज के बाद वे फिर बीमार पड़ गये और उनकी मृत्यु हो गई थी। उनकी जिन्दगी में उस बुधवार जैसा खुशनुमा बुधवार फिर कभी नहीं आया, अतः प्रतिवर्ष सफर के महीने के अंतिम बुधवार के रोज बनारस के बुनकर बढ़िया-बढ़िया पकवान बनाते हैं और उस पर न्याज-फातेहा कराते हैं। इस रोज मुर्री बंद रहती है। करघे नहीं चलते। बिनकारी का कोई काम नहीं होता। कारीगरों को मिठाइयाँ बाँटी जाती हैं और इस पर्व को एक जश्न के रूप में मनाया जाता है।"[65]

प्रारम्भ से ही काशी अध्यात्म की नगरी मानी जाती रही है। इसका आध्यात्मिक पक्ष अत्यंत मजबूत रहा है। बनारस में हिन्दू-मुस्लिम दोनों समुदायों की एक बड़ी संख्या निवास करती है इसलिए मंदिर-मस्जिद का अद्भुत मेल यहाँ देखने को मिलता है। उपन्यासकार ने भी एक स्थान पर काशी के इस आध्यात्मिक स्वरूप का वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि "बनारस में ईद की नमाज के लिए जितने लोग फातमानवाले ईदगाह में जाते हैं उससे शायद ज्यादा ही लोग लाट भैरव की मस्जिद पर पहुँचते हैं। वैसे तो चौहट्टा लालखांवाली ढाई कंगूरे की मस्जिद में भी भीड़ होती है, पर लाट भैरव वाली भीड़ का कहना ही क्या ! दरअस्ल लाट भैरव का महत्व इसलिए ज्यादा है कि इस मस्जिद के आँगन में एक मन्दिर भी है। और मस्जिद के आँगन में मन्दिर हो, यह बात शायद बनारस में ही संभव है। इसके बारे में मशहूर है कि एक अंग्रेज कलक्टर ने ऐसा आदेश दिया कि यहाँ पूजा भी होगी और नमाज भी पढ़ी जाएगी, लेकिन नमाज के वक्त पूजा नहीं होगी। सो अभी तक यह बात चली आ रही है।"[66] अतः यह कहा जा सकता है कि अध्यात्म का ऐसा मेल काशी में ही संभव है।

समय के साथ स्थितियाँ काफी बदल चुकी हैं। आज भी काशी में एक पक्ष आध्यात्मिकता का तो है ही लेकिन उससे कहीं अधिक आध्यात्मिकता का व्यापारीकरण भी हुआ है। उपन्यास में एक प्रसंग जहाँ मस्जिद निर्माण के लिए चंदा एकत्र किया जा रहा है- "मस्जिद अभी निर्माणाधीन है। वहाँ चंदा उतर आया है और लाउडस्पीकर पर एलान हो रहा है :

'हाजी मतिउल्ला गिरस गयार सौ रुपिया !'

'हाजी वलिउल्ला पान सौ एक रुपिया !'

'हाजी अमीरुल्ला यक्कइस सौ रुपिया !' "[67]

वहीं लतीफ जैसे गरीब लोग भी श्रद्धालु और आध्यात्मिक हैं लेकिन उनके पास अपना अध्यात्म दिखाने के लिए श्रद्धा के अतिरिक्त पैसा जैसा कुछ नहीं है। "लतीफ मस्जिद के सामने पहुँचता है और लिखवाता है : अब्दुल लतीफ ग्यारा रुपिया। लिखनेवाले सज्जन उसे घूरकर देखते हैं और लाउडस्पीकर पर बगैर एलान किये ही उसके हाथ से दस का नोट और एक का सिक्का लेकर सामने रखे बॉक्स में डाल देते हैं।"[68] यानी कि चंदे के लिए दिए जाने वाले पैसे की कीमत के रूप में श्रद्धा की गहनता मापी जाती है।

'धर्म' की मनुष्य के जीवन में महती भूमिका होती है। धर्म व्यक्ति के सामाजिक जीवन को कई कोणों से परिचालित भी करता है। विभिन्न धर्मों की अनेकता वाले भारत देश में धार्मिक भेद-भाव की जड़ें काफी गहरी हैं। काशी चूँकि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का एक प्रमुख संगम स्थल है, इसलिए कई सन्दर्भों में वहाँ धार्मिक भेद-भाव की पैनी और स्पष्ट लकीरें देखी जा सकती है। "यहाँ मदनपुरा में दो गलियाँ ऐसी हैं जिनको लेकर बहुत विवाद है। एक गली ऐसी है जिसमें मुसलमानों की आबादी बहुत ज्यादा है और हिन्दू चाहते हैं कि दुर्गा की प्रतिमा इसी गली से होकर गुजरे ! मुसलमान नहीं चाहते हैं कि ऐसा

हो, वरना उसका ईमान शायद खतरे में पड़ जायेगा। दूसरी गली ऐसी है जहाँ हिन्दू आबादी ज्यादा है और उस गली में मुसलमानों ने एक इमाम चौक बना रखा है। वे वहाँ ताजिया बैठाते हैं और हिन्दू नहीं चाहते कि ऐसा हो, वरना उनकी आस्था पर शायद चोट पहुँचेगी।"[69]

उपन्यासकार ने काशी में दुर्गा पूजा और ताजिया के वक्त दोनों धर्म के लोगों द्वारा किये जाने वाले आध्यात्मिक दिखावे और अनावश्यक शोर-शराबे का वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि "आगे-आगे दुर्गा की प्रतिमा और पीछे-पीछे शोर मचाती भीड़। एक ऐसा शोर जिसका अध्यात्म से कोई मतलब नहीं। ठीक इसी तरह एक ऐसा शोर उस वक्त भी होता है जब ताजिए का जुलुस निकलता है। धर्म दोनों ही अवसरों पर सड़क छाप हो जाता है। वह सरेआम सर के बल खड़ा हो जाता है। लेकिन फिर भी लोग कहते हैं यह सत्य है और सिर्फ यही सत्य है। इस सत्य के लिए लोग कट मरते हैं।"[70] क्या आँख मूँदकर तथाकथित 'सत्य' को मान लेना ही अध्यात्म है ? हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जब तक धर्म और आध्यात्मिकता की सदियों से प्रचारित संकीर्ण अवधारणा को पुनर्व्याख्यायित नहीं करेंगे तब तक अध्यात्म के उस 'सत्य' को नहीं समझा जा सकता है जिसे दोनों धर्म के लोग 'सत्य' मान बैठे हैं। झीनी-झीनी बीनी चदरिया "उपन्यास की विशेषता यह है कि अब्दुल बिस्मिल्लाह ने बहुत निर्ममता से धार्मिक कुरीतियों, रीति-रिवाज, धार्मिक अंधविश्वास, अशिक्षा पर प्रहार किया है और प्रगतिशील धर्मनिरपेक्ष दृष्टि का परिचय दिया है। साम्प्रदायिकता के गहरे रंग में आकण्ठ डूबे आज के भारतीय समाज में धार्मिक संकीर्णता से ऊपर उठकर राष्ट्रीय भावना, राष्ट्रीय एकता, देशप्रेम की जैसी जरुरत है- वही इस उपन्यास की दृष्टि है। बिस्मिल्लाह ने किसी को भी नहीं बख्शा है- चाहे हिन्दू हों, चाहे मुसलमान।"[71]

आध्यात्मिकता व्यक्ति के आंतरिक मूल्यों की उच्चता की परिचायक है। लेकिन अधिकांशतः धर्म के आड़ में ही सांप्रदायिक दंगे होते रहे हैं। काशी में हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्म के लोगों की समान भागीदारी के कारण कई बार आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाने के नाम पर सांप्रदायिक दंगे हुए हैं। उपन्यासकार ने दुर्गा पूजा के एक प्रसंग का वर्णन किया है "दुर्गा की प्रतिमा जैसे ही अवांछित गली में प्रवेश करती है, एक छत से ईंट का एक नन्हा-सा टुकड़ा इस तरह फेंका जाता है कि वह ठीक दुर्गा के सिर पर आकर गिरता है और शोर मचाती भीड़ का ध्यान भंग हो जाता है। सबसे आगे चल रहा खद्दरधारी, 'दादा' नाम से मशहूर तड़ित बनर्जी भीड़ को एक संकेत करता है और भीड़ रुक जाती है। भीड़ में से दो मुच्छड़धारी लोग बाहर निकलते हैं और भद्दी-भद्दी गालियों से पूरी गली गूंज उठती है। अचानक छत से बारिश होने लगती है। पत्थरों, ईंट के टुकड़ों और खाली बोतलों की बारिश ! फिर पिसा मिर्चा और तेजाब ! भगदड़ मच जाती है। थोड़ी ही देर में जवाबी कार्यवाही शुरू हो जाती है। छुरे निकल आते हैं। बन्दूकें निकल आती हैं। कई घरों में, कई दुकानों में आग लगा दी जाती है। सड़क पर जो भी दिखाई देता है, मार डाला जाता है। खून-ही-खून ! आग-ही-आग ! मनुष्य के भीतर छुपा हुआ असुर बाहर आ जाता है।"[72] इस खूनी खेल में आध्यात्मिकता के सूक्ष्म, महीन रेशे तार-तार होकर बिखर जाते हैं।

आध्यात्मिक श्रेष्ठता के नाम पर चंद लोगों द्वारा किए जाने वाले इस सांप्रदायिक दंगों का दोनों कौमों के मासूम, मजलूम लोगों को बेवजह भुगतान करना पड़ता है। काशी के बुनकर भी ऐसे ही गरीब तबके से संबंध रखते हैं जो हर-दिन की मजूरी के बल पर जीवन यापन करते हैं। ऐसे में धर्म और अध्यात्म की ऐसी दंगाई परिणितियाँ उनके जीवन को और भी दूभर बना देती हैं। अचानक पता चलता है कि "अभी-अभी छोहरा पर किसी मुसलमान ने किसी हिन्दू को छुरा मार दिया है। और दुकानें फिर फटाफट बंद हो गयीं। इकबाल साड़ी की पेटी गद्दी पर ही छोड़कर लौट पड़ा। मुहल्ले में आते-आते उसने सुना कि

चौकवाले मजार में किसी हिन्दू ने आग लगा दी है और मजार जलकर राख हो गया है।"[73] काशी में कई अवसरों पर ऐसी स्थितियाँ देखी जा सकती हैं। "मदनपुरा की गलियों में दुर्गापूजा और मोहर्रम के अवसर पर दंगा भड़क उठता है। धीरे-धीरे यह दंगा तमाम शहर के लोगों में अपने धर्म की रक्षा के भयानक एहसास को जगा देता है। हाजी अमीरुल्ला का बेटा शरफुद्दीन और 'कौमी एकता' के सम्पादक अल्ताफुर्रहमान इस स्थिति का अपने-अपने पक्ष में लाभ उठाते हैं। अतः हिन्दू और मुस्लिम सांप्रदायिक ताकतों की गठजोड़ के परिणामस्वरूप शरफुद्दीन और कामता नेता दोनों चुनाव में विजयी होते हैं। दंगे की सीधी मार बशीर और मतीन जैसे सर्वहारा पर पड़ती है। एक वर्ग के लोग दंगे का लाभ उठाकर सत्ता में चले गये। कर्फ्यू के दौरान दूसरे वर्ग के बशीर मियां के घर को पानी नहीं मिला और न मतीन के घर को आटा।"[74] 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' में उपन्यासकार ने काशी के उस आध्यात्मिक पक्ष को मुख्यतः उजागर किया है जिसका मुलम्मा चढ़ाकर असामाजिक तत्व और अधिक अराजकता फैलाते हैं, प्रभुत्वशाली नेतागण वोट की राजनीति खेलते हैं और ऐसे में धर्म और अध्यात्म केवल चंद शक्तिशालियों के साधन का जरिया बनकर रह जाता है।

इस उपन्यास में अब्दुल बिस्मिल्लाह ने काशी की हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के समन्वयात्मक रूप का वर्णन किया है। वास्तव में हर जगह के बुनकरों की अपनी कुछ विशिष्ट समस्याएं हैं। उनके धार्मिक और सामाजिक विश्वास भिन्न हैं। किसी अंचल विशेष के तथ्य और आकड़ों के जरिये बटोरी गई जानकारी के आधार पर वहाँ के समूचे परिवेश की अंतर्बाह्य स्थितियों की एक स्थानीय रंग के साथ चित्रित करना संभव नहीं लगता। स्थानीयता एक स्थान विशेष की सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थिति के उपन्यास की संरचना पर अनिवार्य प्रभाव का ही दूसरा नाम है। ऐसा प्रभाव जिससे कि वह उपन्यास उस स्थान विशेष की पहचान करा सके। इसलिए बिस्मिल्लाह जी ने बुनकरों की परिवेशगत

समस्याओं, धार्मिक और आध्यात्मिक रूढ़ियों और जर्जर संस्कारों और परम्पराओं को भी यथा संभव बेबाकी से प्रस्तुत किया है।

काशी के मंदिर वहाँ की संस्कृति के प्रमुख अंग हैं। काशी को मंदिरों और घाटों का शहर भी कहा जाता है। 'नीला चाँद' उपन्यास में शिवप्रसाद सिंह ने काशी के विभिन्न मंदिरों का वर्णन किया है। उन मंदिरों की स्थापत्य कला की तरफ भी उपन्यासकार का ध्यान गया है। "काशी मंदिरों का शहर है और 'नीला चाँद' में केदारेश्वर, नन्दीश्वर, विमुक्तेश्वर, कृत्तिवासेश्वर आदि मंदिरों के उद्भव और विकास से लेकर उसके महात्म्य व उससे संबंधित मान्यताओं तक के वरण प्रभूत मात्रा में मिलते हैं।"[75] मत्स्योदरी घाट पर बने नन्दीश्वर मंदिर का वर्णन करते हुए उपन्यासकार लिखता है कि "सामने था नन्दीश्वर का मंदिर। वह नागर शैली पर बना एक अद्भुत विशाल और उन्मुक्त शिल्प का नमूना था। सिर पर चमकदार आमलक (आंवला) था। उसके उपर कलश था और उसके शीर्ष पर ध्वज-दंड। गेरू के वर्ण की पताका हवा के हलके स्पर्श मात्र से आंदोलित हो रही थी। मंदिर के गर्भगृह के उपर नागर शैली में विमान बना हुआ था। बड़े-बड़े चिकने स्तंभों पर बना विराट मंडप था जिसमें दीवालों से सटकर देवी-देवताओं की मूर्तियाँ थीं जो अत्यंत उन्मुक्त मिथुन मुद्रा में बनी हुई थीं।...मंदिर का अंदर का कुट्टिम (फर्श) अत्यंत चमकदार नील-पीत चट्टानों को तराशकर और कलात्मक ढंग से जोड़कर बनाया गया था।"[76] चूँकि बनारस विभिन्न संस्कृतियों का मिश्रण है। यहाँ गुजराती, मराठी, बंगाली आदि समुदायों के लोग निवास करते हैं अतः यहाँ के मंदिरों के स्थापत्य में भी उसी तरह की विभिन्नता दिखाई देती है जैसे कि समाज में है। प्रायः हर समुदाय की संस्कृति की झलक वहाँ के मंदिरों की स्थापत्य कला में दिखाई देता है। द्राविड़ कला के मंदिर का एक उदहारण प्रस्तुत है- "मंदिर पचास हाथ ऊँचा था। द्राविड़ कला का जाज्वलमान उदाहरण था। गर्भगृह बहुत ही बारीकी से तक्षित प्रस्तरों से बना था, उसमें मध्य से एक जौ हटकर सुवर्ण का अरघा बना हुआ

था, उपर का भाग जिसे विमान कहते हैं, सीधा था। इसकी कई मंजिलें थीं। इसमें छः पहल वाले सुवर्ण-शिखरों के बीच केंदीय मंदिर की ऊंचाई पचास हाथ थी और मस्तक पर गुंबद की स्थापना की गयी थी। लाल-पीले सुचिक्कण प्रस्तरों को जोड़कर कुट्टिम (फर्श) बना था। दीवालों से सटी अनेक मूर्तियाँ थीं जो प्रायः युग्म अथवा युग-नद्ध थीं। इसमें चहारदीवारी बहुत ऊँची और बृहद क्षेत्र को घेरती थी। चारों कोनों पर चार मंदिर और विशाल गोपुरम था। अत्यंत सुचिक्कण स्तंभों पर शाल-भंजिकाएँ बनी थीं। बीच वाले स्तम्भ की चौड़ाई कुछ ज्यादा थी। उस पर कामदेव की अत्यंत सुन्दर प्रतिमा थी। हाथ में इक्षु का धनुष और भौरों की मौर्वी।"[77] मंदिर के स्थापत्य का सुन्दर उदाहरण द्राविड़ संस्कृति और समाज का भी उत्तम उदाहरण है। द्राविड़ समाज में प्रचलित पूजा पद्धतियों, मंदिरों के निर्माण में वहाँ की सांस्कृतिक पहचान के तत्वों को पहचानना एक सजग उपन्यासकार ही कर सकता है।

काशी का सबसे प्राचीन मंदिर 'अविमुक्तेश्वर' का वर्णन उपन्यास में किया गया है। "काशी का सबसे प्राचीन महालय।...स्वयं विश्वेश्वर जिस लिंग की अर्चना करके अपने को धन्य समझते हैं, उनके महात्म्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह मंदिर आटव्य देश से लाए गये रंगीन और चिकने पत्थरों से निर्मित था। इसका निर्माण उन शिल्पियों ने किया था जो आनुवंशिक परंपरा से स्थापत्य को शिवाराधन मानकर साधना करते रहे। अविमुक्तेश्वर शिव की इस प्रतिज्ञा का प्रतीक था कि वे काशी छोड़कर कभी नहीं जायेंगे। सम्पूर्ण भारत के देवी-देवताओं, तीर्थों, मंदिरों को एक स्थान पर उपस्थित करने वाले काशी नगर के प्रधान देवता अविमुक्तेश्वर थे।"[78] प्राचीन समय का अविमुक्तेश्वर आज के समय का काशी विश्वनाथ मंदिर ही है। चूँकि काशी के बारे एक मिथक प्रचलित है कि यहाँ शिव अपना स्थान कभी नहीं छोड़ते हैं और यही अविमुक्तेश्वर तीर्थ में विराजमान रहते हैं। अतः इस मंदिर की श्रेष्ठता का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है। भारत के हर क्षेत्र में, हर वर्ग से लोग यहाँ अपनी मनोकामना को पूर्ण करने के लिए आते हैं। तमाम तरह के स्वर्ण और

आभूषण मंदिर में दान देते हैं ताकि उनके कष्टों का विनाश हो सके। आटव्य देश (मिर्जापुर) से लाए गये पत्थरों से इस मंदिर का निर्माण किया गया है। अविमुक्तेश्वर तीर्थ की प्रसिद्धि भारत के प्रत्येक क्षेत्रों तक थी, इसका पता हमें इस सन्दर्भ से चलता है। काशी के आदिकेशव मंदिर का भी वर्णन किया गया है। इस मंदिर के बारे में लिखा गया है कि "गंगा वरुणा के संगम पर संगमेश्वर का दर्शन करने के बाद ही आदि-केशव का दर्शन करना चाहिए।...आदिकेशव के मंदिर में वेणुधारी विष्णु की अत्यंत दिव्य प्रतिमा थी। वैसे तो मंदिर छोटा था, पर मंडप इतना विस्तृत था कि एक साथ कई लोग वहाँ बैठकर कथा-वार्ता, पूजा-पाठ आदि कर सकते थे। इधर इस मंदिर में जब से श्री रामानुज की वंशपरम्परा से जुड़े उनके प्रथम शिष्य रंगनाथ अपनी पुत्री मीनाक्षी के साथ यहाँ आ गये हैं, तब से लगता है कि अन्धकार के भीतर कोई चिदाग्नि जला रहा हो।...इस मंदिर का निर्माण गाहड़वाल-नरेश चंद्रदेव ने कराया था और यह स्थान उन्हें बहुत शांतिकारक लगा था। यह देवायतयन लोभ, मोह, क्रोध, की शीतल छाया के समान शाश्वत शांति से भर देता था।"[79] इसके साथ ही कृत्तिवासेश्वर मंदिर की स्थापत्य कला और उसमें होने वाली पूजा-पद्धतियों का वर्णन भी उपन्यास में किया गया है। "कृत्तिवासेश्वर का यह मंदिर बहुत ही उत्कृष्ट स्थापत्य की उपलब्धि था। गर्भगृह में पवित्र शिवलिंग पश्चिमाभिमुख था। काशी में अविमुक्तेश्वर, विश्वेश्वर और कृत्तिवासेश्वर ये तीन शिवायतन सर्वपूज्य माने जाते थे।"[80] इस मंदिर के अंदर होने वाली पूजा-अर्चना का वर्णन भी महत्वपूर्ण है। "तभी कृत्तिवासेश्वर मंदिर के गर्भगृह का कपाट खुला। मंदिर में वाले पाशुपत, भक्त, संन्यासी पंक्तिबद्ध होकर भगवान् कृत्तिवासेश्वर की प्रभात-पूजा के दर्शन के लिए खड़े हो गये। आरात्रिका हो रही थी और भक्तगण 'कुमार-संभव' का श्लोक पढ़ रहे थे। संसार में जितने भी रूप दृष्टिगत होते हैं वे सब शिव के ही हैं, उनका शरीर चमकते हुए आभूषणों से सुसज्जित हो अथवा साँपों में लिपटा हुआ हो। वे चाहे गजाजिन (हाथी का चर्म) धारण किये हों अथवा क्षौम वस्त्र। उनके गले में नरमुंडों की माला हो, चाहे शिखर पर द्वितीया का चन्द्र। वे विश्वमूर्ति है,

उनका स्वरूप बाह्य बुद्धि से समझा नहीं जा सकता।"[81] इसप्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास 'नीला चाँद' में काशी की संस्कृति के रूप में मंदिरों का वर्णन जगह-जगह देखने को मिलता है। स्थापत्य कला के तरह-तरह के उदाहरण मंदिर निर्माण में दृष्टिगोचर होता है। विभिन्न शैलियों में बने मंदिर भारतीय सांस्कृतिक विरासत का स्वरूप खड़ा करते है साथ ही काशी को संस्कृतियों के समिश्रण के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। "इन मंदिरों के वर्णन में एक तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उपन्यासकार ने इसे मात्र स्थापत्य की दृष्टि से नहीं देखा है; अपितु इन मंदिरों से सम्बंधित श्रीविग्रहों एवं उपासना पद्धतियों का दार्शनिक विवेचन भी किया है। वस्तुतः मंदिर मूर्ति-शिल्प मात्र नहीं हैं, केवल भवन नहीं हैं, ये मानव मन की आस्था और विश्वास के प्रतीक हैं। इन मंदिरों से संबंधित ईश्वर का दार्शनिक स्वरूप विवेचन के अभाव में मंदिरों का यह वर्णन एकांगी ही रहता।"[82]

गंगा और शिव के समिश्रण से काशी का निर्माण हुआ है। गंगा काशी में आकर उत्तरवाहिनी हो जाती हैं और शिव यहाँ के इष्ट देवता के रूप में निवास करते हैं। इन दोनों के मनोरम रूप का वर्णन उपन्यास में जगह-जगह मिलता है। "गंगा और शिव का ऐसा समन्वय गंगोत्री से लेकर महासागर तक कहीं भी नहीं है। गंगा अपने वलय में शिव को समेटे हुए प्रसन्न कल-कल स्वरों में खिलखिला रही हैं। वह रुद्ररुपा हैं, शिवत्व प्रदान करने वाली हैं। गंगा और शिव का यह युग्म, यह मिथुन, यह परस्पर आलिंगन कहाँ मिलेगा ?"[83] काशी को शिव की नगरी के रूप में मान्यता प्राप्त है। प्रायः ऐसा माना जाता है कि यहाँ निवास करने वाले व्यक्ति को शिवत्व (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। काशी की आध्यात्मिक श्रेष्ठता का वर्णन हर कहीं मिल जाता है। कृष्ण मिश्र भी इसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि "गंगा और काशी का दिव्य संयोग तो सभी जानते हैं, पर शर्मा जी के आवास से आदिकेशव से केदारेश्वर तक विस्तृत घाटों और उनके तट पर खड़े धवलगृहों, मंदिरों, श्रेष्ठि-प्रासादों का समवेत दृश्य और उनके शिखरों तक लहराते केशरिया

ध्वज इतने मनोहारी हैं कि काशीपुरी एक मोहनगरी का रूप उपस्थित कर रही है। इसे ऋषियों का वशीकरण भूमिका कह कर प्रणाम किया है। यहाँ आने वाला कोई भी हो, ब्राह्मण, वैश्य, शुद्र, वर्णसंकर- जो भी इस पुरी में आता है, वह पैर तोड़कर यहीं बैठ जाता है। शिवलिंग पर एक पुष्प चढ़ाने पर जहाँ सहस्रों यज्ञों के फल सहज उपलब्ध हो जाते हैं, उस काशी को कोई कैसे छोड़ सकता है।"[84] यह काशी की आध्यात्मिक श्रेष्ठता का रूप है जो सर्वजन तक इसी रूप में व्याप्त है। काशी के बारे में प्रचलित मिथकों का आमजन पर इतना ज्यादा प्रभाव है कि उसका स्वरूप बनारस में आये दिन दर्शन के लिए बढ़ रही भीड़ से लगाया जा सकता है।

ब्रह्मपुरी तीर्थस्थल के विषय और श्रेष्ठता के बारे में भी उपन्यास में चर्चा की गयी है। " "धर्मनाद तहां पाप मांद"- जहाँ धर्म का उद्घोष होता है, वहाँ पाप की गति मंद पड़ जाती है। यह था ब्रह्मपुरी के ब्राह्मणों की आस्था का प्रतीक-वाक्य। बोली में व्यक्त इस आस्था को वे प्रसन्नतापूर्वक ढो रहे थे। मत्स्योदरी से निकली हुई मन्दाकिनी सरित् अर्ध-वृत्ताकार मोड़ लेती हुई मणिकर्णिका की ओर जाती है। वहाँ तीन कुल्याएं आकर मिलती थीं। इनके संयोग से बना ब्रह्मनाल चक्र पुष्करणी की ओर चल पड़ता था। इसे पितामह स्रोतिका भी कहते थे। इस नाले के उत्तर और दक्षिण गंगा के किनारे-किनारे ब्राह्मणों की बस्ती थी, जिसे ब्रह्मपुरी कहा जाता था। सम्पूर्ण भारत के पंचद्रविड़ और पंच-गौड़ ब्राह्मणों का यह विश्राम स्थल था। आदिमकाल से आजतक वेद-वेदांग, यंत्र-मंत्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, साहित्य-कला, सृष्टिपलय, नाना मन्वन्तर, युग-युगांत, सबकुछ यहाँ विविक्षित होता था। सब पर अधिकार पूर्वक सोचने-समझने वाले यहीं गंगा के पावन तट पर आबाद थे। ब्रह्मनाल में स्नान करके पिता महेश्वर लिंग का दर्शन करना ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन था।"[85] यहाँ ब्रह्मपुरी के महात्म्य को बताया गया है। काशी में ऐसे अनेक तीर्थ स्थल हैं जिनका अपना-अपना विशेष महत्व है। उन सबके अपने-अपने मिथक हैं जिनके

आधार पर उनकी श्रेष्ठता प्रमाणित की जाती है। इन स्थलों पर पुरोहित और यजमानों की भीड़ लगी होती है। बहुत सारे लोगों की आजीविका का साधन इन तीर्थस्थलों से जुड़ा होता है। फूल बेचने वाले, मल्लाह, महापात्र, घाटिए इत्यादि लोग सुबह से लेकर शाम तक यहाँ आ विराजते हैं। इनकी तरफ संकेत करते हुए शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं कि "ब्रह्ममुहूर्त में शय्या त्यागकर, गंगा में नहाकर, स्नान-पूजन से निवृत्त होकर, गंगा तट पर आसन जमाकर झुंड के झुंड लोग बैठ जाते थे।...छतरीवाले पुरोहितों की तत्परता देखते ही बनती थी, जिनका कर्तव्य था स्नानार्थियों की सुख-सुविधा का ध्यान रखना। लोग इन पर पूरा विश्वास करते थे और अपने वस्त्र, उत्तरीय, पादुकाएं इनकी मढ़ी के पास रख जाते थे और स्नान-ध्यान से निवृत्त होकर, अपने-अपने वस्त्रादि पुनः धारण करके इनके सामने सिर झुकाते। चंदन का पीला तिलक यजमान के मस्तक पर लगाते हुए ये ब्राह्मण स्वस्ति का कल्याण का आशीर्वाद देते। यात्री इन्हें यथाशक्ति दान देते और अपनी अगली यात्रा के लिए चल देते।"[86] जैसा कि पहले ही कहा गया है कि इन सब का संबंध आजीविका से रहा है। प्रायः आज के समय में गंगा के घाटों के किनारे तथा मंदिरों के आस-पास पुरोहित-यजमान, घाटिए, मलाहों की भीड़ देखी जा सकती है। आज भी कुछ बदले हुए स्वरूप में ही सही तीर्थस्थलों पर इस तरह के कार्य-व्यापार होते हैं। पहले सिर्फ ब्राह्मण ही पुरोहित का कार्य करते थे परन्तु वर्तमान समय में ब्राह्मणों के अलावा अन्य जातियाँ भी इस पेशे से जुड़ गयी हैं। यजमानों और तीर्थ यात्रियों से प्राप्त धन ही इनकी आजीविका का मुख्य साधन है।

नवरात्र के समय काशी की सौंदर्य छटा अद्भुत होती है। शिवप्रसाद सिंह ने 'गली आगे मुड़ती है' में नवरात्र के समय काशी के सौंदर्य को रेखांकित किया है। जब वह 1060 ई. के काशी का चित्रण 'नीला चाँद' में करते है तब भी वह नवरात्र के समय काशी का चित्रण करना नहीं भूलते हैं। वह लिखते हैं कि "वासंतिक नवरात्र वाराणसी में अपनी एक अद्भुत

उत्साहवर्धिनी ऊष्मा और फूलों के संभार को लेकर उपस्थित होता है। कर्णिकार, रक्त पारिजात, वकुल, मालती, बनवेला सभी मिलकर एक ऐसे सौगंधिकों का छिड़काव करते हैं, जिसे वाराणसी के नागर जन अद्भुत सौगंधिकों का मिश्रण कहते हैं। तूलक के छोटे से अंश को सींक में लगा कर सौगंधिकों के प्रयोग की यह काशिक परंपरा है।"[87]

'नीला चाँद' में बौद्ध धर्म में आई विकृतियों पर भी प्रकाश डाला गया है। अध्यात्म के नाम पर फैले अनाचार का बोल-बाला है। बौद्ध वज्रयानियों और कापालिकों का आतंक चारों तरफ व्याप्त है। साधना के नाम पर व्यभिचार ही उनका मुख्य ध्येय हो गया है। वह स्त्री का यौन उत्पीड़न करते हैं तथा इसे साधना के मार्ग में साधन मानते हैं। कापालिकों का अत्याचार इतना बढ़ गया है कि वह आए दिन कहीं से भी स्त्रियों का अपहरण कर उनके साथ दुष्कर्म करते हैं। कापालिक इन सारे दुष्कर्म को धर्म से जोड़कर उसे साधना के मार्ग के लिए जरुरी बताते हैं। मांस, मैथुन, मदिरा का सेवन इनकी दिनचर्या का हिस्सा हो गये थे। चारों ओर अराजकता का वातावरण था। वज्रयानियों में स्त्री के साथ बढ़ते यौन उत्पीड़न का चित्रण उपन्यास में किया गया है। एक बौद्ध वज्रयानी कीरत सिंह से कहता है कि " "तू अबोध है बालक", वह फिर गुर्राया- "यह साधारण युवती नहीं, बत्तीस लक्षणों से युक्त महामुद्रा है। इसके प्रफुल्ल श्वेत कमल की तरह गौर वर्ण की ओर देख। ऐसी स्वर्ण केशी नारी केवल शुद्ध आर्यवंशों में ही उत्पन्न होती हैं। इसके अविरल, पुष्ट वक्षों को देख। तू कभी खजुराहो गया है बालक ? वहाँ जाकर कन्दार्य मंदिर की बाहरी भित्ति पर अलंकृत कंटक निकलने वाली नायिका को देख, तभी तुझे ज्ञात होगा कि इसके जंघे कितने कसे हुए कदली स्तंभ की तरह लगते हैं, यह सुश्रोणि पद्मिनी है, मुर्ख, पद्मिनी। भौरों की पंक्तियाँ इसके मुखमंडल पर मंडराती रहती हैं। भय से इसके ललाट पर जो स्वेद कण झलक रहे हैं उसमें कस्तूरी की सुगंधि उठ रही है।...इसके सहयोग के बिना मेरी साधना पूरी नहीं हो सकती। मैं किसी भी अवस्था में युवती को छोड़ नहीं सकता। मैं तीन महीने से उसे

प्रातःकाल के झुटपुटे में केशव मंदिर जाते देखता रहा हूँ। अंत में मैं इसे वशवर्ती बनाने में सफल हुआ। तू सीधे भाग जा नहीं तो भिक्षुओं के पहुँचने के साथ ही मेरे अनुयायियों का गुल्म तुझ पर टूट पड़ेगा।"[88] वज्रयानियों के अराजक माहौल का बड़ा ही सटीक वर्णन उपन्यास में किया गया है। काशी में भी इस तरह के अत्याचार हो रहे थे। शहर या गाँवों से युवतियों का अपहरण कर वज्रयानी जंगलों में भाग जाते थे। धर्म की आड़ में निजी स्वार्थ के लिए इस तरह के कुकृत्य चल रहे थे। धर्म का आवरण डालकर इस तरह के अनाचार किये जा रहे थे। आर्य महायान के आचार्य भदंत राहुल भद्र के कथन से इस बात की पुष्टि होती है। " 'भिक्षुओं !' राहुल भद्र गंभीर स्वर में बोले, 'आज संघ पर कुत्सा और कलंक के बादल मंडरा रहे हैं। हमारे बीच जिन लोगों ने दीक्षा लेते समय प्रतिज्ञा की थी कि धर्म, संघ और भगवान बुद्ध के उपदेशों के प्रति सर्वत्र निष्ठावान रहेंगे वे अजानु नहीं, आपादमस्तक पाप और अनाचार के दलदल में धंस चुके हैं। उन्हें इस कर्दम से मुक्ति चाहिए भी नहीं। ये लोग अपने को आधुनिक कहते हैं। इन्हें निष्काम बुद्ध भी चाहिए और सकाम बद्धता भी। वे बुद्ध को एक धार्मिक आवरण बनायेंगे और पंचमकार यानी मैथुन, मांस, मदिरा, मीनाक्षी और मत्स्य का अखंड सेवन भी करेंगे। ये लोग बद्ध हैं, पशु हैं, ये आधुनिक अंगुलिमाल हैं, जो यात्रियों की उंगलियां काटकर उनसे माला बना कर गले में धारण कर लेता है।' "[89] आचार्य राहुल भद्र के कथन से वज्रयानियों के बीच फैले घोर अनैतिक वातावरण की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। भारतीय संस्कृति इस तरह के आचरण को मान्यता नहीं देती है। राहुल भद्र भी इन्हें सदाचार पर बल, अहिंसा का पालन करना तथा सदाचार के मार्ग पर चलने की तरफ ही इशारा करते हैं। " 'मैंने मुस्कराते हुए पूछा, क्या जननी, भगिनी, दुहिता, चांडाली, शबरी, डोम्बी के साथ मैथुन से ही ज्ञान मिलता है ? इस प्रकार के अनर्थकारी पाप का प्रचार बंद करें, आर्य मित्रानंद। माता, भगिनी, दुहिता के साथ मैथुन की बात करना न केवल अनैतिक है, बल्कि जगत को मानव से पशु की ओर ले जाने वाला अनर्थकारी प्रयत्न है। पशु से मनुष्य विकसित हुआ है। वह प्रकृति के

अद्यावधि विकास की सर्वोत्तम उपलब्धि है। उसे विकास के विरुद्ध पीछे लौटने के प्रयत्न से विरत हो भदंत अथवा अपने स्वाभाविक विकासक्रम में बाधा पहुँचाने के अधम अपराध के लिए वह किसी को भी बिना ध्वस्त किये छोड़ेगी नहीं। वह मूल प्रज्ञा है, वही सचमुच की पद्मिनी है, वज्रमणि है। वही प्रज्ञा-पारमिता है। उसी के शरण में जाना चाहिए।' "[90] इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य राहुल भद्र वज्रयानियों में फैले अनाचार की घोर निंदा करते हैं तथा उन्हें उचित राह पर चलने का सन्देश भी देते हैं। सदाचार की संस्कृति भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख अंग होती है। राहुल भद्र उसी संस्कृति के पोषक हैं।

स्पष्टतः यह कहा जा सकता है कि शिवप्रसाद सिंह ने 'नीला चाँद' उपन्यास में काशी के मिथकों, उसकी संस्कृति और आध्यात्मिकता का अभूतपूर्व चित्र खींचा है। काशी के मंदिरों, उनकी स्थापत्य कला, पूजा-पद्धतियों के साथ ही नवरात्र के समय की काशी की समिश्रित संस्कृति का व्यापक वर्णन किया गया है। बौद्ध धर्म में फैले अनाचार और धर्म के नाम पर हो रहे कुकृत्य आचरण का पर्दापाश भी उपन्यास में किया गया है। अतः यह कहना उचित ही है कि 'नीला चाँद' काशी की संस्कृति और आध्यात्मिकता का भरपूर लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है।

शिवप्रसाद सिंह ने 'वैश्वानर' उपन्यास की शुरुआत में ही काशी के वैदिक कालीन इतिहास के प्रश्न को सामने रखा है। वह स्पष्ट करते हैं कि ऋग्वेद में दशम मण्डल की दूसरी ऋचा में काशिराज प्रतर्दन का स्पष्टतया उल्लेख मिलता है। "काशी के इतिहासकारों के कथन को कि ऋग्वेद में काशी शब्द का प्रयोग नहीं है, प्रमाणित मान लें तो ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त 179 का उपहास होगा। इस सूक्त में तीन ऋचाएँ हैं। पहली ऋचा शिविरौशीनर की है दूसरी का ऋषि है काशिराजः प्रतर्दनः तथा तीसरी का ऋषि रौह्दश्वो वसुमनः।...इस सूक्त में प्रतर्दन को स्पष्टतया काशिराज कहा गया है।...इस तरह काशी के न होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।"[91] वह आगे उपनिषदों में भी काशी के ऐतिहासिक

महत्व की तरफ संकेत करते हैं। प्रतर्दन और धन्वन्तरि के ऐतिहासिक महत्व की तरफ संकेत करते हुए उपन्यासकार बताता है कि धन्वन्तरि के कारण काशी का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। वह उपन्यास के प्रारम्भ 'ज्वलंत प्रश्न' में लिखते हैं कि "काशी तो यों भी सप्तपुरियों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है; पर धन्वन्तरि के आ जाने पर उसकी गरिमा देवताओं तक में संभ्रम जगाने लगी। यह कितने आश्चर्य की बात है कि कृतयुग में तीनों विष्णुकलांश अवतार, धन्वन्तरि, दत्तात्रेय और परशुराम किसी न किसी रूप में काशी से जुड़े रहे।"[92] उपन्यास में काशिराज प्रतर्दन, प्रतर्दन के पिता दिवोदास और यशस्वी पुत्र अलर्क के परिवार को कथा का केंद्र बनाया गया है। शौनक, घोर आंगिरस, गालव, गौतम, रामभार्गव, दत्तात्रेय, सिंधुजा, धन्वन्तरि, माधवी, दीर्घतम कक्षीवान, भीमरक्षा, वामदेव, कार्तवीर्य, अर्जुन, सुमेधा, जनक, हेमवर्ण श्रेष्ठी, सौमित्र, देवहुति, भार्गव, वालेस्म, सुदर्शन आदि वैदिक और कल्पित पात्रों की सहायता से काशी की वैदिक संस्कृति और समाज का चित्रण किया गया है।

'वैश्वानर' उपन्यास में भारतीय संस्कृति विशेषकर काशी में मुंडा और किरात जाति की संस्कृति की विस्तृत व्याख्या की गयी है। यह उपन्यास आधुनिक तथा प्राचीन संस्कृतियों के समिश्रण का आख्यान है। दो संस्कृतियों का संघर्ष इस उपन्यास के केंद्र में है। प्रतर्दन इस उपन्यास में वीर पुरुष के रूप में उपस्थित होता है वहीं उसके पिता दिवोदास को भीरु और कायर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। गुरु दत्तात्रेय, धन्वन्तरि आदि ऋषियों को विश्वबंधुत्व तथा मानवीयता के गुणों से ओतप्रोत दर्शाया गया है। वहीं दूसरी तरफ अकालबृद्ध केशकम्बली को धूर्त और तांत्रिक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। भारतीय संस्कृति में उत्थान और पतन का दौर चलता रहता है। संस्कृतियों के परिवर्तन को इन पात्रों के माध्यम से समझा जा सकता है। 'वैश्वानर' के बहुत से पात्र ऐसे हैं जो अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी तक लगा देने में तनिक भी संकोच नहीं करते हैं

वहीं कुछ पात्र ऐसे भी हैं जो अपने निकृष्ट कर्मों से अपनी संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। मनुष्य की महानता की पहचान उस बात पर निर्भर करती है कि वह अपने देश और संस्कृति की रक्षा के लिए क्या कुछ कर गुजरता है। प्रतर्दन इस दृष्टि से भी महान सिद्ध होता है।

'वैश्वानर' उपन्यास में वेदों की संस्कृति का पूरा आख्यान दिखाई देता है। काशी में जो भी कार्य होते हैं वे सब वेद और संहिता को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। जब भी किसी व्यक्ति पर दुःख का पहाड़ टूटता है तो यज्ञ द्वारा देवताओं और शक्तियों को स्तुति करके प्रसन्न किया जाता है। युवराज प्रतर्दन के अस्वस्थ होने पर अग्निहोम का आयोजन किया जाता है। "तभी बाहर के प्रांगण में जातुकर्ण रहूगण के पुत्रों और शिष्यों ने युवराज के अस्वस्थ होने के उल्लास में आयोजित अग्निहोम के पश्चात् स्वस्तिवाचन आरम्भ किया।

शं नो वातः पवतां मातरिश्वा शं नस्तपतु सूर्यः। अहानि शं भवंतु नश्शगं रात्रि प्रति धीयताम्। शमुषानो व्यच्छतु शमादित्य उदेतु नः शिवाः नशन्तमाभव सुमृडीका सरस्वती।

(हमारे लिए मातरिश्वा कल्याणकारी हो बहता रहे। सूर्य कल्याणकारी हो तपता रहे। दिन कल्याणकारी हों। रात्रि कल्याण को धारण करे। उषा कल्याण प्रदान करे। सूर्य कल्याणकारी होकर उदित हो। सरस्वती सुखकारिणी हो। हमारा शिव हो, कल्याण हो।)"[93]

राजा दिवोदास के राज्याभिषेक के समय सम्पूर्ण काशी दुल्हन की तरह सजी हुई थी। राज्याभिषेक से पहले वेदपाठियों द्वारा मंगलगान आरम्भ होता है। किसी भी महत्वपूर्ण कार्य करने से पूर्व इस तरह की वैदिक रीति का पालन करना तत्कालीन समय के आम जन-जीवन में व्याप्त था। "राज्याभिषेक का समय निकट आ रहा था। युवराज प्रतर्दन ने संकेत किया। पुरोहित और उनके साथ आये सोलह वेदपाठियों ने मंगलगान आरम्भ

किया।...पाँच ब्राह्मणों ने कलश में जल लेकर कुशा से उसे दिवोदास पर छिड़कते हुए मंत्र पढ़े, 'राजन् ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि सम्पूर्ण देवता तुम्हारा अभिषेक करें, इन्द्र, वरुण, मातरिश्वा, विश्वेदेव, अग्नि आदि देवाधिदेव तुम्हारा अभिषेक करें। भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, सनक-सनन्दन-सनत्कुमार, अंगिरा प्रजा की रक्षा करने वाले राजा की रक्षा करें। अपनी प्रभा से प्रकाशित होने वाली वहिर्षद (कुशासन पर बैठने वाले) और अग्निस्वात नामक पितर तुम्हारी रक्षा करें।....ऊँ शांतिः शांतिः शांतिः।"[94]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ कोई भी शुभ कार्य शुरू करने से पहले यज्ञ या स्तुतिगान की परंपरा प्रचलित थी। "आर्यों में यज्ञ और दैवीय शक्तियों को प्रसन्न करने का प्रचलन है। अग्निहोत्र प्रतर्दन वैश्वानर की साधना में नित्य अग्निहोत्र करता है। गोधर, विश्वावारा, गार्गी, वाचवन की कौशिक विश्वामित्र की गायत्री यज्ञशाला में सवितृतेजः साधना में भाग लेने जाती है। तक्मा रोग निवारण के लिए आर्य यज्ञ करते हैं। अकाल वृद्ध केशकम्बली कापालिक मंदिर में, शंकुधारा मठ में तथा भीष्मचंडी मंदिर में नर-बलि द्वारा शक्ति जागरण की साधना करता है। राम भार्गव धन्वन्तरि के मृत्यु के समय श्रद्धांजलि देने के पूर्व काशी में शिवत्रिकोण तथा शक्तित्रिकोण का दर्शन करते हैं। गंगा स्नान तो आर्यों का पुण्य कर्म है ही।"[95] इस प्रकार वैदिक कर्मों का विधान 'वैश्वानर' में जगह-जगह व्याप्त है। तत्कालीन समय में वैदिक धर्म और संस्कृति में लोगों का विश्वास था, जिसकी परिणति उपन्यास में दिखाई देती है।

वैश्वानर में भी काशी के उस मिथक की चर्चा की गयी है जिससे पता चलता है कि काशी मोक्ष की नगरी है। "बहुत प्राचीन काल से काशी हिन्दुओं का एक परमपवित्र तीर्थ रहा है। वैसे तो हिन्दुओं की सात पुरियाँ अतिप्रसिद्ध हैं। इनमें से किसी में भी मरने से मोक्ष मिलता है :

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका।

पूरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिका।।

किन्तु काशी तो इनके बीच माला के सुमेरु की तरह अत्यंत प्रसिद्ध है। अनन्त काल से इस नगर में लोग इसी मोक्ष-प्राप्ति हेतु आ रहे हैं और मृत्यु-पर्यंत काशीवास करते रहे हैं। दूसरी ओर काशी भारतीय धर्मों के अनेक सम्प्रदायों की भी प्रियतीर्थ नगरी रही है। लगता है मध्मेश्वर को केंद्र मानकर इस नगर का निर्माण स्वतः अविमुक्त नगरी के अधिष्ठाता ने पारलौकिक ढंग से किसी मानचित्र के अनुसार किया हो। वैदिक काशी का विस्तार अपेक्षाकृत छोटा था, पर जो कुछ भी था वह अत्यंत चित्ताकर्षक था।"[96] काशी के बारे में प्रचलित मिथक आदिम काल से उसी रूप में चले आ रहे हैं।

मुंडा और किरातों की संस्कृति का भी वर्णन 'वैश्वानर' में किया गया है। उस समय मंदिरों में नर-बलि की प्रथा प्रचलित थी। नरबली के पश्चात मुंडा और किरात "ताली बजाते हुए परिधि में घूम-घूमकर नाचने लगे, युवतियों के मैले पर रंगीन घाघरे तथा पुरुष लंगोटी बाँधे किरातों ने गाया था गीत :

नंदा देवी नंदा देवी। फूल चढ़ो कि पाती

आइना हो हे महामाता देह जोइला हाथी... ।।"[97]

धन्वन्तरि के आ जाने पर मुंडा और किरात बस्ती में चारों तरफ जय-जयकार होने लगी। इनके आने की खुशी से "मुंडा बस्ती में आदिवासी अपने-अपने सिर पर प्रकृति के डंठलों के गमछे बाँधे खड़े थे नर्तक की भंगिमा में। सारा शरीर नंगा था। केवल कटी से लटकती पट्टिका के अतिरिक्त धन्वन्तरि पहुँचे ही थे कि नृत्य आरम्भ हो गया :

नेअ दोग चिकन् मंदकुम्

नेअ दोग चोप सिद जन्... ।"[98]

मुंडा-किरातों की संस्कृति का हिस्सा रही है प्रकृति। उनके गीतों में प्रकृति के विविध पक्षों को देखा जा सकता है।

इस प्रकार 'वैश्वानर' में वैदिक धर्म के अनुष्ठान से लेकर काशी नगरी के मिथक और मुंडा-किरातों की संस्कृति का सांगोपांग वर्णन मिलता है। इस दृष्टि से यह उपन्यास अत्यंत महत्वपूर्ण है।

'काशी का अस्सी' उपन्यास में बनारस में स्थित अस्सी के माध्यम से उसके पूरे सांस्कृतिक वातावरण को भी प्रस्तुत किया गया है। काशी धर्म की नगरी मानी जाती है। जिसके कारण यहाँ पर हजारों की संख्या में लोग प्रतिदिन आते हैं और यहाँ की संस्कृति, परम्परा इत्यादि को देखकर आत्ममुग्ध होते हैं। बनारस के बारे में प्रफुल्ल कोलख्यान लिखते हैं ''बनारस सिर्फ एक स्थान, शहर, पीठ, मुकाम आदि ही नहीं है। भारतीय जीवन अनुभवों के सतत् प्रवाह, ठहराव, विमर्श अपकर्ष, दुःख और सुख का भी एक और नाम है बनारस।... बनारस राँड़, साँड़, सीढ़ी और संन्यासी के लिए तो प्रसिद्ध है ही, अपने पंडों, गुड़ों, ठगों के लिए भी प्रसिद्ध है। जिन सत्य हरिश्चन्द्रों के बिकने की जगह पूरी दुनिया में बचती है उन हरिश्चन्द्रों को खरीद-बिक्री के लिए भी शिवजी के त्रिशूल पर बसी यह नगरी जगह देती है और इस तरह सबका पता चलता है, यहाँ। हिन्दू और भारतीय मन की अद्भुत गुत्थी का नाम काशी या बनारस है।''[99]

बनारस अपने अन्दर इन अलग-अलग संस्कृतियों को समेटे हुए अनन्त काल से अपने आप को स्थापित किए हुए है। समय के साथ इन सारी स्थितियों में परिवर्तन हो रहा है। इन स्थितियों में हो रहे परिवर्तन के कारणों की पड़ताल करता है, उपन्यास 'काशी का अस्सी'।

लेखक अस्सी की संस्कृति और परम्परा को बताते हुए लिखता है कि "भाँग अस्सी की संस्कृति है और जब संस्कृति है तो कोई न कोई परम्परा भी जरुर होगी और वह परम्परा है होली का विश्वप्रसिद्ध 'कवि सम्मेलन'।"[100] जब-जब संस्कृति और परम्परा के अस्तित्व पर संकट आया है तब-तब मुहल्ले के 'डीह' डॉ. गया सिंह ने उसकी रक्षा की है। डॉ. गया सिंह बताते हैं कि किस प्रकार काशी की संस्कृति और परम्परा का संबंध हजारों-हजारों साल से रहा है। "भाँग का संबंध 'दिव्य निपटान' से है, 'दिव्य निपटान' का संबंध शरीर और स्वास्थ्य से है; स्वास्थ्य का संबंध मानव अस्तित्व से है और मानव अस्तित्व का संबंध अस्सी से है।"[101] होली के अवसर पर आयोजित होने वाली गालियों से समृद्ध 'कवि सम्मेलन' के उल्लेख के बिना अस्सी का महात्म्य अधूरा रह जाएगा। महीनों से लोग इसी दिन का इन्तजार करते हैं। इसकी लोकप्रियता इतनी है कि देश-विदेश से लोग इसे सुनने के लिए आते हैं। लेखक स्वयं लिखता है कि "इधर यह हिन्दुओं के महान पर्व पर आयोजित होने वाला अकेला विश्वस्तर का सम्मेलन ! जिसे देखने-सुनने के लिए आनेवाले देश-विदेश के लाखों लोग ! वीडियों-कैमरे और टेपरिकार्डर के साथ ! सड़कें और गलियाँ जाम ! यातायात ठप ! लंका से लेकर शिवाला तक कहीं भी तिल रखने की जगह नहीं।"[102] इस कवि सम्मेलन में "रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय कोई समस्या नहीं, कोई राष्ट्रीय-अराष्ट्रीय पार्टी नहीं जो होली की गालियों के 'प्रेक्षप्यास्त्रों' की जद से बाहर हो।"[103]

'काशी का अस्सी' उपन्यास का चौथा भाग है- 'पाण्डे कौन कुमति तोहें लागी'। इसके माध्यम से 'अस्सी' मुहल्ले पर विदेशी संस्कृति के अतिक्रमण का विश्लेषण किया गया है। बनारस धर्म की राजधानी है जो अपने अंदर धर्म प्रतिरोध की संस्कृति को भी समेटे हुए है। इस भाग में इसी बनारसी संस्कृति के क्षय की कथा है।

इस भाग के आरम्भ में कथाकार वर्तमान अस्सी का चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखता है- "अस्सी भदैनी का ऐसा कोई घर नहीं जिसमें पंडे, पुरोहित और पंचांग न हों और ऐसी कोई गली नहीं जिसमें कूड़ा, कुत्ते और किराएदार न हों।"[104] यही पंचांग और किराएदार यहाँ के पंडों की आजीविका के साधन थे, समय के साथ इनमें बदलाव आता है। जितनी तेजी से धर्माचार्यों में भौतिकवादी जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ा है उतनी ही तीव्रता से धर्म से लोगों का विश्वास कम हुआ है।

कथाकार ने धर्मनाथ शास्त्री, उनकी पत्नी, विदेशी महिला मादलेन तथा कन्नी को लेकर कथा का रूपक तैयार किया है। इस कथा में मादलेन धर्मनाथ शास्त्री से संस्कृत पढ़ना चाहती है। पंडित जी मादलेन के बारे में कई बातें बताकर अपने ज्योतिष ज्ञान से परिचित कराते हैं फिर उसे नगर के चरित्र से अवगत कराते हैं- "देखो, यह धूर्तों, पाखंडियों और लोभियों का नगर है। इस महाल में पचासों संस्कृत शिक्षण केन्द्र और संस्थान हैं। 'संस्कृत इन थ्री मन्थ्स, संस्कृत इन सिक्स मन्थ्स टाँग रखा है सबने लेकिन न तो व्याकरण का ज्ञान है न भाषा का, न साहित्य का।"[105] वह कन्नी के माध्यम से मादलेन को अपने घर में किरायेदार बनाकर अपनी परिस्थिति में परिवर्तन लाने की सोचते हैं। यहीं पंडित धर्मनाथ शास्त्री इससे पहले अपने घरों में विदेशियों को किराएदार बनाने के घोर विरोधी रहे थे। वह आज अपने स्वार्थ के लिए ऐसा करते हैं। इस पर उनकी पत्नी उन्हें बुरा-भला कहती हैं, लेकिन वह पत्नी को समझा-बुझा कर राजी कर लेते हैं। धर्मनाथ शास्त्री उस समय धर्मसंकट में पड़ जाते हैं जब कन्नी उन्हें बताता है कि मादलेन नीचे ही रहेगी तथा जिस कोठरी में महादेव जी की प्रतिमा है उसे वहाँ से हटाकर शौचालय बनवा दिया जाए। वे स्वप्न में महादेव जी को देखते हैं जो कह रहे हैं- "चूतिये मैंने बहुत बर्दाश्त किया रे ! जहाँ मुझे रखा है वह मंदिर है कि माचिस ?..... इसी क्षण मुझे वहाँ से उस

कोपड़ी से निकाल और ले चल खुले में- खुले आसमान में जहाँ चाँद है, तारे हैं, नक्षत्र-मंडल है, सूर्य है, हवा है, धूप है, बारिश है ! उठ और ले चल !''[106]

इस प्रकार वह पैसे के लिए अपने आराध्य देव शिव को विस्थापित करता है। ऐसे लोग अपने हित के लिए गलत तरीके से व्याख्या करते हैं। अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए आदमी किसी हद तक गिर सकता है, उसका चित्रण इसमें उपस्थित किया गया है।

आज के समय में सारा कुछ परिवर्तित हो रहा है। इन सबसे अस्सी भी अछूता नहीं है। वह भी समय के साथ अपने-आप को बदल रहा है। इससे उसकी संस्कृति में भी बदलाव हो रहा है। आधुनिकीकरण के कारण लोगों में व्यक्तिवाद बढ़ता जा रहा है। लोग अपने तक सिकुड़ते जा रहे हैं। इन सबके दबाव के कारण धार्मिक, सांस्कृतिक, जातीय संकट भी लगातार बढ़ते चले जा रहे हैं। उपन्यास के शुरुआत में भाईचारे वाली, एक-दूसरे से हँसने-बोलने वाली संस्कृति दिखाई देती है। परन्तु बाद में चलकर सारा कुछ परिवर्तित हो जाता है। 'काशी या अस्सी' की संस्कृति को बताते हुए अरविन्द चतुर्वेद लिखते हैं ''दरअसल, काशी या अस्सी की संस्कृति और परम्परा 'जीयो और जीने दो' की वह सामुदायिक देशज परम्परा है जिससे हमारा लोक-मानस और लोक स्वभाव निर्मित हुआ है। इसमें समष्टि का भाव है और व्यक्तिवाद हमेशा संदिग्ध नजरों से देखा जाता है- वह न सिर्फ 'पराएपन' के खाते में जाता है, बल्कि 'स्वार्थी', 'धूर्त' यहाँ तक कि 'ठग' समझा जाता है। उत्तर आधुनिकता के इस महा विखंडनकारी दौर में बाजार से लेकर व्यवस्था तक सब आदमी को निपट अकेला कर देने पर उतारू हैं- आदमी साथ-साथ न रहें, एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े कर दिए जाए तो और जो मजबूत हो वह दूसरे को रौंदकर आगे बढ़ जाए- तो सचमुच अस्सी की संस्कृति पर यह घोर संकट है। इस संकट-काल में सभी संदिग्ध हैं।''[107]

अस्सी की संस्कृति आज के आधुनिकीकरण, वैश्वीकरण, पूँजीवाद, नवउपनिवेशवाद के दौर में दिन-प्रतिदिन बदलती जा रही है। उपन्यासकार ने इसे पूरे उपन्यास में दिखाने का प्रयास किया है। विदेशियों के आगमन से यहाँ के लोगों के रहन-सहन में परिवर्तन होता है। धीरे-धीरे पूरा समाज अपने तक सीमित होता जा रहा। अस्सी की संस्कृति अपने तक सीमित होने की नहीं रहीं है वह तो एक-दूसरे से मिलजुल कर हँसी-मजाक करने की रही है। इसकी तरफ संकेत करते हुए अरविन्द चतुर्वेद लिखते हैं "यानी आज भरोसे-भाईचारेवाली, एक-दूसरे के दुख-सुख में काम आनेवाली, 'जीयो और जीने दो' ही नहीं, मस्ती-अल-मस्ती से जीने का पाठ पढ़ाने वाली अस्सी की संस्कृति पर संकट छाया है, विपदा आन पड़ी है।"[108]

अस्सी की संस्कृति औघड़ संस्कृति है। एक दूसरे को गाली देना व गाली पाना इसकी संस्कृति में शामिल है। इसकी संस्कृति के निर्माण में सन्त कबीर और औघड़ कीनाराम का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनकी पूरी जीवन-शैली को अस्सी के लोगों में देखा जा सकता है। फक्कड़पन के साथ जीवन जीना यहाँ के लोगों की जिंदगी में शामिल है। वह किसी बात की चिन्ता किये बिना अपनी जिंदगी को जीये जा रहे हैं मस्ती के साथ। चाहे उपन्यास के पात्र गया सिंह, तन्नी गुरु, महाकवि कौशिक या कोई और हो, सबकी जिन्दगी में अलमस्ती छायी हुई है। धीरे-धीरे इसी मस्ती पर ग्रहण लगना शुरु होता है। औद्योगीकरण, नवउपनिवेशवाद, पूँजीवाद तथा फैशन के गिरफ्त में पूरा समाज आता जा रहा है। स्त्री आज ग्लैमर की दुनिया में प्रवेश कर रही है। स्त्री का शरीर ही उसका सब कुछ है। विश्वसुन्दरी बनने से लेकर हॉलीवुड-बॉलीवुड तक का सफर वह नाप रही हैं। इसके लिए सबसे जरूरी है उसका स्मार्ट, सेक्सी, बोल्ड और क्यूट होना। इन सबने मिलकर स्त्री को बाजारू बना दिया है। बाजार में स्त्री सिर्फ भोक्ता की वस्तु बन कर रह गयी है।

'काशी का अस्सी' में उन सारी स्थितियों की पड़ताल की गयी है जिससे अस्सी के साथ-साथ पूरे देश की संस्कृति में परिवर्तन हो रहा है। काशीनाथ सिंह ने काशी के द्वारा पूरे देश का चित्र खींचा हैं। समय के साथ बदलते हुए काशी का चित्रण उपन्यास में कुछ इस प्रकार किया गया है ''सन्तों, जहाँ पानी, वहाँ प्रानी ! जहाँ घाट, वहीं हाट ! इतिहास यही कहता है ! इतिहास कहता है कि गंगा के गर्भ से पैदा हुआ है यह नगर ? वह इसकी माँ है। माँ इसलिए है कि नगर की तीन-चौथाई आबादी उसी के सहारे है। पंडे, पुरोहित, नाई, धोबी, मल्लाह, मछुआरे, बढ़ई, माली, डोम, मेहतर, बिसाती, साधू, सन्त, भिखमंगे, गाइड, मालिशिए- जाने कितने पेशे और कितनी जाति के लोग उसी के सहारे सदियों से जी-खा रहे हैं। ये तो जी-खा रहे हैं, लेकिन बची हुई एक-चौथाई आबादी-जिसमें बालू और नहर और पुल और बाँधों के ठेकेदार, इंजीनियर, अफसर भी हैं और पर्यावरण, प्रदूषण और 'स्वच्छ गंगा' अभियान की देसी-विदेसी, सरकारी-गैर-सरकारी संस्थाएँ भी- इसे तबीयत से खा-पी रही हैं। जीने-खानेवाले दूसरे हैं और खाने-पीनेवाले दूसरे। लेकिन ये आज की बातें हैं, कल की नहीं।''[109]

इस प्रकार यहाँ काशी के आज के स्वरूप को चित्रित किया गया है। वह काशी जिसके सहारे लोगों की जिन्दगी चलती थी, आज उसी काशी को कुछ लोग समाप्त करने पर तुले हुए हैं। 'स्वच्छ गंगा' अभियान के नाम पर जितने रूपये आ रहे हैं उसे उसके ठेकेदार और इंजीनियर, अफसर मिल बाँट कर खा जा रहे हैं। आज काशी माफियाओं के चंगुल में आता जा रहा है। हर तरफ लूट-खसोट मची हुई है। हत्या, बलात्कार की घटनाएँ दिनों-दिन बढ़ रही है।

इन सारी स्थितियों की पड़ताल की जाय तो यह स्पष्ट पता चलता है कि धार्मिक नगरी काशी के साथ ही साथ पूरे देश की संस्कृति पर संकट गहराता जा रहा है। यह सारा

कुछ आज के आधुनिक समाज से उपजी यांत्रिक जीवन शैली, व्यवस्था के दो मुँहेपन को उजागर करती है।

बनारस विभिन्न संस्कृतियों का समिश्रण है। इस शहर में देश के विभिन्न भागों से आकर बसे लोगों के कारण इसकी संस्कृति में विराटता के दर्शन होते हैं। वैसे अध्यात्म के लिए प्रसिद्ध है। इसी आध्यात्मिकता से जुड़ी एक और विशेषता बनारस की अपनी पहचान है। बनारस के मेले यहाँ की संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग हैं। प्रायः बनारस के मेलों का स्वरूप किसी न किसी धार्मिक अनुष्ठान से जुड़ा हुआ होता है। सोरहिया (लक्ष्मी) का मेला, रथयात्रा का मेला, दुर्गाकुण्ड का मेला, नक्क्टैया का मेला, बुढ़वा मंगल का मेला, भरत मिलाप का मेला, सृजन का मेला, अस्सी का मेला, रामनगर की रामलीला तथा उसके दौरान लगने वाला मेला तथा लक्खी मेला बनारस की पहचान हैं।

अजय मिश्र ने 'पक्का महाल' उपन्यास में विभिन्न मेलों का वर्णन किया है। नक्क्टैया मेले के प्रारम्भ होने के बारे में वह बताते हैं कि "1857 के गदर के बाद अंग्रेजों के अत्याचार, अनाचार से जन-जीवन आक्रांत हो उठा। अंग्रेजों की दमनकारी नीति से आम नागरिक अपकृत, लांक्षित और अपमानित जीवन व्यतीत कर रहे थे। काशी नरेश चेतसिंह की दुर्दशा से काशीवासी विक्षुब्ध थे। ऐसे घुटन भरे वातावरण में काशी के स्वतंत्र चेता, अलमस्त नागरिकों ने अपना आंतरिक विक्षोभ और स्वतंत्रता संग्राम में प्राण उत्सर्ग करने वाले हुतात्माओं के प्रति अपनी श्रद्धा और आस्था प्रकट करने का माध्यम नक्क्टैया को बनाया। इसकी 1890 में बाबा फतेराम नामक व्यक्ति ने अपनी सारी संपत्ति दान कर शुरुआत की।"[110] इस प्रकार हम देखते हैं कि नक्क्टैया मेले की शुरुआत में देशप्रेम की भावना निहित थी। "मुसद्दीमल के बचपन की नक्क्टैया के जुलुस में अत्याचारी, जालिम, विदेशी शासकों का मजाक उड़ाया जाता। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, महाराणा प्रताप के लाग और विमान होते, अंग्रेजों का मजाक उड़ाते स्वांग होते। सराय गोवर्धन की मशहूर भांड

मंडलियाँ होतीं। मैना को आग में जलता दिखाया जाता। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के दृश्य, चेतसिंह की अंग्रेजों से लड़ाई, हाथी पर हौदा, घोड़े पर जीन आदि दृश्यों के साथ नमक सत्याग्रह, विदेशी वस्त्रों का बहिस्कार, भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव की फांसी के प्रसंग तथा जलियांवाला बाग हत्याकांड भी दिखाया जाता।"[111] बाद में इस तरह के मेलों का संबंध संकुचित होता गया। अब इसका संबंध सिर्फ अध्यात्म से जुड़कर रह गया है। देशप्रेम और विश्वबंधुत्व की परिकल्पना को अपने आप में समेटे इन मेलों की अर्थवत्ता अब उस अर्थ में खत्म होती जा रही है। यह बनारस का एकमात्र ऐसा मेला है जो सारी रात चलता है। इसे देखने के लिए सारी काशी उमड़ पड़ती है। लहुराबीर से चेतगंज तक मकानों की छत, खिड़कियों पर स्त्री-पुरुष, बच्चों की भीड़ जमा रहती। काशी के रईस अपने-अपने विमानों पर हैदराबाद और राजस्थान से मगाये गये झाड़-फानूस को सजाते। रईसों में प्रतिस्पर्धा रहती कि किसके विमान पर लोगों की निगाह टिकेगी। इन मेलों में सम्पूर्ण काशी हिलोरे लेता है, जिसका वर्णन 'पक्का महाल' में किया गया है। "बनारस के हर मेले की अपनी खास विशेषता है। घर गृहस्थी का सामान लेना हो तो सोरहिया (लक्ष्मी) का मेला। खाने-पीने की चीज लेनी हो तो रथयात्रा का मेला। मिठाई के लिए दुर्गाकुण्ड का मेला। ताकझांक के लिए नक्कटैया, खालिस मौज-मस्ती के लिए बुढ़वा मंगल और भक्ति के लिए भरत मिलाप। इस मेले में, सृजन के मेले में नान खटाई मिलती। गोल-गोल, फूली हुई, सुनहरी खटाई।"[112] इस प्रकार के मेलों का संबंध सामाजिक जीवन में होने वाली वस्तुओं की आवश्यकता और खरीद-फरोख्त से भी जुड़ा हुआ है। मेला भारतीय संस्कृति का एक ऐसा अंग है जहाँ सारा समाज इकट्ठा होता है और मेलजोल की संकृति का जन्म होता है। इस तरह की संस्कृतियों का दिन-प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है।

काशी में बुढ़वा मंगल और लोलार्क कुंड का अपना विशेष महत्व है। बुढ़वा मंगल के बारे में 'पक्का महाल' में बताया गया हैं कि "बुढ़वा मंगल वह अंतिम मंगल था। वह दिन

जब मोक्षदायिनी काशी राग के रंग में डूब जाती है। गंगा की छाती पर रंग बरसता है। मुक्तदायिनी गंगा भी अपना रूप और स्वरूप बदल देती है। ऐसा हो भी क्यों न, काशी में सबकुछ गड्डमड्ड जो हो गया हो। एक ओर शैवमत, दूसरी ओर कपिल मुनि का सांख्य। एक ओर बौद्धों का विहार, दूसरी ओर वेदों के गूंजते मंत्रों की लम्बी परंपरा। एक ओर पंडित और दूसरी ओर गुंडे। कबीर भी और तुलसी भी। सबकुछ एक ही झोले में। जिसकी जो इच्छा हो, हाथ डाल कर निकाल ले।"[113] काशी में वैविध्य का रंग बरसता है। एक दूसरे का सम्मान करना तथा एक दूसरे से होड़ लेना यहाँ की संस्कृति है। बुढ़वा मंगल हो या कोई और त्यौहार, काशी में सबकुछ एक रस में घुल जाता है। बुढ़वा मंगल के अवसर पर काशी की छटा देखते ही बनती है। "गंगा की छाती चंदवा, फूलमाला, रंगीन झाड़ियों, गोटा पन्नी, जरदोरी, रंग-बिरंगी पन्नियों, सलमा सितारों और गोटा किनारी से सजे बजड़ो, भैलियों, पटेलों से भरी हुई थी। पंचगंगा घाट से रामनगर किले तक, जिधर नजर जाय बस नाव ही नाव। इन पर जगमगाती दीपराशियां, घाटों पर छूटती आतिशबाजियों और आकाश छूने की कोशिश करते अनारों के मनमोहक रंग एक विराट इंद्रधनुष का आभास देते हुए।"[114] काशी में बुढ़वा मंगल के अवसर पर भांग-बूटी, बनारसी पान लगाते पनवाड़ी, वेश्याओं का नाच, कहीं कव्वाली, कहीं कत्थक और कहीं भांडों की नौटंकी और अदाकारी का खेल चलता रहता है। आज बनारस सिर्फ बनारसियों का है, दिलवालों का है, रईसों का है। कलकत्ता, बनारस और लखनऊ की जानी-मानी गायिकाएं काशी में अपने गीतों से सबका मन मोह लेती हैं। कलकत्ता की मशहूर तवायफ नवाबजान अपने गीतों से सबको सराबोर कर रही थी वहीं दूसरी तरफ मैना भैरवी के तान से काशी की जनता मुग्ध हो रही थी। बुढ़वा मंगल का अवसर काशी को विविध रंगों में रंग देता है।

काशी के एक दूसरे महत्वपूर्ण तीर्थ लोलार्क कुंड का भी अपना विशेष महत्व है। प्रायः यह मान्यता है कि भादों के शुक्ल पक्ष की छठ को इस कुंड में स्नान करने वाली स्त्रियों

को, जिनको पुत्र नहीं हो, बाँझपन हो, उनको पुत्र की प्राप्ति होती है। यह मान्यता इतनी प्रसिद्ध है कि आज भी इस तिथि को हजारों की संख्या में यहाँ स्त्रियों का जमावड़ा होता है। 'पक्का महाल' में इस तीर्थ की व्युत्पत्ति और इतिहास को बताया गया है। जिसके अनुसार "लोलार्क कुंड बावली है। बनारस पहले वैष्णव तीर्थ था। आनंदवन भद्रवन बाद में बना। काशी शिवपुरी बाद में हुई। पहले यहाँ सूर्य-पूजा होती थी। केवल काशी में ही सूर्य का 'लोल' नाम पड़ा है। काशी के दक्षिणात्य भगवान् लोल निवास करते हैं। काशीवासियों का योगक्षेम वहन करते हैं। सभी तीर्थों में लोलार्क सर्वोपरि है। किंवदंती है कि एक बार सूर्य ने केले के वृक्ष-सी जांघोंवाली, स्वर्णगातवाली, कमनीय अप्सरा घृताची को इस कुंड में स्नान करते देखा। काम-विमोहित हुए सूर्य का वीर्य स्खलित हो, तत्काल वहीं कुंड में गिर गया। अतिसातिरेकात् संभोगात् पूर्णमेव द्रावः। नग्न नारी के सौंदर्य-दर्शन से अर्क (सूर्य) लोल (चंचल) हुए इसलिए लोलार्क कहलाये। काम-विह्वल सूर्य कुंड में स्खलित हुए, इसलिए संतान की इच्छा रखने वाली स्त्रियाँ कुंड में स्नान कर पुत्रवती होती हैं।"[115] बनारस में ऐसे बहुत से कुंड या कूप है जो अपनी-अपनी विशिष्टता के लिए जाने जाते हैं। इनमें से वृद्धकाल-कूप पेट की बीमारियों को नष्ट करने के लिए जाना जाता है वहीं अमृत कुंड में स्नान करने से कुष्ठ रोग का नाश होता है। कृमिकुंड और लोलार्क कुंड संतानोपत्ति के लिए विख्यात है ही। प्रायः काशी में इन कुंड और बावलियों के संदर्भ में ऐसी मान्यता प्रचलित है।

इस प्रकार "काशी में प्रत्येक दिन कोई-न-कोई उत्सव, पर्व, त्यौहार, या तीर्थयात्रा लेकर आता है। यहाँ के पर्व-त्यौहारों में रंगभरी एकादशी, शिवरात्रि, श्रावणी, अन्नकूट,अगहन छठ तथा विजयादशमी का कुछ विशेष स्थान है।"[116] इसीलिए काशी को 'सात वार, नौ त्यौहार' का शहर भी कहा जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

---

[1] गुलेनार, जैनेन्द्र किशोर, पृ. 2-3

[2] प्रेमचंद-पूर्व के हिंदी उपन्यास, ज्ञानचंद जैन, पृ. 267

[3] गुलेनार, जैनेन्द्र किशोर, पृ. 3

[4] वही, पृ. 5

[5] वही, पृ. 5

[6] प्रेमचंद-पूर्व के हिंदी उपन्यास, ज्ञानचंद जैन, पृ. 268

[7] वही, पृ. 268-269

[8] आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द, बच्चन सिंह, पृ. 12

[9] बहती गंगा, शिवप्रसाद मिश्र 'रूद्र', पृ. 13-24

[10] वही, पृ. 15

[11] वही, पृ. 11

[12] वही, पृ. 23

[13] सोच विचार, काशी अंक, सं. नरेन्द्र नाथ मिश्र, पृ. 204

[14] बहती गंगा, शिवप्रसाद मिश्र 'रूद्र', पृ. 27

[15] वही, पृ. 30-31

[16] वही, पृ. 36

[17] वही, पृ. 45

[18] वही, पृ. 52

[19] वही, पृ. 54

[20] वही, पृ. 58

[21] वही, पृ. 51

[22] वही, पृ. 60-61

[23] वही, पृ. 61

[24] वही, पृ. 61-61

[25] वही, पृ. 63

[26] वही, पृ. 79

[27] वही, पृ. 88

[28] वही, पृ. 89

[29] वही, पृ. 136

[30] वही, पृ. 137

[31] वही, पृ. 100

[32] गली आगे मुड़ती है, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 13

[33] वही, पृ. 19

[34] वही, पृ. 113

[35] वही, पृ. 122

[36] वही, पृ. 125

[37] वही, पृ. 347

[38] वही, पृ. 243

[39] वही, पृ. 32-33

[40] वही, पृ. 41

[41] वही, पृ. 41

[42] वही, पृ. 45

[43] वही, पृ. 200

[44] वही, पृ. 273

[45] काशी नगरी एक : रूप अनेक, सं. ओमप्रकाश केजरीवाल, पृ. 284

[46] गली आगे मुड़ती है, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 48

[47] वही, पृ. 57

[48] काशी नगरी एक : रूप अनेक, सं. ओमप्रकाश केजरीवाल, पृ. 293

[49] मणिकर्णिका, डॉ. तुलसीराम, पृ. 9

[50] गली आगे मुड़ती है, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 317

[51] वही, पृ. 252-253

[52] वैतरणी से वैश्वानर तक की यात्रा, आनंद कुमार पाण्डेय, पृ. 89-90

[53] गली आगे मुड़ती है, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 80

[54] वही, पृ. 82

[55] वही, पृ. 85

[56] कला और संस्कृति, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 9

[57] झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. 40

[58] वही, पृ. 52

[59] वही, पृ. 53

[60] वही, पृ. 63

[61] वही, पृ. 74-75

[62] वही, पृ. 75

[63] वही, पृ. 160

[64] वही, पृ. 160-161

[65] वही, पृ. 206

[66] वही, पृ. 76

[67] वही, पृ. 13-14

[68] वही, पृ. 16

[69] वही, पृ. 161

[70] वही, पृ. 162

[71] साहित्य का नेपथ्य, भारत भारद्वाज, पृ. 111

[72] झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. 162

[73] वही, पृ. 164-165

[74] समकालीन भारतीय साहित्य, बनारस के बुनकरों की संघर्ष-गाथा, जानकीप्रसाद शर्मा, पृ. 268

[75] शिवप्रसाद सिंह : स्रष्टा और सृष्टि, सं. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु', पृ. 198

[76] नीला चाँद, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 33

[77] वही, पृ. 39-40

[78] वही, पृ. 106

[79] वही, पृ. 132-133

[80] वही, पृ. 198

[81] वही, पृ. 198

[82] शिवप्रसाद सिंह, सं. डॉ. अरुणेश नीरन, पृ. 106

[83] नीला चाँद, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 31

[84] वही, पृ. 181

[85] वही, पृ. 87-88

[86] वही, पृ. 88

[87] वही, पृ. 308-309

[88] वही, पृ. 50

[89] वही, पृ. 193

[90] वही, पृ. 194

[91] वैश्वानर, शिवप्रसाद सिंह, पृ. VII

[92] वही, पृ. x

[93] वैश्वानर, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 207

[94] वही, पृ. 212

[95] वैतरणी से वैश्वानर तक की यात्रा, आनंद कुमार पाण्डेय, पृ. 108

[96] वैश्वानर, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 331

[97] वही, पृ. 71

[98] वही, पृ. 71

[99] आलोचना, प्रफुल्ल कोलख्यान, अक्टूबर-दिसम्बर, जनवरी-मार्च, 2002, पृ. 41

[100] काशी का अस्सी, काशीनाथ सिंह, , पृ. 18

[101] वही, पृ. 19

[102] वही, पृ. 19

[103] वही, पृ. 20

[104] वही, पृ. 116

[105] वही, पृ. 121

[106] वही, पृ. 132

[107] वागर्थ, अरविन्द चतुर्वेद, जून, 2002, पृ. 114

[108] वही, पृ. 114

[109] काशी का अस्सी, काशीनाथ सिंह, पृ. 99

[110] पक्का महाल, अजय मिश्र, पृ. 122

[111] वही, पृ. 122-123

[112] वही, पृ. 227-228

[113] वही, पृ. 136-137

[114] वही, पृ. 137

[115] वही, पृ. 225-226

[116] भोग-मोक्ष समभाव, वैद्यनाथ सरस्वती, पृ. 26

पंचम् अध्याय

काशी की विशिष्ट भाषाई संस्कृति और हिंदी उपन्यासों में इसकी अभिव्यक्ति

प्रत्येक उपन्यास की भाषा का अपना एक स्वभाव होता है, जिससे वह अन्य उपन्यासों की भाषा से अपने को अलग करता है। काशी केन्द्रित उपन्यासों की भाषा की बुनावट काशी के समाज में बोली जाने वाली भाषा/बोली से उत्पन्न हुई है। वह वहाँ की भाषा की विशिष्ट शब्दावली को अपने अंदर समेटे हुए है। यही विशिष्टता काशी की धरोहर है, जिसकी अभिव्यक्ति इन उपन्यासों में हुई है। आगे काशी केन्द्रित उपन्यासों की भाषा की विशिष्टता पर विस्तार से विचार किया जायेगा।

काशी केंद्रित उपन्यासों में 'गुलेनार' का समय सबसे पहले आता है। इस उपन्यास की भाषा पर विचार करें तो यह कह सकते हैं कि इसकी भाषा हिंदी की बनती हुई भाषा है। उपन्यास में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिससे इसे प्रमाणित किया जा सकता है। 'गुलेनार' में अधिकतम स्थानों पर पूर्ण विराम की जगह '!' चिह्न का प्रयोग किया गया है। इसके साथ ही शब्द युग्म के स्थान पर '2' का प्रयोग हुआ है। जैसे 'साथ-साथ' के स्थान पर 'साथ 2' और 'कर-कर' के स्थान पर 'कर 2' का प्रयोग हुआ है। हिंदी के कुछ शब्दों जैसे 'सूर्य' के स्थान पर 'सूर्य्य', 'गर्मी' के स्थान पर 'गर्म्मी' 'पूर्व' के स्थान पर 'पूर्व्व', 'जिसकी' के स्थान पर 'जिस्की', 'इसके के स्थान पर 'इस्के' का प्रयोग किया गया है। 'गुलेनार' के पूर्व उपन्यासों की अगर बात की जाय तो हिंदी का यह रूप भी दिखाई नहीं देता है। इसके अतिरिक्त 'गुलेनार' उपन्यास में अधिकतम शब्दों को एक साथ जोड़कर लिखा गया है। मसलन, 'आधम्के' (आ धमके), 'बुद्धिचकरागई' (बुद्धि चकरा गई), 'मुहमीठा' (मुँह मीठा), 'इस्तहारबांटनेवाला' (इस्तहार बांटने वाला), 'सबकेसब' (सब के सब) इत्यादि। बाद के

उपन्यासों में मानकीकरण के कारण हिंदी में सुधार हुआ और हिंदी का समृद्ध रूप सामने आया। इस प्रकार प्रारंभिक हिंदी गद्य के अनेक चित्र 'गुलेनार' उपन्यास में दिखाई देता है।

'बहती गंगा' की भाषा पर बात करने से पहले हमें इसके स्वरूप पर विचार करना पड़ेगा। 'बहती गंगा' में कुल 17 कहानियाँ हैं। इन 17 कहानियों के मिलने से बनता है उपन्यास। अब प्रश्न यह उठता है कि इन्हें कहानी माना जाए या उपन्यास ? इस सन्दर्भ में स्वयं शिवप्रसाद मिश्र 'रूद्र' लिखते हैं कि "कृपालु आलोचकों ने यह प्रश्न उठा रखा है कि 'बहती गंगा' उपन्यास है अथवा कहानी संग्रह ? इसका निर्णय भी वहीं करेंगे, उन्हीं का यह कार्य है, मेरा नहीं। मेरा निवेदन तो इतना ही है कि 'प्रियप्रवास' और 'कामायनी' को महाकाव्यत्व के चौखटे में 'फिट' किये बिना क्या उनका महत्व स्थापित नहीं किया जा सकता ? विधाएं साहित्य की जननी नहीं हैं; साहित्य ही विधाओं का जनक है।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि 'रूद्र' इसे किसी एक खाँचे में बाँध कर देखने के पक्ष में नहीं है। यह कहानी संग्रह है या उपन्यास इसका निर्णय करने का उत्तरदायित्व वह आलोचकों पर छोड़ देते हैं। लेकिन इस प्रश्न से टकराए बिना हम बात नहीं कर सकते हैं। डॉ. धर्मवीर भारती के उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में सात कहानियों के माध्यम से कथा कही गयी है। इन सातों कहानियों को एक सूत्र में पिरोने का कार्य उपन्यास का पात्र माणिक मुल्ला करता है। 'बहती गंगा' में 17 कहानियों को कोई एक सूत्र में पिरोने का कार्य तो नहीं करता लेकिन फिर भी यह सारी कहानियाँ एक सूत्र में गुँथी हुई हैं। हर एक कहानी के पात्रों का आवागमन उसकी अगली कहानी में होता है। धर्म, प्रेम और काशी का सामाजिक परिवेश इन कहानियों को एकसूत्रता के धागे से जोड़ कर रखता है। "लघु उपन्यासों के विकासात्मक इतिहास में जो स्थान धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' का है वही स्थान शिवप्रसाद मिश्र 'रूद्र' की 'बहती गंगा' का है। अपनी शैली, शिल्प और गठन में ये दोनों रचनाएँ अत्यंत प्रभावी और मार्मिक हैं। फिर भी प्रयोग की दृष्टि से 'बहती गंगा' का

अपना महत्व है। कथा, देशकाल, शैली, प्रस्तुतीकरण पद्धति औपन्यासिक कला के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोगशीलता को आत्मसात किये 'रूद्र' का प्रथम लघु उपन्यास हिंदी उपन्यासों में अत्यंत महत्वपूर्ण प्रयोग है।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि 'बहती गंगा' ने विधाओं का अतिक्रमण किया है और अपना प्रभाव छोड़ने में सफल रहा है। काशी के 200 वर्षों के इतिहास को सामने लाने वाला यह एक सफल उपन्यास है। बाद के वर्षों में 'काशी का अस्सी' जैसी रचनाओं ने भी विधाओं का अतिक्रमण किया है। लेकिन इन सब के बावजूद उसे उपन्यास की संज्ञा दी गयी।

'बहती गंगा' की सबसे बड़ी ताकत उसके लोकगीत हैं। इसके लोकगीतों और कविताओं ने हृदय के मार्मिक पक्षों को प्रकट करने में बहुत ही बड़ी भूमिका अदा की है। इस उपन्यास की कहानियों के शीर्षक लोकगीतों की पंक्तियों या कविता की पंक्तियों के आधार पर रखे गये हैं। मिर्जापुर के नारघाट की उस पगली का गीत उसके मन के उद्‌गार को व्यक्त कर देता है-

"अरे रामा, नागर नैया जाला कालेपनियाँ रे हरी !
सबकर नैया जाला कासी हो बिसेसर रामा,
नागर नैया जाला कालेपनियाँ रे हरी !
घरवा में रोवें नागर माई औ बहनियाँ रामा,
सेजिया पै रोवै बारी धनियाँ रे हरी !
खुंटिया पै रोवै नागर ढाल तलवरिया रामा,
कोनवाँ में रोवै कड़ाबिनियाँ रे हरी !
रहिया में रोवै तोर संगी अउर साथी रामा,
नारघाट पर रोवै कसबिनियाँ रे हरी !"[3]

दुलारी टुन्नु की याद में गाती है-

"एही ठैयां झुलनी हेरानी हो रामा, कासों मैं पूछूँ ?

सास से पूछूँ, ननदिया से पूछूँ, देवरा से पूछत लजानी हो रामा ?"[4]

इस प्रकार के अनेक लोकगीतों का प्रयोग उपन्यास के भाषा की ताकत है। इसके साथ ही लावनी, शेर आदि का प्रयोग भी उपन्यास में किया गया है। लावनी का एक उदाहरण जिसके माध्यम से 'रूद्र' ने शिवनाथसिंह-बहादुरसिंह की ऐतिहासिकता को बयान किया है। उनकी बहादुरी की मिसाल को कायम किया है।

"शिवनाथ बहादुरसिंह

वीर का खूब बना जोड़ा,

सम्मुख होकर लड़े

निकलकर मुँह नहीं मोड़ा।

दो कम्पनी पाँच सौ

चढ़कर चपरासी आया,

गली-गली औ कुचे

कुचे नाका बंधवाया,

मिर्जा पाँचू ने कसम

खाय के कुरान उठाया... ।"[5]

शेर के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

(1) "जिंदगी से इस क़दर बेजार क्यों हो ?
डूब मरने के लिए तैयार क्यों हो ?"[6]

(2) "बिन तुम्हारे मैं जी गयी अब तक
तुमको क्या, खुद मुझे यकीन नहीं।"[7] इत्यादि

इस प्रकार के प्रयोग उपन्यास में उसके प्रभाव को और भी बढ़ा देते हैं। यह इस उपन्यास की ताकत है।

'बहती गंगा' के कथा परिदृश्य का आधार 'काशी' है। अतः रूद्र जी ने उपन्यास की भाषा भी उसके अनुरूप ही रखी है। भोजपुरी के शब्दों का प्रयोग, गालियों का प्रयोग उपन्यास में बहुतायत में किया गया है। वैसे तो काशी की एक अलग बोली को 'काशिका' कहा गया है क्योंकि यहाँ सिर्फ भोजपुरी नहीं बोली जाती है बल्कि अन्य बोलियों का मिश्रण भी है, इसीलिए इसे 'काशिका' कहा गया। काशी के लोगों के बातचीत के ढंग को 'रूद्र' ने पहचाना है और उसे उसी रूप में प्रस्तुत भी किया है। काशी में हर कोई 'गुरु' है। इसके कुछ उदारहरण प्रस्तुत हैं-

"का गुरु ! पालागी...मस्त रहअ"[8]

अन्य उदाहरण-

"का हालचाल हौ ? ई कैसन तमासा बनउले हौउअ ?"[9]

"निगोड़ा कुक्कुर, निरबसा, बिहाने-बिहाने लड़िका के कोसै लग गयल। जे बिहाने एकर नाँव ले ले, ओके दिन-भर अन्नकअ दरसन न होय !"[10]

काशी का अपना स्वभाव है कि वह किसी को नहीं छोड़ता है, चाहे वह साधु-महात्मा ही क्यों न हो ? झीगुर का एक महात्मा के बारे में यह कथन इसका प्रमुख उदाहरण है- "का भाई, ई काबुली कौआ कहाँ से आयल ?"[11] इसके साथ ही निर्भीक और निडर होकर अपनी बात कहना भी यहाँ की विशेषता है। साधु का झीगुर को श्राप देने पर झीगुर का उत्तर है "फिर अपनै बुकले जालअ ! बड़का बाबा कनके आल हौ। जानत नहीं कि 'कासी के कंकर सिवसंकर समान' हैं। अइसे सराप से हम नाहीं डेराइत।"[12] इसके अलावा गाली काशी की मुख्य विशेषता है। बात-बात पर लोग एक दूसरे से गाली का प्रयोग करते हैं। 'रूद्र' ने

भी 'बहती गंगा' में गालियों का प्रयोग किया है। मसलन "एसारे"[13], "मरकिनौना"[14], "बज्जर परै"[15] इत्यादि अनेक उदाहरण उपन्यास में मिलते हैं जो वहाँ की प्रकृति और स्वभाव के अनुरूप है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'बहती गंगा' की भाषा के माध्यम से 'रुद्र' ने काशी की नब्ज को पकड़ा है। भाषा की काव्यात्मकता उसके प्रमुख गुण के रूप में उभरकर सामने आती है। इसके साथ ही काशी की बोली-बानी, यहाँ की गालियाँ इत्यादि का सटीक प्रयोग उपन्यास में हुआ है। भाषा और शिल्प दोनों ही दृष्टि से 'बहती गंगा' एक उत्कृष्ट रचना है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता है।

'अपना मोर्चा' उपन्यास की भाषा की ताकत है सपाट भाषा में कही गयी बात का व्यंग्यात्मक प्रभाव। काशीनाथ सिंह ने सपाट भाषा में व्यंग्यात्मकता का प्रयोग कर 'अपना मोर्चा' में नयी जान भर दी है। वह 'ज्वान' और 'मैं' के माध्यम से समाज की उस हर सड़ी-गली व्यवस्था पर व्यंग्यात्मक भाषा के तीर चलाते हैं जिनसे कोई नहीं बच सका है। वह विश्वविद्यालय के अध्यापकों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं कि "तुम्हारे विश्वविद्यालय में ज्यादातर लूले-लंगड़े, ऐंचा-ताने, टेढ़े-बाँकुच चश्मदीद गवाहों जैसे ही लोग देखे हैं जिन्हें देखकर लिहो-लिहो करने की तबियत होती है। सोचो, अगर वे अध्यापक न होते तो क्या होते ?"[16] वह आगे इसी व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग करते हुए विश्वविद्यालय के छात्रों पर अपनी राय रखते हैं "हे बाप जान ! अगर तुम्हारा लड़का आवारा है, लफंगा है, कामचोर है, पुरे गाँव का सिरदर्द है; सब मिलाकर जहन्नुम है और तुम उससे आजिज आ गये हो तो एक काम करो- उसे इसमें दाखिला करा दो।"[17] भाषा में व्यंग्यात्मकता के अनेक उदाहरण उपन्यास में भरे पड़े हैं।

प्रकृति का जैसा अद्भुत वर्णन 'अपना मोर्चा' में किया गया है वैसा अन्यत्र संभव नहीं है। मानो प्रकृति साक्षात् मनुष्य रूप में हमारे सामने उपस्थित हो गयी हो। काशीनाथ सिंह

की भाषा की यह ताकत है जो 'अपना मोर्चा' में व्यक्त हुई है- "जाड़ा आज शाम से ही गुंडई पर उतारू है।...रात आधी जा चुकी है और हलकी-हलकी बारिश हो रही है। लेकिन अंधड़ तेज है, वह अन्धकार को मानो चींथकर रख देना चाहता हो। हवा पागल हो गयी है- वह भाग रही है, नाच रही है, गुर्रा रही है, कूंथ रही है। वह छलांग मारते हुए पेड़ों को पार करती है और बिड़ला छात्रावास के कॉमन रूम की खिडकियों के अंदर झाँकती है। छात्रावास के सामने सड़क है- निचाट अंधकार के नीचे रौशनी की चौड़ी पट्टी जैसे इस्पात की लचकती और खनकती हुई चद्दर। रौशनी में फुहियाँ नाच रही है और खुलकर नाच रही है।"[18] यहाँ प्रकृति का ऐसा मानवीय चित्रण हुआ है जिससे वह सायास आँखों के सामने उपस्थित हो जाती है।

'अपना मोर्चा' में जगह-जगह अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग उसकी व्यंग्यात्मकता को और भी ताकतवर बनाता है। 'गागल्स', 'ट्रांजिस्टर', 'टेरीलिन', 'कॉमन रूम', 'टेरीकाट', 'एक्शन', 'रेस', 'लक्स', 'सिंगल', 'डबल', 'कैम्पस', 'कैशबुक' इत्यादि अनेक शब्दों का प्रयोग निःसंकोच किया गया है। इस तरह के शब्दों के प्रयोग से उपन्यास की संप्रेषणीयता कम नहीं बल्कि अधिक सशक्त ही हुई है। उपन्यास में जगह-जगह काशी में प्रचलित ग्रामीण और देशज शब्दों का प्रयोग भी दिखाई देता है। जैसे 'मटर का होरहा', 'ईख का गुल्ला', 'बबुआ', 'बबुई' इत्यादि अनेक शब्दों का प्रयोग 'अपना मोर्चा' की ताकत को बढ़ाता है। 'अपना मोर्चा' उपन्यास के भाषा सन्दर्भ में डॉ. श्यामसुंदर दुबे लिखते हैं कि "अपने साथ और अपनी अभिव्यक्ति की भाषा पा लेने की ईमानदार कोशिश हर अच्छी रचना में होती है। इस भाषा को काशी ने तलाशा है। 'अपना मोर्चा' के रचनाकार के समानांतर कविता अपने लिए जिस तरह की भाषा तलाश रही थी- लगभग वैसी ही भाषा की तलाश कथा-रचना में काशी कर रहे थे। यदि धूमिल की काव्यभाषा और काशी की कथा-भाषा को एक साथ रख कर देंखे तो स्पष्ट हो जायेगा कि भाषा का मुहावरा यदि अपने समय की उपज

होता है तो दोनों उस मुहावरों को पकड़ते हैं। प्रकृति का जितना स्वल्प और जैसा अर्थगर्भी प्रयोग धूमिल अपनी कविताओं में करते हैं- वैसा ही काशी अपनी कथा-भाषा में उसका प्रयोग करते प्रतीत होते हैं। प्रेमचंद के बाद भाषा-संदर्भ का एक मोड़ 'अपना मोर्चा' में मिलता है, जहाँ सपाट भाषा के भीतर व्यंजना की जबरदस्त ताकत जीवन-स्पंदनों की तरह बोलती है। 'अपना मोर्चा' ने जिस भाषा को पकड़ा था और जिसकी एक परंपरा विकसित होनी चाहिए थी, इधर की कथा-भाषा में वैसा कुछ हो नहीं पाया, जिसे इस तरह की भाषा का विकास कहा जाता। बाद में उपन्यासों में भाषा की यह हानि 'अपना मोर्चा' के बरक्स अन्य कृतियों को रखकर देखी जा सकती है।"[19]

अंततः इतना तो स्पष्ट है कि 'अपना मोर्चा' अपनी भाषा की वजह से अन्य उपन्यासों से भिन्न दिखाई देता है। सपाट भाषा की व्यंग्यात्मकता की यह ताकत 'अपना मोर्चा' को एक सफल उपन्यास की श्रेणी में ला खड़ी करती है।

'गली आगे मुड़ती है' भाषा के साथ-साथ शिल्प की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। उपन्यास 'मैं' शैली में लिखा गया है और रामानंद तिवारी इसके मुख्य वाचक हैं। " 'गली आगे मुड़ती है' में न केवल कथावस्तु अपितु शिल्प की दृष्टि से भी औपन्यासिक कला को एक नवीन मोड़ दिया गया है। उपन्यास क्या है- विभिन्न संस्कृतियों, सम्प्रदायों, जातियों, वर्गों, संस्कारों, भाषाओं एवं बोलियों का समन्विकरण है। उपन्यास को 'मैं' शैली में लिखकर कथाकार ने पाठकों के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित किया है। उपन्यास के नायक रामानंद तिवारी के शब्दों में सारा उपन्यास लिखा गया है। उपन्यास का मूल स्वर वर्णनात्मक न होकर संवादात्मक है। बातचीत के प्रसंग में धक्का खाती हुई कथा आगे बढ़ती है। जैसे लेखक पाठक से पूछ-पूछ कर या उसकी राय जानकर कहानी कह रहा हो। 'आपने नहीं देखा है...आप नहीं मानते हैं' जैसे वाक्यों का प्रयोग पहली बार इस उपन्यास में हुआ है। ऐसा करके उपन्यासकार ने पाठकों से सीधा संबंध जोड़ा है।"[20] मूल कथा में

अनेक कथाएं मिलती हैं। 'गली आगे मुड़ती है' में औपन्यासिक शैली के साथ-साथ अन्य शैलियों का भी प्रयोग हुआ है। डायरी, निबंध, रिपोर्ताज स्केच, पत्र-लेखन आदि शैलियों का समुचित प्रयोग किया गया है।

उपन्यास में भोजपुरी या काशिका के शब्दों का प्रयोग हुआ है। काशी में इस तरह की भाषा का चलन है। उपन्यासकार ने इसका ध्यान रखा है और उन शब्दों को वैसे ही जस का तस उपन्यास में जगह दी है। "ऊँघना"[21], "दांत निपोरा"[22], "ढेढर"[23], "पतरी"[24], "हेल"[25], "मुँह थेथर करना"[26], "भुचेंगड़े"[27], "अहरे पर बाटियाँ सेकना"[28], "देखो खड़खड़िया नाच रही है"[29], "आइए महाराज, पा लागी"[30], "बइठका"[31], "नाँद"[32], "रम्मा लगाकर चाड़ दिया फिर भी नाद टस से मस नहीं हुई"[33], "अब दो महीन्ना बदै भैया से छुट्टी माँग लो पानी गंदला गया है। घरै नहाव लिया करौ"[34], "बड़ा हलकानी में जिअरा पड़ गया है। भिमला को बुखार आय रहा है और कल वोका महतारी फिसलकर गिर पड़ी ससुरी।"[35], "डागडर"[36], "तू तौ हर बखत मजाकै करत हौ तिवारी बाबू ! उहाँ ससुरी चल-फिर नहीं सकत। कल से रोटी मुहाल हुई गयी है और तोहैं मसखरी सूझत है।"[37], "हम हुवै रहबै तिवारी बाबू"[38], "आप क्या बहरै से माई को सलामी दागिएगा"[39], "मरै दो ससुरे हरामिन के। दुहाई हो रामजी, अइसा करो कि अरराय के बैठि जाय उहिका छत, अउर ससुरे दबि मरै उही माँ।"[40] आदि अनेकों शब्दों का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः "शिवप्रसाद सिंह की मातृभाषा काशिका या भोजपुरी ही है अतः इस उपन्यास में उनकी कलम से निकले भोजपुरी आंचलिक प्रयोग अत्यंत ही बेधक और सटीक बन पड़े हैं। ऐसा लगता है कि उतनी सटीक बात भोजपुरी में ही कही जा सकती है। इन पात्रों की भाषा बनारसी है। परन्तु काशी न केवल विभिन्न प्रांतीय लोगों का जीवन संगम है बल्कि नाना प्रकार की वेश-भूषा, बोली-बानी का भी विचित्र गुलदस्ता है। काशी में खुद स्थानीय बोली भोजपुरी के ही पूर्वी और पछांही रूप धड़ल्ले से चलते हैं। 'खाँटी' काशीवासी पछांही बोझिलता से बचाने के लिए अवधि मिश्रित पछांही भोजपुरी यानी

'काशिका' का प्रयोग हुआ है।...संस्कृत, गुजराती, सिंधी, राजस्थानी, बंगला, मराठी, अवधी, मगही, मैथिली, भोजपुरी शब्द मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ तो हैं ही, सबका जीवन दर्शन एवं सामाजिक सर्वेक्षण भी है।"[41]

इसके अलावा 'गली आगे मुड़ती है' में लोकगीतों, कविताओं, श्लोकों आदि का भी प्रयोग दिखाई देता है। चूँकि यह उपन्यास विभिन्न संस्कृतियों का समिश्रण है अतः यहाँ प्रमुख लोकगीतों में भी विविधता है। गुजराती, बंगला, भोजपुरी, हिंदी लोकगीतों और कविताओं के प्रयोग से भाषा में सार्थकता बढ़ी है। गरबा के समय गुजराती समाज के गीत को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है-

"मेंहदी रंग लाग्यो रे
मेंहदी ते बाबी माणवे एनो रंग गयो गुजरात रे
नान्हों दियरिया लडको, काई लाव्यो मेंहदी ना छोबरे
बाकी घूँटी ने भरया बाड़का भाभी रंगों तुम्हारा हाथ रे
हाथ रंगीने बीरा शुं रे करूँ एनो जौनारो तो परदेश रे।"[42]

बंगाली कविता का उदाहरण-

"दूरे बहुदूरे, स्वप्नलोक उज्जयिनीपुरे
खुंजिते गेछुनु कबै शिप्रानिदी तीरे
मारे पूर्वजन्म प्रथमा प्रिया रे।..."[43]

भोजपुरी लोकगीत का बहुत ही सुन्दर उदाहरण जमुना के शब्दों में व्यक्त किया गया है-

"पानी भरे गइलीं रामा जमुना के निरवां
ए ननदिया मोरि रे
बिचवा में मिललें नंदलाल- ए ननदिया मोरी रे"[44]

फिल्मी गीत का उदाहरण-

"मेरा तन डोले, मेरा मन डोले, मेरे दिल का गया करार रे, कौन बजाये बाँसुरिया..."[45]

तात्पर्य यह है कि शिवप्रसाद सिंह ने उपन्यास में भाषा की काव्यात्मकता को जगह दी है। विभिन्न भाषाओं के गीतों के माध्यम से काशी की समिश्रित संस्कृति की झाँकी हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया गया है। इस दृष्टि से 'गली आगे मुड़ती है' उपन्यास काशी के सम्पूर्ण परिवेश को बड़े ही सटीक ढंग से प्रस्तुत करता है।

प्रत्येक स्थान की भाषा का अपना एक विशिष्ट स्वभाव होता है। बनारस की भाषा भी अपना विशिष्ट स्वभाव, लय और गुण-अवगुण लिए हुए है। बनारस क्षेत्र में मुख्यतः भोजपुरी बोली जाती है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास में पात्रों के बीच संवाद की भाषा ठेठ भोजपुरी है। मतीन, लतीफ, रऊफ चाचा, बशीर, हाजी अमीरुल्ला आदि सभी पात्र मुस्लिम समाज से सम्बन्ध रखते हैं। इसीलिए इन तमाम बुनकर और गिरस्ता लोगों की भाषा का लहजा काशी के मुसलमानों द्वारा बोली जाने वाली भोजपुरी का है। चूँकि सम्पूर्ण उपन्यास बुनकरों के जीवन पर आधारित है इसलिए सामान्य भोजपुरी से इतर बुनकरों के कार्य व्यापार की शब्दावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है। इस विशिष्ट शब्दावली के कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं-

"ढरकी- ढरकी बिनकारी का मूलयंत्र है। यह दो तरह की होती है : तीरीदार और माकोदार। तीरीदार में से कलाबत्तू पास होता है और माकोदार में से धागा।"[46]

"रेजा- निर्माणाधीन साड़ी"[47]

"नरी- बिनकारी का एक यंत्र, जिसमे धागा भरा जाता है।"[48]

"लाग- साड़ी बुनते समय एक फूल और दूसरे फूल के बीच की सादी जमीन।"[49] ऐसे ही बुनकारी के कार्य-व्यापार से जुड़े हुए अनेक शब्द उपन्यास में भरे हुए हैं। इसे उपन्यासकार द्वारा बुनकरों के कार्य-कलाप की भाषा के सन्दर्भ में किया गया सूक्ष्म निरीक्षण और गहन अध्ययन कहा जा सकता है।

उपन्यास में बुनकर मुसलमानों द्वारा निजी लहजे में बोली जाने वाली भोजपुरी के साथ ही उर्दू भाषा के शब्दों का प्रयोग भी कुछ स्थानों पर बखूबी किया गया है। ये मुसलमान आम-बोलचाल के लिए तो भोजपुरी भाषा का प्रयोग करते हैं लेकिन लिखने-पढ़ने की भाषा अधिकांशतः उर्दू ही रहती है। उदाहरण के लिए बनारस के बुनकर अस्पताल के उद्घाटन के सन्दर्भ में छपवाए गये पम्पलेट की भाषा के रूप में देखा जा सकता है। जिसमें हबीबुल्ला लिखते हैं कि "हम बड़ी मसर्रत के साथ यह एलान करते हैं कि तौसीय-इमारत के सिलसिले में आली जनाब वाइस चांसलर साहब, उस्मानिया यूनिवर्सिटी हैदराबाद तशरीफ ला रहे हैं। उन्हीं के मुबारख हाथों से तौसीअ तामीर की ईंट रखी जाएगी और यह प्रोग्राम तीन रोज का होगा। उम्मीद है कि आप इस सह्नोजा (त्रिदिवसीय) प्रोग्राम में हस्ब साबिक (यथासाध्य) तामीर के मंसूबा की तकमील में तआ ऊन फरमायेंगे। आपकी मिल्ली गैरत (राष्ट्रीय भावना) और दीनी हमियत (धर्म-भावना) से उम्मीद है कि ईसारो-इत्तेफाक (त्याग और एकता) का शानदार मुजाहरा फरमायेंगे, ताकि बीमार और दर्द से कराहते मरीज मुस्कराकर आपको दुआओं से याद करें।"[50]

संवादमयी भाषा के रूप में गालियाँ भी प्रचुर मात्रा में उद्धृत की गयी हैं। लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि "इस उपन्यास में अब्दुल बिस्मिल्लाह नये परिवेश के साथ भाषा के नये व्यक्तित्व को आकार देने में सफल हुए हैं। वे एक ऐसी भाषा की सृष्टि कर पाए हैं जिसमें गालियाँ शाब्दिक अर्थ को खोलकर मुहावरा बन जाती हैं। इस भाषा के सहारे पाठक संवेदना की भीतरी परतों से जुड़ता चला जाता है। मूल्यांकन की बात

बाद में आती है, उपन्यास का एक बुनियादी गुण है पाठकीय हिना। यह कहना शायद अतिशयता नहीं होगी कि 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' भाषा के साथ यात्रा का एक सुखद अनुभव कराता है।"[51]

संवाद को यदि कम शब्दों में और चुटीली भाषा में प्रस्तुत करना हो तो ऐसे में मुहावरों का महत्व विशिष्ट हो जाता है। उपन्यास में कई स्थानों पर प्रचलित मुहावरों का धाराप्रवाह प्रयोग मिलता है। इस सन्दर्भ में एक संवाद मतीन और बैंक के मैनेजर के बीच का देखा जा सकता है। हाजी अमीरुल्ला पहले ही फर्जी तरीके से बैंक से पैसा लेकर सोसाइटी बना चुके हैं। मतीन जब सोसाइटी की बात करने जाता है तो मैनेजर आमतौर पर जुलाहों के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले मुहावरों का धाराप्रवाह प्रयोग करते हुए कहता है कि "तुम लोग एक साथ कितनी सोसायटियाँ बनाना चाहते हो ? क्या तुम सोचते हो कि सरकार इतनी बेवकूफ है ! वाकई रह गये तुम जुलाहे के जुलाहे। वह मुहावरा है न 'जुलाहे बुगुनाहे पचास जूता' सो ठीक ही है।...वह देहाती मसल ठीक ही है, 'गगरिये अनाज, जोलहवै राज !' किसी ने तुम लोगों को 'उल्टी खोपड़ी' का कहा है तो ठीक ही कहा है...।"[52] ऐसी भाषा के प्रयोग से कथा के तारतम्य को प्रवाह और लय तो मिलता ही है साथ ही लेखकीय कौशल का भी बखूबी परिचय प्राप्त होता है।

'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' की भाषा में बुनकर समाज की विशिष्ट शब्दावली है, मुहावरें और गालियाँ हैं। इन सबके प्रयोग से मिलकर ही काशी की विशिष्ट भाषाई संस्कृति बनती है। बिस्मिल्लाह जी ने अपने भाषाई कौशल के जरिये अंसारी बुनकरों की समस्या, सांप्रदायिकता, अन्धविश्वास, मजहबी रूढ़ियों और राजनीतिक सत्ताधारियों की कुचालों को परत-दर-परत कथा संरचना में बेहद सटीक ढंग से प्रस्तुत करने में सफलता अर्जित की है।

'नीला चाँद' उपन्यास भाषिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। इस उपन्यास में मध्यकालीन समय को कथा का आधार बनाया गया है। अतः स्वाभाविक है कि इसकी

भाषा में तत्सम् निष्ठ शब्दों का प्रयोग बहुतायत किया गया है। मध्यकालीन सांस्कृतिक बोध को पाठक तक पहुँचाने के लिए यह आवश्यक भी था। सुविधा के लिए उन शब्दों के अर्थ कोष्ठक में बता दिए गये हैं। जैसे 'अपनास' (नाक), 'वृषल' (दोगला), 'रसवती' (रसोई), 'शंकुली' (पूरी), 'विषणक' (व्यापारी), 'सर्बला' (गड़ासा), 'निकोच' (पिश्ता), 'उरवा' (तसली), 'ज्वाल' (कीचड़) इत्यादि अनेकों शब्द उपन्यास में दिखाई देते हैं। इसके साथ ही उपन्यास में बीच-बीच में श्लोकों के उद्धरण भी दिए गये हैं। पात्रों के स्तर पर भाषा के व्यवहार में कुछ अंतर दिखाई देता है। प्रायः पढ़े-लिखे और राजपरिवारों से संबंधित व्यक्तियों की भाषा में सामान्य जनों की भाषा से उच्चारण के स्तर पर अंतर दिखाई देता है। फलस्वरूप प्रहरी, बब्बर नट, महेसुवा जैसे ग्रामीण लोगों की भाषा में देशज शब्दों की प्रचुरता दिखाई देती है। मसलन, 'चक्करवरती', 'किरोध', 'सान्ती', 'पांख', 'किल्ला', 'उज्जर', 'जोद्धा', 'परतिच्छा' जैसे शब्दों का आधिक्य भी उपन्यास में है। प्रहरी की भाषा लोकभाषा के निकट ले जाती है। उदाहरणस्वरूप "उसने पूछा कि किस बेला में जनम लिहे से लड़का तीनों भुवन का राजा बनेगा ? तब जोतिसी लोग बोले, जब शुभ गरह एक, चार, सात, अथवा दशम में होवेंगे और पाप गरह तीन, छह अउर एगारह में होवेंगे तो उस बेला में जनमा लड़का समराट होगा। हमने तो भइया अइसा कभी नहीं देखा।...रानी तो भइया मर गई बाकी ई करन राजा चक्करवर्ती हो ही गया।"[53] एक दूसरा उदाहरण "तुम कहाँ के रहवैया हो, भाई"[54] द्रष्टव्य है। इस तरह की भाषा का प्रयोग शिवप्रसाद सिंह को लोक और शास्त्र के समन्वय द्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित करता है। संस्कृतनिष्ठ शब्दों और देशज शब्दों का अद्भुत समन्वय 'नीला चाँद' में दिखाई देता है।

'नीला चाँद' में लोकगीतों का भी प्रयोग मिलता है। लोकगीतों का प्रयोग भाषा की स्वाभाविकता को और भी बढ़ा देता है। आदिवासियों द्वारा गाया गया लोकगीत, बब्बर नट द्वारा गाये जाने वाला कर्मा गीत या युवती द्वारा गाये जाने वाला गीत कहीं न कहीं हमारे

हृदय को झंकृत कर देता हैं। युवती द्वारा गाये जाने वाला गीत राजा कीरत सिंह की दशा को सही अर्थों में व्यक्त करता है-

"हंसा फिरत विपत के मारे अपने देश निनारे,

अब का बैठे ताल तलइयां छोड़े समुद किनारे।

अपने देश निनारे-अपने देश निनारे-"[55]

बब्बर नट के गीत में उसकी अपनी और अपने पूरे समुदाय की पीड़ा अभिव्यक्त हुई है-

"बड़ाले राजा गाइ-भंइसिया

काहे बदे राजा हंसा राज छोड़बा

जनम दिन राजा बेड़ेलन गाइ भंइसिया

दस दिन राजा हंसा राज छोड़बा

(राजा ने गायें-भैसें छीन ली। राजा ने राजहंस ले लिए। जन्मदिन पर गायें-भैसें लीं और दस दिनों बाद राजहंस छीन लिए)।"[56] यह बब्बर की पीड़ा है जिसके कारण उसे शोणनद और अपनी झोपड़ियों को छोड़ना पड़ा। सूरज गोड़ के उपालंभ भरे गीत में काशी को कंस रूपी कर्ण से मुक्ति की कामना है। वह कीरत सिंह को संबोधित करते हुए अपना गीत गाता है-

"निकट चलि आवो हो महराजा...

एक तो जमुन जल गहरा, जमुन जल गहरा

दूजे बंकासुर क पहरा

निकट चलि आवो हो महराजा"[57]

शिवप्रसाद सिंह को आदिवासी संस्कृति और लोकव्यवहार की गहरी पहचान है। इसीलिए उन्होंने उपन्यास में उनकी लोक संस्कृति के अभिन्न अंग लोकगीतों को प्रधानता

दी है। उनके कबीलों के बीच होने वाले नृत्य, संगीत, गीतों को अपनी अद्भुत भाषा कौशल से 'नीला चाँद' में पिरोया है। सूरज गोड़ द्वारा गाया जाने वाला गीत "कालर मैना रे-ए, ए-ए / कवन नदी बहइ निराधार, कवन नदी चढ़इ सिधरी मछरिया / कवन नदी चढ़इ घरियार / कालर मैना रे-ए, ए-ए / गुपत नदी चढ़इ सिधरी मछरिया / बिजुल चढ़इ घरियार / कालर मैना रे ए-ए-ए-ए।"[58] इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

'नीला चाँद' में एक-दो जगहों पर अपभ्रंश के दोहों का भी प्रयोग मिलता है। यह दोनों उदाहरण सिद्धहेमशब्दानुशासन से लिए गये हैं। जैसे-

"खग्ग-विसाहिउ जहिं लहहुं, पिय तहिं देसहिं जाहुं।
रण दुत्भिक्खें भग्गाइ विणु जुज्झे न वलाहुं।"[59]

और

"अग लिय नेह निव्वट्टाहं जोअण लक्खु वि जाउं
वरिस सएण वि जो मिलइ सखि सोक्खहं सो ठाउं।"[60]

इस प्रकार स्पष्ट है कि भाषा की दृष्टि से 'नीला चाँद' में संस्कृत शब्दों के साथ-साथ ग्रामीण बोली के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। इसके अलावा लोकगीत, आदिवासी संस्कृति से जुड़े तत्वों की प्रधानता और उसके अनुरूप भाषिक संरचना का अद्भुत प्रयोग दिखाई देता है। संस्कृत के श्लोक, अपभ्रंश के दोहों का प्रयोग एक व्यापक भाषिक विविधता को व्यक्त करता है। संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि 'नीला चाँद' में भाषाओं के समन्वय की विराट चेष्टा देखने को मिलती है।

'वैश्वानर' उपन्यास वैदिक कालीन काशी के समाज को हमारे सामने प्रस्तुत करता है। अतः इस उपन्यास में उसी समाज की भाषा का प्रयोग किया गया है। 'वैश्वानर' में संस्कृत

के शब्दों की बहुलता है। जगह-जगह संस्कृत के शब्दों और वेदों से उद्धृत श्लोकों की प्रमुखता दिखाई देती है। उदाहरण के रूप में इन श्लोकों को देखा जा सकता है-

"अहं राष्टी संगमनी चिकीतुषी प्रथमा यज्ञियानाम्

तां मां देवा व्यदधु पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्या वेशयन्तीम्"[61]

दूसरा उदाहरण

"सत्यं वृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो

ब्रहम यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति

सनो भूतस्य भवस्य पत्नयुरं

लोकं पृथिवीं नः कृणोतु... ।"[62]

इन श्लोकों के नीचे हिंदी में इनके अर्थ भी बता दिए गये हैं। लेकिन उपन्यास पढ़ते समय इस उपन्यास की भाषा कहीं न कहीं बाधा जान पड़ती है। इसके अलावा उपन्यास में एक-दो जगहों पर काशी में प्रचलित लोकगीतों का प्रयोग भी हुआ है। जैसे-

"सूर्या प्रिया आज पति-गृह चली

आशीः मंत्रों (रैभी) की माला-सहेली बनी

सखियाँ मिली फूल जैसी खिलीं।

सूर्या प्रिया आज पति गृह चली।।

साम ध्वनि में सजी जो थीं संगीतमय

ऋचाएँ वही दासियों-सी मिलीं।

सूर्या प्रिय आज पति गृह चली।।"[63]

इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि "उपन्यास के शिल्प में एक दुरुहता इसलिए भी है कि शिवप्रसाद जी नामों, स्थानों, उद्धरणों और उक्तियों का ठीक-ठीक हिंदी भाषांतरण

नहीं कर पाते हैं। वेदोक्तियों, संस्कृत के उद्धरण, पुराण प्रसंग उन्हें बराबर मथते रहते हैं और वे संस्कृत शब्दों, पदबंधों का सरलीकरण नहीं कर पाते। 'वैश्वानर' में उद्धरण और अनुवाद बहुत अधिक हैं। इसके अतिरिक्त अपनी भाषा में सरलता लाने के लिए वे ग्रामीणीकरण भी करते हैं। हैहय 'लुटेरो', 'दौड़ी', 'अथवा' जैसे जनपदीय शब्द हैं तो कहीं-कहीं संस्कृत उद्धरण इस दुहरे आक्रमण के कारण भाषा हिंदी के बाहर झांकती रहती है। बीच-बीच में ऋग्वेद, जै वैश्वानर की जयकार होती है। इस उपन्यास की शिल्प की ग्रंथि उद्धरणों और अनुवादों से भरी हुई है। ये सारी ग्रंथियाँ शिल्प के प्रवाह को अवरोधित करती हैं।"[64] इस दृष्टि से अगर देखा जाये तो इतना स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि 'वैश्वानर' की भाषा उपन्यास की सरलता में बाधक बनती है।

काशीनाथ सिंह ने 'काशी का अस्सी' में उपन्यास के परम्परागत ढाँचे को नकारते हुए एक नये शिल्प में उपन्यास की रचना की है। इस उपन्यास के कथाक्रम में असम्बद्धता होते हुए भी एक आंतरिक डोर है जो सबको बाँधे रखती है। इसके पात्र, घटनाएँ कथा सभी जीवित लोगों की है। जिसने जो कहा उसे सूत्रबद्ध करने का कार्य काशीनाथ सिंह ने किया है। इसे सूत्रबद्ध करने में साथ देती है उनकी कथा कहने की शैली। इस उपन्यास के प्रत्येक खण्ड अलग-अलग पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए है। इसका पहला भाग 'देख तमाशा लकड़ी का' 'हंस' (नवम्बर 99) में प्रकाशित हुआ। इसके बारे में उपन्यासकार ने लिखा है- ''मित्रों यह संस्मरण व्यस्कों के लिए है बच्चों और बूढ़ों के लिए नहीं।''[65] इसका दूसरा भाग 'सन्तों घर में झगड़ा भारी' कथा-रिपार्ताज के रूप में छपा। चूँकि उपन्यास के सारे खण्डों का सम्बन्ध 'अस्सी' से है इसलिए इसे एक जगह संकलित करके 'काशी का अस्सी' नाम दिया गया।

इस उपन्यास के शिल्प के विषय में आरम्भ से ही विवाद बना रहा। इस उपन्यास के फ्लैप पर लिखा है कि- ''कहानियों और संस्मरणों के चर्चित कथाकार काशीनाथ सिंह का

नया उपन्यास- 'काशी का अस्सी'। जिंदगी और जिंदादिली से भरा एक अलग किस्म का उपन्यास। उपन्यास के पारंपरिक मान्य ढाँचों के आगे प्रश्नचिन्ह।''[66] साहित्य की किसी भी विधा के परम्परागत ढाँचे को तोड़ना रचनाकार के लिए जोखिम भरा होता है। इस खतरें को उठाया है काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यास 'काशी का अस्सी' में। इस उपन्यास के शिल्प के विषय में डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं ''अब तक चली आती हुई 'वेलमेड' औपन्यासिक परम्परा के नकार और भी हैं किन्तु यह तो अमोघ नकार है। यह नकार ही उसकी शक्ति है। नकार का साहस सबमें नहीं होता है... 'काशी का अस्सी' का रूप तो खाँटी देशज है। मार्ग से इसका दूर-दूर तक रिश्ता नहीं है। खाँटी देशज रूप का यह उपन्यास है। इसमें भाषा चरित्र और लोकेल आदि सभी अस्सी के हैं पर प्रभावान्विति अस्सी के दायरे का अतिक्रमण कर दूर-दूर तक फैल जाती है।''[67]

'काशी का अस्सी' का शिल्प विधान अपने आप में अनूठा है जिसके कारण ही उसकी पहचान निर्मित हुई है। इसमें संस्मरण, कथा-रिपोर्ताज इत्यादि को स्थान दिया गया है और एक नये प्रकार के उपन्यास की सृष्टि की गयी है। '' 'काशी का अस्सी' अपनी निर्मिति और आंतरिक आशय में अब तक की सुपरिचित औपन्यासिक रूढ़ियों को परे हटाता हुआ बिलकुल बुनियादी स्तर पर एक प्रकार के प्रस्थान की सूचना देता है।''[68]

इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी भाषिक संरचना। इस उपन्यास की भाषा शुद्ध खड़ी बोली न होकर अवधी, भोजपुरी, तथा भदेश शब्दों से मिलकर निर्मित हुई है। इसमें लोकभाषा के शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों, कहावतों तथा अश्लील शब्दों को प्रचुरता से इस्तेमाल किया गया है। कोई भी भाषा तभी सफल हो सकती है, जब वह अपने लोकभाषा के शब्दों को लेकर चलती है। लोकभाषा में लिखा साहित्य वहाँ के लोगों का प्रतिनिधित्व करता है। हबीब तनवीर कहते हैं ''महान साहित्य का स्रोत बोलियाँ ही रही है। तुलसी, मीरा, कबीर ने अपनी ताकत लोक भाषा से ही हासिल की। मैं मानता हूँ कि भाषा

का निर्माण निरन्तर वे करते हैं जो उसे बरतते हैं या जिन्हें उसकी जरुरत पड़ती है।..... हमारे यहाँ भाषा के विद्वान शब्द निर्माण के लिए लोगों के पास जाने और सीखने की बजाय ग्रन्थों-शब्दकोषों का सहारा लेते हैं। यह कृत्रिम प्रक्रिया है।''[69] काशीनाथ सिंह भी अपनी भाषा का निर्माण इन्हीं बोलियों में रचे-बसे शब्दों से करते हैं। उन पर लोक का गहरा प्रभाव है जो उनकी कृतियों में दिखाई देता है। उनकी भाषा परम्परागत और शास्त्रीय ढाँचे को तोड़कर विकसित हुई है।

'काशी का अस्सी' में अस्सी के लोगों की जीवनशैली, व्यवहार तथा दैनिक क्रियाकलाप को उन्हीं की भाषा में व्यक्त कर दिया है। लोक में प्रचलित मिथकों, मुहावरों, लोकोक्तियों आदि का प्रयोग इस उपन्यास की अपनी विशेषता है। ''परलैं राम कुकुर के पाले, खीच खाँच के ले गये खाले।''[70] ''जहाँ गई डाढ़ो रानी, वहाँ पड़े पाथर पानी।''[71] ''जो अहिर समझावै, ऊ बावन वीर कहावै।''[72] 'भाई, भतीजा, भानजा, भाँड़, भूत, भुइंहार, ए छओ भकार से सदा रहो हुसियार।' इत्यादि मसलें किसी ग्रन्थ में नहीं मिलती हैं। यह सिर्फ लोक में रची-बची हैं जिसकी अभिव्यक्ति 'काशी का अस्सी' में हुई है। यह हिंदी की जातीय परम्परा है जो लोक के जबान की टेक से निर्मित हुई है। इसके विषय में नामवर सिंह का मानना है ''वह हिंदी का जातीय गद्य हो ही नहीं सकता जिसमें 'भेदसपन' न हो। भारतेन्दु रईस थे लेकिन गद्य देखिए- सड़क छाप, पनवाड़ी की दुकान का गद्य। परसाई और प्रेमचन्द का गद्य देखिए।''[73]

इस उपन्यास के भाषा के संबन्ध में देवेन्द्र लिखते हैं ''आज काशीनाथ सिंह के पास हिंदी की समृद्ध और लोकरंजक भाषा है। जो न सिर्फ भाषा के परम्परागत और शास्त्रीय ढाँचे को तोड़कर विकसित हुई है बल्कि समाज में जो भी कुलीन प्रभामंडल का छद्म फैला हुआ है उस पर वज्रपात करके पली-बढ़ी है।''[74]

'काशी का अस्सी' पर आरोप भी लगाया जाता रहा है कि इसकी भाषा अश्लील है। इसमें गालियों का प्रयोग किया गया है। जबकि ध्यान से देखा जाए तो ये गालियाँ इसमें आरोपित नहीं की गयी हैं बल्कि अस्सी के पात्रों के बीच आपस में चलने वाली बातचीत की टेक है। इसके बारे में काशीनाथ सिंह का कहना है- " 'काशी का अस्सी' में प्रयुक्त होने वाले शब्द गालियाँ नहीं, वहाँ के लोगों के जबान की टेक हैं। गालियों में कड़वाहट, तीतापन होता है। गालियाँ रिश्तों को तोड़ती हैं। पूरा उपन्यास पढ़ने के दौरान आप देखे कि पात्रों के रिश्ते कहीं प्रभावित नहीं होते। उनसे किसी का अहित भी नहीं होता। एक बात और ज्यादातर गालियाँ किसी को संबोधित नहीं है। वे सिर्फ झुंझलाहट या भड़ास है पात्र की- मौजूदा राजनीतिक-सांस्कृतिक व्यवस्था पर।... ये गालियाँ नहीं, लोक प्रचलित मुहावरें हैं, जिनके बनने में सदियाँ लगी हैं और इन मुहावरों में समय-समय पर नये-नये अर्थ भरते चले गये हैं।"[75] आज भी गाँव में विवाह, तीज-त्यौहार आदि के अवसर पर गाली देने की परम्परा है जो मनुष्य के रागात्मक संबंधों को विस्तार देती है।

ऐसे में काशीनाथ सिंह ने इस उपन्यास के माध्यम से हिंदी भाषा को समृद्ध करने का काम किया है। इस उपन्यास की भाषा के संबंध में अजय मिश्र लिखते हैं- "भाषा इस उपन्यास की विशेषता है। भाषा अपनी पूरी कथात्मकता के साथ गंगा की तरह अबाध बह रही है। न छंद टूट रहा है न लय टूट रही है।"[76]

इस तरह 'काशी का अस्सी' में काशीनाथ सिंह ने एक नवीन शिल्प विधा का निर्माण किया है जो नितान्त उनका अपना है। भाषा की बनावट इस उपन्यास की अपनी प्रमुख विशेषता है जिसके माध्यम से अस्सी के लोगों का यथार्थ चित्रण किया गया है। "इस उपन्यास के शिल्प-विन्यास और इसकी भाषा में प्रत्यक्ष 'दुस्साहसिकता' है, पर उसी के सहारे बहुत प्रमाणित ढंग से यह अपने महान काव्यात्मक अर्थ संसार को सामने ला सका है।"[77]

'पक्का महाल' भाषा की दृष्टि से काशी की विशिष्ट भाषाई संस्कृति को अपने अंदर समेटे हुए हैं। बनारस की बोली, मुहावरे, लोकोक्ति, बनारस के अपने सूक्ति वाक्य, यहाँ की गालियाँ और सबसे महत्वपूर्ण उसको जस का जस उपन्यास में रखने की शैली इसकी महत्वपूर्ण विशेषता है। बनारसी बोली के अधिकांश उदाहरण उपन्यास में भरे पड़े हैं। पात्रों के संवाद बनारसी बोली में ही कहे गये हैं। इसके बावजूद इसकी पठनीयता पर कोई असर नहीं दिखाई देता है।

'पक्का महाल' उपन्यास में बनारसी बोली और उसको बोलने के लहजे का जस का तस प्रयोग किया गया है। ग्रामीण देशज शब्दों में गुथी यह भाषा उपन्यास में एक नई शक्ति का संचार करती है। उपन्यास का प्रारम्भ ही इन पंक्तियों से होता है- "का हो सुनला मुसद्दीमल सादी करत हउअन। जब समै रहल तब त कइलन नाहीं। अब बुढ़ारी में सउक चर्रायल हौ। जाये द रंडुअन आउर भडुअन क भला होई।"[78] मुसद्दीमल के पिता झाऊमल का नाम सुबह-सुबह नहीं लिया जाता है। उनके बारे में प्रायः यह प्रचलित है कि "जे बिहाने-बिहाने एनकर नाम लेई ओकर दिन भर क जात्तरा बिगड़ल रही। अन्न से त भेटों न होई..."[79] अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग बनारसी बोली में एक अलग रूप में प्रकट होता है। उदाहरण स्वरूप "तनी खोल के बतावअ तोहार पिराबलम का हौ !"[80] मुसद्दीमल और गिंदौरी गुरु के बीच के वार्तालाप का एक उदाहरण प्रस्तुत है- "मुसद्दीमल ने संकोच से कहा, "अब तोसे का बताई। एक तू ही त हमार दोस्त हउआ, जेसे हम आपन मन क कह हल्लुक हो सकीला। लरिका-बच्चा नाहीं हौत हौ। कउनो उपाय बतावअ !"

"त ऐमे परेशानी क कउन बात हौ" गिंदौरी गुरु ने सांत्वना दी, "आज नाहीं त कल होबे करी। बस तू कोसिस करत रहा। टराई मारत रहा।"[81] इस प्रकार के अनेक प्रसंग उपन्यास में भरे-पड़े हैं। बनारसी अंदाज में कही गयी बातें मन को गुदगुदाती हैं।

बनारस की भाषा-बोली में ऐसी अनेक सूक्तियों का प्रयोग किया जाता है जो आपको अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। बात-बात पर एक दूसरे को इन पदवियों और सुक्तिनुमा वाक्यों से लोगों को विभूषित किया जाता है। गिंदौरी गुरु मुदाद्दिमल के बारे में कहते हैं कि "खाय के घास नाहीं, नहाय के तड़के। ऐही के कहल जाला बाप क नाम साग-पात, बेटवा क नाम परोरा।"[82] एक दूसरा उदाहरण "हारब त हुरब जीतब त थूरब।"[83], "यार गजेड़ी किसके, दम लगाया खिसके।"[84], "कहावत है रोग की जड़ खांसी, दुश्मनी की जड़ हांसी।"[85] इसके अलावा कुछ विशेष पदवियाँ भी हैं जिनसे लोगों को विभूषित किया जाता है। इसमें परमलंठ, बकलोल, परमबकलोल, मउगा, चोन्हर इत्यादि प्रमुख हैं।

बनारसी बोली में भी विविधता है। विभिन्न समुदायों की बोली अलग-अलग है इस संबंध में उपन्यास का पात्र माता प्रसाद कहता है कि "बनारसी बोली क भेद में भी भेद हौ, जैसे पियाज में परत के अन्नर परत, वैइसने हौ बनारस के बोली। खास बनारस में अगरवाल क बोली दूसर हौ, नागर गुजराती लोगन का दूसर हौ, कसेरा लोगन क दूसर हौ। पंडा-पुजारिन क भाषा अलगे हौ। पुस्तैनी बनारसी लोगन क दूसर हौ। सबकअ आपन ढंग अउर आपन रंग हौ। तौन ई बोली क खास बात ई हौ की इहां क रहे वाले एक्के बतिया क बखत-बखत पर अलगे मजा लेवलन। बतिया ढेर टेढ़ नाहीं हौ, पर समझे के बदे इहां क धूर चाटे के पड़ी। तब्बे ई कुल समझ में आई।"[86] बनारसी बोली विविधता में भी एकता की परिचायक है। उसकी बोली में मस्ती है। "बनारस का मतलब ईंट और पत्थर के, चुने और सुरखी के शहर से नहीं है। उस शहर से है, जिसकी बोली में मस्ती है, खस्ती नहीं। तेजी है, सुस्ती नहीं। उठान है, बैठान नहीं। चपेट है, लपेट नहीं। आग है, लाग नहीं। दमदारी है, खमदारी नहीं। लचक है, भचक नहीं। बनारसी बोली खपतुलहवासी में नहीं बोली जा सकती है।"[87] "संस्कृत में वक्रोक्ति और काकु कहा गया है, उसकी अद्भुत छटा है बनारसी बोली में।...बनारसी बोली की हर बात में, हर लहजे में काकु है। काकु नहीं तो बनारसी बोली

नहीं। बात एक, पर, कड़क के, तड़क के, लटक के, झटक के, दब के, उभर के, मेल्ह के, सेल्ह के, बोलने से बात का मतलब बदल जाता है। हर बात के दो मतलब- दो अर्थ। मामला, माल, चिरई, ठुल्ली, पटेला, गोटा खाना, टाल, लग्घड़, लेना-देना, निमकीन, मलाई आदि ऐसे सैकड़ों शब्द हैं। इन्हें समझने के लिए बनारसी होना जरुरी है।"[88]

गालियाँ भी बनारस की पहचान है। अब धीरे-धीरे इन गालियों का ह्रास होता जा रहा है। गालियाँ संबंधों को तोड़ने का नहीं बल्कि जोड़ने का काम करती थी। शादी, तीज-त्यौहार के अवसर पर गाली देने की प्रथा कहीं-कहीं आज भी मौजूद है। बनारसी गालियों का अर्थ अब उस अर्थ में नहीं रह गया है जैसा पहले हुआ करता था। सियापति गुरु जी की बातों को सोचते हुए कहता है कि "कितना बदल गया है बनारस। अब यहाँ अव्वल तो लोगों को गुस्सा नहीं आता। यहाँ लोग नौकरीपेशा हैं, अध्यापक हैं, पत्रकार हैं, व्यापारी हैं, दुकानदार हैं, साव हैं, बनिया हैं, तेली हैं, तमोली हैं, पर बनारसी नहीं।"[89] अब बनारस में बनारसीपन खत्म होता जा रहा है। समाज बदल रहा है। अब किसी को समय नहीं कि वह किसी पान की दुकान, चाय की दुकान या किसी चबूतरे पर बैठ एक-दूसरे से गलचौर कर सके। बनारसी संस्कृति के बरक्स एक दूसरी संस्कृति जन्म लेना शुरू कर चुकी है। अब इसको समझने की आवश्यकता है।

स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि "बनारस एक बहुभाषी शहर है लेकिन वहाँ की अधिकांश जनता भोजपुरी बोलती है। यहाँ तक कि पढ़े-लिखे लोग भी अपने घर में इसी भाषा का प्रयोग करते हैं।"[90] इस बहुभाषी शहर में भोजपुरी का ही आधिपत्य है। इन उपन्यासों में काशी की भाषा/बोली का ही प्रयोग किया गया है जो उस समाज की सटीक अर्थवत्ता को संप्रेषित करने में सफल हुआ है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

[1] बहती गंगा, शिवप्रसाद मिश्र 'रूद्र', मेरी बात, पृ. 8

[2] आधुनिक हिंदी उपन्यासों में वस्तु-विन्यास, डॉ. सरोजिनी त्रिपाठी, पृ. 256

[3] बहती गंगा, शिवप्रसाद मिश्र 'रूद्र', पृ. 30-31

[4] वही, पृ. 94

[5] वही, पृ. 77

[6] वही, पृ. 98

[7] वही, पृ. 99

[8] वही, पृ. 15

[9] वही, पृ. 15

[10] वही, पृ. 18

[11] वही, पृ. 142

[12] वही, पृ. 143

[13] वही, पृ. 16

[14] वही, पृ. 16

[15] वही, पृ. 16

[16] अपना मोर्चा, काशीनाथ सिंह, पृ. 11

[17] वही, पृ. 11

[18] वही, पृ. 50

[19] वही, पृ. 103

[20] गली आगे मुड़ती है, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 13

[21] वही, पृ. 13

[22] वही, पृ. 14

[23] वही, पृ. 14

[24] वही, पृ. 15

[25] वही, पृ. 17

[26] वही, पृ. 17

[27] वही, पृ. 14

[28] वही, पृ. 14

[29] वही, पृ. 18

[30] वही, पृ. 21

[31] वही, पृ. 21

[32] वही, पृ. 27

[33] वही, पृ. 27

[34] वही, पृ. 36

[35] वही, पृ. 37

[36] वही, पृ. 37

[37] वही, पृ. 37

[38] वही, पृ. 37

[39] वही, पृ. 42

[40] वही, पृ. 71

[41] वैतरणी से वैश्वानर तक की यात्रा, आनंद कुमार पाण्डेय, पृ. 159

[42] गली आगे मुड़ती है, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 86

[43] वही, पृ. 87

[44] वही, पृ. 247-248

[45] वही, पृ. 106

[46] झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. 11

[47] वही, पृ. 12

[48] वही, पृ. 32

[49] वही, पृ. 47

[50] वही, पृ. 37

[51] समकालीन भारतीय साहित्य, बनारस के बुनकरों की संघर्ष-गाथा, जानकीप्रसाद शर्मा, पृ. 269

[52] झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. 102

[53] नीला चाँद, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 41

[54] वही, पृ. 42

[55] वही, पृ. 25

[56] वही, पृ. 99-100

[57] वही, पृ. 129

[58] वही, पृ. 283

[59] वही, पृ. 44

[60] वही, पृ. 46

[61] वैश्वानर, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 141

[62] वही, पृ. 392

[63] वही, पृ. 274

[64] वैतरणी से वैश्वानर तक की यात्रा, आनंद कुमार पाण्डेय, पृ. 181-182

[65] काशी का अस्सी, काशीनाथ सिंह, पृ. 11

[66] वही, फ्लैप से उद्धृत

[67] तदभव, बच्चन सिंह, अक्टूबर-दिसंबर, 2002, पृ. 245

[68] जनसत्ता, पंकज सिंह, 26 मई, 2002, दिल्ली, कोलकाता

[69] सहारा समय, हबीब तनवीर, 28 जनवरी, 2006, पृ. 40

[70] काशी का अस्सी, काशीनाथ सिंह, पृ. 28

[71] वही, पृ. 56

[72] वही, पृ. 60

[73] तदभव, काशीनाथ सिंह, जनवरी, 2004, पृ. 159

[74] कथादेश, देवेन्द्र, नवम्बर, 2003, पृ. 95

[75] कथाक्रम, सुशील सिद्धार्थ द्वारा काशीनाथ सिंह का साक्षात्कार, अक्टूबर-दिसंबर, 2002, पृ. 8

[76] साक्षात्कार, अजय मिश्र, मई, 2002, पृ. 123

[77] जनसत्ता, पंकज सिंह, 26 मई, 2002, दिल्ली, कोलकाता

[78] पक्का महाल, अजय मिश्र, पृ. 9

[79] वही, पृ. 12

[80] वही, पृ. 17

[81] वही, पृ. 17

[82] वही, पृ. 20

[83] वही, पृ. 98

[84] वही, पृ. 134

[85] वही, पृ. 244

[86] वही, पृ. 248

[87] वही, पृ. 248-249

[88] वही, पृ. 249

[89] वही, पृ. 249

[90] Varanasi is a polyglot city, but the majority of the...population of the district speaks bhojpuri, and even the educated people speak it in their homes. Living Banaras, ed. Bradley R. Hertel & Cynthia Ann Humes, P. 9

उपसंहार

प्राचीन काल से ही 'काशी' अपनी समृद्ध सामाजिक और सांस्कृतिक परंपरा के लिए प्रसिद्ध रही है। चूँकि काशी सदैव से धर्म, अध्यात्म और व्यापारिक नगर के रूप में केंद्र में रही है, इसलिए अलग-अलग समय के साहित्य में उसके अलग-अलग नामों का उल्लेख भी मिलता है। काशी, वाराणसी, अविमुक्त, आनंदकानन, महाश्मशान जैसे तमाम नामकरण काशी की अपनी विशिष्ट उपलब्धि के परिचायक हैं। ऐतिहासिक काल में काशी जनपद का विशेष महत्व उसकी व्यापारिक और भौगोलिक स्थिति के कारण रहा है। व्यापार के लिए 'गंगा' का सहारा लिया जाता था। इस तरह से 'काशिक चंदन और वस्त्र का व्यापार होता था। जैन काल में काशी का महत्व एक प्रसिद्ध तीर्थ के रूप में था। यह नगर जैन साहित्य और संस्कृति का एक प्रमुख केंद्र रहा है। बौद्ध कालीन समय में काशी की ख्याति शिक्षा के एक प्रमुख केंद्र के रूप में थी। साथ ही जातकों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समय में काशी की व्यापारिक स्थिति भी काफी समृद्ध थी। धार्मिक दृष्टि से भी बौद्धकाल में काशी एक प्रमुख तीर्थस्थल था और बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश वाराणसी के समीप 'सारनाथ' में दिया था। शुंग काल में भी काशी की विरासत को सुरक्षित रखने के प्रयास होते रहे। आगे चलकर कुषाणों के समय काशी में शैव धर्म के चिह्न दिखाई पड़ने लगते हैं। गुप्त काल में काशी में बौद्ध और जैन धर्म के साथ-साथ शिवलिंगों की स्थापना के संकेत भी मिलते हैं। इस तरह 'धर्म' के उन्नत रूप को उत्तरोत्तर प्रश्रय मिलता रहा। लेकिन अधिकांश मुस्लिम शासकों के शासनकाल में काशी के मंदिर बार-बार तोड़े गए तथा उन पर मस्जिद के निर्माण के संकेत मिलते हैं। तत्पश्चात् 'मुगल काल' में पुनः विश्वनाथ मंदिर का निर्माण करवाया गया लेकिन औरंगजेब ने उसे पुनः तोड़कर उस पर मस्जिद का निर्माण करवा दिया। तात्पर्य यह कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में काशी के समाज, संस्कृति, परंपरा, धार्मिक विश्वास और मान्यताएं जितनी दृढ़ और समृद्ध रही है, उतने ही उथल-पुथल और संकट के

दौर से भी इस नगर को गुजरना पड़ा है। किसी भी नगर अथवा शहर को समझने तथा उसके महत्व को जानने के लिए सबसे पहले उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझा जाना आवश्यक है।

किसी भी समाज को उसके पूरे परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए साहित्य की विशिष्ट भूमिका होती है। हिंदी साहित्य में भी उपन्यास विधा अपने विस्तृत फलक के कारण अनेक सन्दर्भों को एक साथ समेटने में सफल रही है। साहित्य के जरिए 'काशी' शहर के विभिन्न पहलुओं को जानने के लिए भी 'उपन्यास' विधा को सबसे सफल माना जा सकता है। कुछ उपन्यास ऐसे हैं जो पूर्णतः काशी को केंद्र बनाकर लिखे गए हैं और कुछ उपन्यासों में केवल अंश रूप में काशी का वर्णन मिलता है। पूर्णतः केंद्रित उपन्यासों को ही मैंने अपने मुख्य अध्ययन का आधार बनाया है, क्योंकि अंशतः केंद्रित उपन्यासों में काशी का केवल नाममात्र उल्लेख हुआ है। पूर्णतः केंद्रित उपन्यासों में 'गुलेनार', 'बहती गंगा', 'अपना मोर्चा', 'गली आगे मुड़ती है', 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया', 'नीला चाँद', 'वैश्वानर', 'काशी का अस्सी' और 'पक्का महाल' प्रमुख है। इन उपन्यासों में वेश्यावृत्ति, काशी में हुआ भाषा आंदोलन, विश्वविद्यालयों में छात्र राजनीति और भारतीय राजनीति के अवमूल्यन समस्या, शिक्षा व्यवस्था का अवमूल्यन, विधवा एवं वृद्धों की समस्या, धर्म के नाम पर हो रहे अनैतिक कार्यों की चर्चा, छुआछूत और जाति-पाँति का भेदभाव, साथ ही बुनकरों की समस्या का विस्तृत एवं सुगठित वर्णन किया गया है।

अधिकांश उपन्यासों (नीला चाँद, गुलेनार, झीनी-झीनी बीनी चदरिया) में काशी के वस्त्र व्यापार का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में क्रमिक वर्णन देखा जा सकता है। 'नीला चाँद' में मध्यकालीन समय के काशी के वस्त्र व्यवसाय के उन्नत रूप की चर्चा की गयी है। तत्पश्चात् 1907 ई. में प्रकाशित 'गुलेनार' में काशी के वस्त्र व्यापार में बड़े स्तर पर होने वाले मुनाफे का वर्णन किया गया है। इस तरह यह सूत्र आपस में जुड़ जाते हैं। बाद के

वर्षों में बनारसी साड़ी और उसको बुनने वाले बुनकरों की स्थिति में भी बदलाव आता है। जहाँ बनारसी साड़ियों की गुणवत्ता में दिन-प्रतिदिन गिरावट आती जा रही है वहीं बुनकरों की स्थिति भी खस्ताहाल है। पॉवरलूम्स के आ जाने से स्थितियाँ और भी विकट हुई हैं। इससे साड़ियों के उत्पादन में इजाफा तो हुआ है पर उसकी गुणवत्ता घटती गई। इन सारी स्थितियों की विवेचना को उपन्यासों के माध्यम से समझा जा सकता है।

यह बात ध्यान देने की है कि काशी केंद्रित उपन्यासों में विशेष रूप से 'गुलेनार', 'बहती गंगा' और 'नीला चाँद' में वेश्याओं की समाज में स्थिति का बखूबी वर्णन किया गया है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन उपन्यासों में वेश्या जीवन के नकारात्मक पक्ष के साथ-साथ उसके सकारात्मक पक्ष को भी अंकित किया गया है। 'गुलेनार' एक वेश्या होने के साथ-साथ नाटक कंपनी में काम करती है। वह समाज के रसूखवाले धनी लोगों से पैसे भी ऐंठती है। लेकिन अंततः उसे एक उपभोग की वस्तु के रूप में ही देखा जाता है। 'नीला चाँद' उपन्यास में गणिकाओं के स्वर्णिम इतिहास को रेखांकित किया गया है। इसके साथ ही कालांतर में उनकी हीन से हीनतर होती स्थिति का भी बड़ा यथार्थ वर्णन किया है। एक समय में वेश्याएं भी काशी के समाज और संस्कृति का हिस्सा हुआ करती थीं। बीसवीं सदी के इस गतिशील दौर में काशी ही नहीं बल्कि पूरे देश की सामाजिक व्यवस्था में वेश्याओं के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज में जाति-पाँति और छुआछूत का मुद्दा एक ज्वलंत समस्या बना हुआ है। वस्तुतः भारतीय समाज में जाति प्रथा का बोलबाला प्राचीन काल से ही सशक्त रूप में व्याप्त रहा है। 'वैश्वानर' उपन्यास में वैदिक कालीन काशी के समाज में 'मुंडा' और 'किरात' आदिवासी जातियों की स्थिति का वर्णन मिलता है। 'नीला चाँद' में मध्यकालीन काशी के समाज में डोम, चांडाल जैसी अस्पृश्य जातियों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इन्हें समाज में निम्न और घृणित समझे जाने वाले सभी कार्य करने

पड़ते थे। इस तरह उन्हें सदियों से निरंतर अपमान और तिरस्कार का दंश झेलना पड़ा है। 'गली आगे मुड़ती है' में काशी की हरिजन बस्तियों की बदहाल जिंदगी और दलित स्त्रियों के शोषण और दमन के भयावह चित्र देखे जा सकते हैं। आज भी काशी ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत में न तो इन दलित और आदिवासी लोगों के पास जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के साधन हैं और न ही इन स्त्रियों की सुरक्षा के कोई उपाय ही मौजूद हैं। वर्तमान समय में दलित और आदिवासी विमर्श की चर्चा जोरों पर है। लेकिन जब तक इन दलित बस्तियों और आदिवासी क्षेत्रों की वास्तविक जीवन स्थितियों का सर्वेक्षण नहीं किया जायेगा; तब तक इनके लिए बौद्धिक स्तर पर की जा रही कवायदें अपूर्ण ही रह जायेंगी।

काशी को समझने के लिए वहाँ समय-समय पर हुए आंदोलनों की पड़ताल भी आवश्यक है। इसलिए शोध अध्ययन के दौरान मैंने मुख्य रूप से काशी में 1967 में हुए भाषा आंदोलन पर विस्तृत चर्चा की है। 'अपना मोर्चा' और 'गली आगे मुड़ती है' में इस प्रसंग को सूक्ष्मता से उठाया गया है। अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'अंग्रेजी हटाओ' को लेकर खड़ा किए गए एक व्यापक आंदोलन को पुलिस ने अपनी दमनात्मक कार्यवाही द्वारा पूर्णतः समाप्त कर दिया गया था। इन उपन्यासों में छात्र असंतोष की व्यापक छवि को देखा जा सकता है।

शिक्षा व्यवस्था में आई गिरावट और भारतीय राजनीति के अवमूल्यन के अनेक चित्र उपन्यास में दिखाई देते हैं। विश्वविद्यालयों में शिक्षा के नाम पर जोड़-तोड़ की राजनीति हावी होती जा रही है। अध्यापकों में एक दूसरे को नीचा दिखाने का खेल निरंतर चलता रहता है। इन सारी स्थितियों की विवेचना आज के सन्दर्भ में भी प्रासंगिक है। इसके साथ ही भारतीय राजनीति की भ्रष्ट होती जा रही व्यवस्था को भी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। देश की राजनीति अपने मूल्यों को खोती जा रही है। उसका कोई सिद्धांत या आदर्श नहीं रह गया है। अपने स्वार्थ के लिए लोग तरह-

तरह के हथकंडे अपनाते हैं। चारों तरफ भ्रष्टाचार, बेईमानी, घूसखोरी का साम्राज्य फैलता जा रहा है। मंदिर-मस्जिद की आड़ में राजनीतिक पार्टियाँ अपना हित साधने में लगी हुई हैं। सारा कुछ जाति आधारित हो गया है। यह सारी गतिविधियाँ समाज के लोगों के बीच घटित हो रही हैं। अतः इससे अप्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता है। राजनीति के इस टुच्चेपन के कारण ही समाज विभाजित होता जा रहा है। हिन्दू-मुस्लिम के आपसी रिश्ते खराब हो रहे हैं। लोगों के बीच कटुता और वैमनस्य का भाव व्याप्त हो रहा है। सारा कुछ अव्यवस्था के दौर से गुजर रहा है। गलाकाट प्रतिस्पर्धा के इस दौर में कुछ भी सुरक्षित नहीं है। इन उपन्यासों में भारतीय राजनीति के चेहरे को नंगा किया गया है।

उपन्यासों के माध्यम से काशी पर केंद्रित शोध अध्ययन के जरिए मैंने इस प्राचीन नगर के मिथकीय स्वरुप, संस्कृति और आध्यात्मिकता के विभिन्न पहलुओं की पड़ताल करने के दौरान पाया कि संस्कृति को व्याख्यायित करने वाले रहन-सहन, वेश-भूषा जैसे तत्वों के अतिरिक्त एक समय में पारसी थियेटर कंपनियों द्वारा वहाँ की सांस्कृतिक गतिविधियों को प्रभावित करने के अनेक चित्र भी मौजूद हैं। हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वयात्मक रूप का अद्भुत मेल काशी की अपनी विशिष्टता है। मेलों की संस्कृति, मंदिर-मस्जिद का एक ही स्थान पर उपस्थित होना, दशहरा और ईद के अवसर पर हिन्दू-मुस्लिम समुदाय के लोगों का एक ही स्थान पर बैठकर भोजन करना जैसे अनेक प्रसंग आज भी 'काशी' की संस्कृति में उसी रूप में व्याप्त है। अलग-अलग संस्कृतियों के मेल को काशी में बखूबी देखा जा सकता है। वर्तमान समय में अति प्राचीन और समृद्ध मानी जाने वाली काशी की सांस्कृतिक परंपरा को विदेशी पर्यटकों और आगंतुकों ने खूब प्रभावित किया है। इस परिवर्तन को मैं सकारात्मक और नकारात्मक दोनों रूपों में देखता हूँ। यद्यपि 'काशी का अस्सी' में विदेशी संस्कृति के प्रभाव के नकारात्मक पक्ष को ही उजागर किया गया है। किन्तु यह विचारणीय है कि समय के अनुरूप यदि हम विदेशी भाषा से ज्ञानार्जन

नहीं करते या विदेशी संस्कृति के विकसनशील तत्वों को ग्रहण नहीं करते हैं तो निश्चित रूप से विकास की गति मंद पड़ जाएगी। भले ही सारे तत्व संस्कृति के विकास में सहायक न हों किंतु आज के आधुनिक युग में इसे पूरी तरह से नकारा भी नहीं जा सकता है।

'काशी' के संदर्भ में एक बात बड़े स्पष्ट रूप से कही जा सकती है कि यह शहर प्राचीन समय से ही कीनाराम जैसे फक्कड़ औघड़ संतों और अलमस्त फक्कड़ कबीर जैसे विचारकों का गढ़ रहा है। तात्पर्य यह कि मस्ती और फकीराना अंदाज यहाँ की जीवन शैली का अभिन्न हिस्सा रहा है। लेकिन वर्तमान समय में तेजी से बदल रहे जीवन संदर्भों और पूँजीवाद, उपभोक्तावाद की मार से काशी शहर भी अछूता नहीं रह गया है। यही कारण है कि यहाँ के सहज सांस्कृतिक परिवेश और सरल जीवन शैली पर भी ग्रहण लगना प्रारम्भ हो गया है।

'मिथक' के संदर्भ में चूँकि यह मान्यता रही है कि इन्हें बिना किसी तर्क के स्वीकार किया जाता है। काशी के संदर्भ में भी अनेक मिथक प्रचलित हैं। जैसे 'शिव प्रलयकाल में भी इसे नहीं छोड़ते हैं', 'गंगा रात बारह बजे सो जाती है', 'चमत्कारिक तैलंग स्वामी का मिथक', 'मृत्यु के बाद मोक्ष का मिथक' आदि। यह ध्यान देने योग्य है कि काशी के संदर्भ में प्रचलित अधिकांश मिथक इस नगर की समाज और संस्कृति के उत्कृष्ट रूप को ही उजागर करते हैं। लेकिन वर्तमान समय में काशी के संदर्भ में प्रचलित मिथक धूमिल पड़ने लगे हैं। पढ़े-लिखे युवाओं का एक ऐसा वर्ग उभरकर सामने आने लगा है जो मिथकीय मान्यताओं को तर्क की कसौटी पर कसे बिना स्वीकार नहीं करना चाहता है। तात्पर्य यह कि वर्तमान समय में काशी संक्रमण के दौर से गुजर रही है; जहाँ एक तरफ मिथकीय मान्यताओं के वाहक लोगों की एक बड़ी तादात है तो वहीं दूसरी तरफ युवा पीढ़ी के अनेक तर्क और प्रश्न भी मौजूद हैं।

काशी को धर्म औए अध्यात्म की नगरी के रूप में जाना जाता है। धर्म के विभिन्न रूपों की चर्चा काशी केंद्रित उपन्यासों में दिखाई पड़ती है। 'नीला चाँद' उपन्यास में मंदिरों की स्थापत्य कला एवं मंदिरों में अपनाई जाने वाली पूजा पद्धति का विस्तृत वर्णन मिलता है। काशी में पूजा-पाठ से मनुष्य को असीम शक्ति और मुक्ति की प्राप्ति होती है। अपनी आध्यात्मिक शांति के लिए लोग गंगा और यमुना में पैसा चढ़ाते हैं, यह उनकी धार्मिक आस्था का प्रतीक है। प्रायः ऐसी मान्यता है कि काशी में मरने से सीधे स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं। धार्मिक पक्ष की परंपरा काशी में प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है। वैदिककालीन समय की काशी में किसी भी शुभ कार्य का आरंभ यज्ञ से किया जाता था। इस प्रकार काशी के संदर्भ में धर्म और आध्यात्मिकता का पक्ष हमेशा से अत्यंत सबल रहा है, जिसकी विषद चर्चा उपन्यासों में हुई है। निःसंदेह अधिकांश उपन्यासों में धर्म और अध्यात्म के उन्नत रूप का चित्रण ही अधिक हुआ है।

अध्ययन के दौरान कई बार काशी के उन्नत धार्मिक रूप के बरक्स धर्म के विकृत होते जा रहे रूप की तरफ भी बरबस ध्यान जाता है। तब यह प्रश्न खड़ा होता है कि कहीं 'अध्यात्म की नगरी' धर्म और अध्यात्म के व्यापार में तो तब्दील नहीं हो रही है ? जैसे 'गली आगे मुड़ती है' में मठों में स्त्रियों के शोषण का वर्णन, बक्कड़ गुरु के माध्यम से चरस-अफीम का व्यापार आदि के अनेक चित्र उपन्यासों में दिखाई देता है। इस प्रकार धर्म के नाम पर गैरकानूनी धंधों का वर्णन भी दिखाई पड़ता है। वस्तुतः धर्म के नाम पर पंडे-पुरोहित निरंतर लाभ उठाते हैं और इस तरह तमाम तरह के अनाचारों को प्रश्रय मिलता है।

धार्मिक नगरी काशी में स्त्रियों की वास्तविक स्थिति पर भी विचार किया जाना आवश्यक है। वर्तमान समय में भारत में स्त्रियों के अपहरण और बलात्कार की घटनाएं तेजी से बढ़ रही हैं। काशी भी इन दुखद घटनाओं से अछूता नहीं है। लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या धर्म केंद्रित यह नगर प्राचीन समय में स्त्रियों के लिए पूर्णतः सुरक्षित था ? शायद

नहीं। 'नीला चाँद' उपन्यास में धर्म की आड़ में बौद्ध वज्रयानियों द्वारा साधना एवं आध्यात्मिक सफलता के नाम पर स्त्रियों के अपहरण एवं बलात्कार की घटनाओं पर भी प्रकाश डाला गया है।

काशी में हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों को मानने वाले लोग निवास करते हैं। इसलिए अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने की होड़ भी देखी जा सकती है। धर्म और अध्यात्म के नाम पर दिखावा और सांप्रदायिक दंगे इस नगर की बुनावट में गुँथे नजर आते हैं। ऐसे में कहीं न कहीं आध्यात्मिक उत्कृष्टता की जड़े धूमिल नजर आने लगती हैं। मेरी समझ से काशी के सम्पूर्ण धार्मिक स्वरुप को समझने के लिए वहाँ व्याप्त धर्म के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों की सूक्ष्मता से पड़ताल किया जाना आवश्यक है। जिससे की तटस्थ भाव से इस धार्मिक नगर का समुचित मूल्यांकन किया जा सके।

काशी केन्द्रित उपन्यासों का एक विशिष्ट पहलू है वहाँ प्रयुक्त की जाने वाली लोकभाषा का सटीक और सशक्त प्रयोग। सभी उपन्यासों में पात्रों के बीच संवाद की भाषा 'भोजपुरी' है। किन्तु उसमें भी अलग-अलग वर्ग और समुदाय के अनुसार बोलियों और शब्दों का सम्मिश्रण किया गया है। चूँकि काशी में विभिन्न समुदाय के लोग रहते हैं इसलिए यहाँ की भाषा भोजपुरी होने के बावजूद इन अलग-अलग वर्ग के लोगों की शब्दावली को समझे बिना काशी की संस्कृति और समाज को नहीं समझा जा सकता है। जैसे- जब अब्दुल बिस्मिल्लाह बुनकर समाज का चित्रण करते हैं तब वे बुनकरों की शब्दावली का प्रयोग करने के साथ-साथ मुसलमानों द्वारा बोली जाने वाली उर्दू मिश्रित भोजपुरी के जरिए उस समाज को अभिव्यक्त करते हैं। इसी तरह विभिन्न भाषाओं जैसे- भोजपुरी, बंगला, गुजराती आदि के लोकगीतों की चर्चा भी उपन्यासों में की गई है। ये लोकगीत काशी की भाषा की विशिष्टता के परिचायक हैं। यद्यपि काशी भोजपुरी भाषा-भाषी शहर है इसके बावजूद अन्य बोलियों का मिश्रण होने के कारण ही यहाँ की बोली को

'काशिका' भी कहा जाता है। काशी की भाषा की एक प्रमुख विशिष्टता है, उसकी लयात्मकता और काव्यात्मकता। जिसके कारण यह भाषा व्यंग्यात्मक और चुटीले वाक्य विन्यास के लिए एकदम सटीक है। व्यंग्यात्मकता को और अधिक धारदार बनाने के लिए उपन्यासकारों ने अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों का भी प्रयोग किया है। महत्वपूर्ण बात यह है कि अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग भी भोजपुरी की टोन में किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है की काशी के लोगों की संवाद अदायगी का तरीका नितांत भिन्न है। जिसमें भोजपुरी अपनी लय-टोन और अर्थ गाम्भीर्य के साथ मौजूद है।

गालियों का अपना एक अलग समाजशास्त्र होता है। गालियों का प्रभाव मुख्यतः नकारात्मक ही होता है किन्तु काशी के सन्दर्भ में गालियाँ वहाँ की बोली की विशिष्ट पहचान हैं। लगभग सभी उपन्यास 'काशी में गाली की संस्कृति' को बखूबी उजागर करते हैं। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' और 'काशी का अस्सी' की भाषा में गालियों का प्रयोग बहुतायत मात्रा में किया गया है। यह ध्यान देने योग्य है कि गालियाँ काशी की जीवन शैली को अभिव्यक्त करती हैं। गालियाँ वहाँ संबंधों को तोड़ने का नहीं बल्कि जोड़ने का काम करती हैं। अत: काशी की भाषा में गालियों के प्रयोग को अश्लीलता अथवा नकारात्मकता से जोड़कर नहीं अपितु वहाँ की जीवन शैली और भाषा अदायगी से जोड़कर देखा जाना चाहिए। तभी सही मायनों में वहाँ के समाज और संस्कृति को समझा जा सकता है। वस्तुत: किसी शहर विशेष अथवा समाज विशेष की विशिष्ट भाषा-शैली को जाने-समझे बिना उस समाज के आंतरिक और गूढ़ तत्वों को नहीं समझा जा सकता है। काशी के सन्दर्भ में भी यही बात लागू होती है। वास्तव में विभिन्न भाषा-भाषी समाज की मिश्रित संस्कृति होने के कारण काशी में भोजपुरी के साथ-साथ एक तरफ जहाँ संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग करने वाले लोग मिलेंगे वहीं दूसरी तरफ बिलकुल देशज भाषा में मुहावरे, लोकोक्ति और सुक्ति वाक्यों का प्रयोग करने वाले भी। ऐसे में काशी के

समाज और संस्कृति को वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में और सटीक रूप में समझने के लिए वहाँ के विशिष्ट भाषाई प्रयोग को समझा जाना आवश्यक है।

नगरीकरण की प्रक्रिया के बीच काशी शहर तमाम विशेषताओं के साथ एक नया रूप लेकर सामने आ रहा है। आज समाज बदल रहा है, इसके साथ ही पूरे देश का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक ढाँचा भी बदल रहा है। काशी इससे अछूता कैसे रह सकता है। काशी का प्राचीन रूप आज उसी तरह नहीं रह गया है जैसा पहले रहा होगा। काशी आधुनिकता और नगरीकरण की प्रक्रिया के बीच कुछ पुराने मूल्यों को छोड़कर नये मूल्यों को ग्रहण करती जा रही है। अतः प्राचीन काशी के सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य और आधुनिक काशी के सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य के बीच एक नये प्रकार का समाज और संस्कृति जन्म ले रही है। भूमण्डलीकरण, औद्योगीकरण, बाजारवाद के कारण दिन-प्रतिदिन परिवर्तित होते काशी के समाज और संस्कृति को रेखांकित करना आवश्यक है।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

I. आधार-ग्रंथ

क्र.सं.	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	संस्करण
1.	अपना मोर्चा	काशीनाथ सिंह	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 2006
2.	काशी का अस्सी	काशीनाथ सिंह	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 2006, चौथी आवृत्ति 2011
3.	गली आगे मुड़ती है	शिवप्रसाद सिंह	राधाकृष्ण प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली	पहला सं. 2008
4.	गुलेनार	जैनेन्द्र किशोर	हितचिंतक प्रेस, काशी	1907
5.	झीनी झीनी बीनी चदरिया	अब्दुल बिस्मिल्लाह	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	दूसरा सं. 1990, चौथी आवृत्ति 2008
6.	नीला चाँद	शिवप्रसाद सिंह	वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली	सं. 2007
7.	पक्का महाल	अजय मिश्र	वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली	सं. 2004
8.	बहती गंगा	शिवप्रसाद मिश्र 'रूद्र'	राधाकृष्ण प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली	पहला सं. 1999, पहली आवृत्ति 2006
9.	वैश्वानर	शिवप्रसाद सिंह	वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली	प्र. सं. 2004

II. सहायक ग्रंथ-सूची

क्र.सं.	पुस्तक	लेखक/संपादक	प्रकाशक	संस्करण
1.	आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज	बच्चन सिंह	वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली	सं. 2004

	शब्द			
2.	आधुनिक हिंदी उपन्यास	भीष्म साहनी, रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद निदारिया	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 1980
3.	आधुनिक हिंदी उपन्यासों में वस्तु-विन्यास	डॉ. सरोजिनी त्रिपाठी	ग्रंथम् प्रकाशन, कानपुर	सं. 1973
4.	उपन्यास का काव्यशास्त्र	डॉ. बच्चन सिंह	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 2008
5.	उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा	डॉ. परमानंद श्रीवास्तव	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली	प्र. सं. 1976
6.	उपन्यास की शर्त	जगदीश नारायण श्रीवास्तव	किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 1993
7.	कथाकार : शिवप्रसाद सिंह	कामेश्वर प्रसाद सिंह	संजय बुक सेन्टर, वाराणसी	प्र. सं. 1985
8.	कला और संस्कृति	वासुदेवशरण अग्रवाल	साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद	तृतीय सं. 2003
9.	काशी का इतिहास	डॉ. मोतीचंद	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी	चतुर्थ सं. 2010
10.	काशी की पांडित्य-परंपरा	आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी	प्र. सं. 1983
11.	काशी नगरी एक : रूप अनेक	सं. ओमप्रकाश केजरीवाल	प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली	सं. 2010
12.	कुछ विचार	प्रेमचंद	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद	सं. 1982
13.	कंकाल	जयशंकर प्रसाद	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पाँचवां सं. 1990, चौथी आवृत्ति 2006

14.	चेतसिंह और काशी का विद्रोह	संपूर्णानंद वर्मा	पिलग्रिम्स पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी	प्र. सं. 1909
15.	देखो अपनी काशी लोगो	अजय मिश्र	पिलग्रिम्स पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी	प्र. सं. 2009
16.	दोज़ख़	सैयद जैग़म इमाम	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 2009
17.	धर्मसत्ता और प्रतिरोध की संस्कृति	राजाराम भादू	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 2003
18.	प्रेमचंद-पूर्व के हिंदी उपन्यास	ज्ञानचंद जैन	आर्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली	प्र. सं. 1998
19.	प्राचीन भारत में धर्म के सामाजिक आधार	रमेंद्र नाथ नंदी अनु. नरेंद्र व्यास	ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली	प्र. हिंदी सं. 2008
20.	प्राचीन भारत : सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल	द्विजेन्द्र नारायण झा	ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली	पहला सं. 2000, पुनर्मुद्रण 2003
21.	बना रहे बनारस	विश्वनाथ मुखर्जी	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी	तृतीय सं. 2009
22.	'बहती गंगा' में काशी	वंदना चौबे	नेहा प्रकाशन, दिल्ली	सं. 2009
23.	भारत की राष्ट्रीय संस्कृति	एस. आबिद हुसैन	नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली	पहला सं. 1987, ग्यारहवीं आवृत्ति 2009
24.	भारती का सपूत	रांगेय राघव	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली	सं. 2009
25.	भारतीय धर्म और संस्कृति	रामजी उपाध्याय	लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद	सं. 2009

26.	भारतीय मिथक कोश	डॉ. उषा पुरी विद्यावाचस्पति	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली	चौथा सं. 2004
27.	भारतीय संस्कृति और कला	वाचस्पति गैरोला	उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ	प्र. सं. 1973
28.	भोग-मोक्ष समभाव- काशी का सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरुप	वैद्यनाथ सरस्वती	डी. के. प्रिंटवर्ल्ड, नई दिल्ली	प्र. सं. 2000
29.	मणिकर्णिका	डॉ. तुलसीराम	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 2014
30.	मध्यकालीन भारत भाग-1 (750-1540)	सं. हरिश्चंद्र वर्मा	हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली	तृतीय संशोधित एवं परिवर्धित सं. 1997, पुनर्मुद्रण 2000
31.	मध्यकालीन भारत : राजनीति, समाज और संस्कृति	सतीश चन्द्र अनु. नरेश 'नदीम'	ओरियंट ब्लैक स्वान प्रा. लि., नई दिल्ली	प्र. सं. 2009, पुनर्मुद्रण 2010
32.	मानस का हंस	अमृतलाल नागर	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली	सं. 2007
33.	मिथक : एक अनुशीलन	मालनी सिंह	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	प्र. सं. 1988
34.	मैं मुहब्बत	सैयद जैग़म इमाम	अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद	पहला सं. 2012
35.	रत्ना की बात	रांगेय राघव	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली	सं. 2009
36.	रेहन पर रग्घू	काशीनाथ सिंह	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 2010
37.	लोई का ताना	रांगेय राघव	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली	सं. 2007

38.	वाराणसी वैभव	पं. कुबेरनाथ सुकुल	बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना	द्वितीय सं. 2008
39.	वैतरणी से वैश्वानर तक की यात्रा	आनंद कुमार पाण्डेय	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी	प्र. सं. 2006
40.	शिवप्रसाद सिंह	सं. डॉ. अरुणेश नीरन	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली	प्र. सं. 1994
41.	शिवप्रसाद सिंह : स्रष्टा और सृष्टि	सं. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 1995
42.	स्कन्दपुराण	-	गीताप्रेस, गोरखपुर	संवत् 2070
43.	समाज-दर्शन की रूपरेखा	जे. एस. मेकेंजी, अनु. डॉ. अजित कुमार सिन्हा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 1962, पुनरावृत्ति 2009
44.	साहित्य का नेपथ्य	भारत भारद्वाज	प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली	प्र. सं. 2006
45.	संस्कृति उद्योग	टी. डब्ल्यू एडर्नो	ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली	प्र. हिंदी सं. 2006
46.	संस्कृति क्या है	विष्णु प्रभाकर	सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली	सं. 2012
47.	संस्कृति, समाज और साहित्य	सं. डॉ. रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ, डॉ. उषा गोयल	रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर	प्र. सं. 1997
48.	हिंदी उपन्यास एक अंतर्यात्रा	रामदरश मिश्र	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	तीसरा सं. 2001
49.	हिंदी उपन्यास का इतिहास	गोपाल राय	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला पाठ्य पुस्तक सं. 2005, पहली आवृत्ति 2009
50.	हिंदी का गद्य	डॉ. रामचन्द्र तिवारी	विश्वविद्यालय	षष्ठम् सं.

	साहित्य		प्रकाशन, वाराणसी	2007
51.	हिन्दू धर्म कोश	डॉ. राजबली पाण्डेय	उ. प्र. हिंदी संस्थान, लखनऊ	प्र. सं. 1978

III. सहायक ग्रन्थ-सूची (अंग्रेजी)

1.	Banaras City Of Light	Diana L. Eck	Routledge & Kegan Paul, London	1983
2.	Culture and Power in Banaras	Sandria B. Freitag	Oxford University Press, New York	1989
3.	Death in Banaras	Jonathan P. Parry	Cambridage University Press, New York	1994
4.	Kashi : Myth and Reality of a Classical Cultural Tradition	Baidyanath Saraswati	Indian Institute of Advanced Study, Simla	1975
5.	Living Banaras	Bradley R. Hertel, Cynthia Ann Humes	State University of New York Press, Albany	1998
6.	The Artisans of Banaras	Nita Kumar	Orient Longman Limited, Hyderabad	1995
7.	The Nationalization of Hindu Tradition	Vashudha Dalmia	Oxford University Press, New Delhi	1997

IV. पत्र-पत्रिकाएँ

1. आजकल, काशी विशेषांक, फरवरी, 2006, दिल्ली
2. आलोचना, अक्टूबर-दिसंबर, 2001, नई दिल्ली
3. आलोचना, जनवरी-मार्च, 2002, नई दिल्ली
4. कथाक्रम, जनवरी-मार्च, 2003, लखनऊ
5. कथादेश, नवम्बर, 2003, नई दिल्ली
6. कल्पना, काशी अंक, 2005, हैदराबाद
7. कहन, अगस्त, 2000, इलाहाबाद
8. जनसत्ता, 26 मई, 2002, दिल्ली, कोलकाता
9. तद्भव, अक्टूबर-दिसंबर, 2002, लखनऊ
10. परिकथा, मार्च-अप्रैल, 2006, नई दिल्ली
11. प्रज्ञा, काशी गौरव विशेषांक-II, 2007-2008, वाराणसी
12. बनास, शिशिर, 2009, उदयपुर
13. वागर्थ, जून, 2002, कोलकाता
14. समकालीन भारतीय साहित्य, अक्टूबर-दिसंबर, 1987, नई दिल्ली
15. सहारा समय, 28 जनवरी, 2006
16. संवाद, शिवप्रसाद मिश्र 'रूद्र' काशिकेय विशेषांक, नवम्बर 2011-अक्टूबर 2012, वाराणसी
17. सामाजिकी-4, 1969-70, वाराणसी
18. साक्षात्कार, मई, 2002, भोपाल
19. सोच विचार, काशी अंक, जुलाई 2010, वाराणसी
20. सोच विचार, काशी अंक-II, जुलाई 2011, वाराणसी

V. वेब सामग्री

1. www.kashinathsingh.com
2. www.kashikatha.com